

है कि धुलावतार कथामें जिन कौण्डकुण्डपुत्रनिवासी पद्मनंदिका उल्लेख है और जिन्होंने कि पवत जमपवतकी वृत्ति का कुछ अंश लिखा है, वे ही कुन्दकुन्दाचार्य हैं। पर यह बात भी हमारी समझमें नहीं आती है। यदि उन्होंने ऐसी कोई वृत्ति लिखी होती तो उनके समवसार, प्रवचनसार, पंचास्तिष्य आदि प्रसिद्ध ग्रन्थोंमें कहीं न कहीं उगका उल्लेख या नाम मिलता; पर ऐसा नहीं है। श्री-उमास्वामीसे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकी अधिक प्राचीनता का दूसरा कारण यह है कि भारतकी समस्त शास्त्रसमाजेके आरंभमें मंगलाचरणके रूपमें कहा जाता है—

मंगलं भगवान् वीरों, मंगलं मीतमो मणी ।

मंगलं कुन्दकुन्दाचार्यो, जैनधर्मोस्तु मंगलं ॥

यदि उमास्वामी प्राचीन होते तो पहले उनका ही नाम लिखा जाता; पर ऐसा न करके श्रीउमास्वामिरत्न सत्कार्यसूत्रको पढ़ने हुए भी यह मंगलाचरण पढ़ा जाता है। अतः हमारे विभाषके अनुसार स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य का समय विक्रम सं० ४९ ही है। ये आचार्य बड़े प्राचीन, आध्यात्मिक, आध्यात्मिक, वैत-रणी और जैनधर्मके मर्मों हो गये हैं।

अभीष्ट श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके पंचास्तिष्य, प्रवचनसार और समवसार ये तीन ही रत्न बहुत प्रसिद्ध हैं। खेदकी बात है कि इनकी समान बलि कई अंशोंमें इनमें भी बहुत जो नियमसार-रत्न है, उसकी प्रसिद्धि यहाँ तक कम है कि कोई-कोई तो उगका नाम भी नहीं जानते हैं।

अन्यथा बार बार हुए मैने बारम्बारके बार महीने जयपुरमें बिताये थे। वहाँ गे.पेंडि दिगम्बरजैनमन्दिरमें ठेठ विजयचन्द्रजीने अष्टाद्विषाके मन दिये थे। उनके लाजस्वमे उन्होंने मुझे कोई प्रश्न भेद देना कहा था। मैने उग मंदिरके अंदरमें इस नियमसार प्रसिद्ध दर्शन दिये थे और उगका अध्ययन करके बहुत स्तन बढ़ाया था। अनन्तर मैने उग सेठजीके वहाँ प्रसंग मोंगा और सेठजीने उगे दे दिया। जयपुरमें विजयचन्द्रजी और आध्यात्मिक रत्नके बारे में है, उन्होंने मुझे यह प्रश्न पूछा और इनके हिन्दी अनुवाद कर देनेके लिये मुझे कई बार अनुरोध किया। अभीष्ट इस प्रश्नका भी जवाबी नहीं हुई है, अनन्तर मैने उग सेठजीके अनुरोध तथा इस प्रसंगके कुछलिख अनुगमना आस्थापन हिन्दी

भाषा-भाषियोंको करानेके हेतु इसकी संस्कृतटीकाके आधारसे हिन्दीमें टीका लिखनेका संकल्प किया और यह कार्य मिति माघ वदी ८ वीर सं. २४३७ से प्रारंभ करके वीर सं० २४३८ दीपमालिकाके दिन समाप्त किया ।

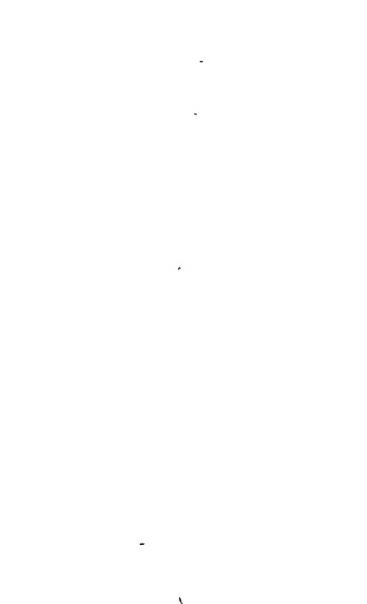
इस ग्रंथके संस्कृतटीकाकार निर्मन्व मुनि श्रीपद्मप्रभ मलधारी देव हैं । इनका समय निश्चित नहीं है । अनुमानसे ये समयसारके टीकाकार तथा श्रीपुरगार्धमिदधुपायके रचयिता श्रीअमृतचन्द्रगुरिके पीछे हुए हैं । क्योंकि इन्होंने जगह जगहपर समयसारके कलशोंका उल्लेख किया है । ये टीकाकार आप्यात्मिक रसके बड़े प्रेमी थे । इन्होंने अपनी कृतिमें कई नवीन ग्रन्थोंके श्लोक ' उक्तं च ' में दिये हैं । ये ग्रन्थ अभीनक प्रकाशित नहीं हुए हैं । उनके नाम ये हैं—मार्गप्रकाश, अमृतसीति, एकत्वसप्तति, सत्त्वानुशासन और धृतबंधु आदि ।

इस पुस्तकमें पहले मूल ग्राह्यत गाथाका सामान्य अर्थ, और फिर संस्कृत-टीकाके अनुसार विशेष अर्थ लिखा गया है । जिस जगह विषयको अधिक स्पष्ट करनेके लिये अपनी ओरसे कुछ लिखा गया है वही ' भाषार्थ ' शब्द लिख दिया है । संस्कृतटीकाकारने प्रत्येक गाथाके अंतमें बहुत सुन्दर श्लोक लिखे हैं; उन श्लोकोंका अर्थ भी ' टीकाकार कहते हैं ' ऐसा लिखकर दिया गया है ।

मैं संस्कृत व्याकरण, न्याय, धर्मशास्त्रोंकी भी मुझे पूर्ण जानकारी नहीं है, ऐसी दशामें मेरा यह ( अनुवाद करनेका ) साहस बाल्यमें हास्यास्पद है । परन्तु इस ग्रंथके विषयमें मेरे मनमें जो अगाध भक्ति उत्पन्न हुई है उसकी प्रेरणासे मुझे इस कार्यमें बलपूर्वक हाथ बालना पडा । संभव है कि मेरी अज्ञानता या असावधानीसे कहीं कहीं भूलें रह गई हों, अतः मैं विद्वज्जनोंसे समा-प्रार्थना करता हुआ आशा करता हूँ कि वे दयापूर्वक मुझे भूलें सूचित करेंगे जिससे दूसरे संस्करणमें वे भूलें या त्रुटियाँ न रहने पावें ।

बम्बई  
पूषवदी १५ वीर सं० २४४२ }

दीक्षितलमसाद ब्रह्मचारी ।



# विषय-सूची ।



## मंगलाचरण.

विषय.	पृष्ठ.
जीवाधिकार । १ ।	
मंगलाचरण और मंगलबननेकी प्रतिज्ञा १	
मोक्षमार्ग और उसके फलका कथन ४	
नियम शब्दका अर्थ मोक्षमार्ग है ७	
स्ववहार सम्मगदर्शनका स्वरूप ७	
अठारह दोषोंके नाम ... ९	
परमात्माका स्वरूप ... १४	
परमात्मका स्वरूप ... १५	
सहस्रद्रव्योंके नाम ... १७	
श्रीवका लक्षण ... १८	
उपयोगके भेदोंका कथन ... १९	
स्वभाव विभाव पर्यायोंका कथन २६	
धारणतियोंका कथन ... २८	
कर्ता भोक्तापनेका कथन ... ३०	
दोनों नवोंकी सफलता ... ३२	
अजीवाधिकार । २ ।	
पुनरुद्भवके भेदोंका कथन ... ३४	
परमाणुका लक्षण ... ३७	
स्वभाव विभावपर्यायका स्वरूप ३९	
पुनरुद्भवका संक्षेपरूप ... ४०	
धर्मादि द्रव्योंका स्वरूप ... ४१	
स्ववहार कालके भेद ... ४२	
मुख्यकालका कथन ... ४४	

विषय.	पृष्ठ.
अस्तिकायका कथन ... ४६	
द्रव्योंकी प्रदेशसंख्या ... ४७	
अजीवद्रव्यका संक्षेप ... ४८	
शुद्धभावाधिकार । ३ ।	
त्यागनेयोग्य और ग्रहणकरने योग्य तत्त्वों- का कथन ... ४९	
संसार और मुक्तजीवोंमें समानपणा ६१	
दोनों नवोंकी सफलता ... ६५	
रत्नप्रदका स्वरूप ... ६७	
स्ववहारचरित्राधिकार । ४ ।	
अदिसाधनका स्वरूप ... ७०	
सत्यव्रतका स्वरूप ... ७२	
अचौर्यव्रतका स्वरूप ... ७२	
ब्रह्मचर्यव्रतका स्वरूप ... ७३	
पारमहत्यागव्रतका कथन ... ७४	
ईश्याममिति का लक्षण ... ७५	
भाषासमिति का स्वरूप ... ७६	
एरण्यसमिति का स्वरूप ... ७८	
आदाननिक्षेपसमिति का स्वरूप ७९	
प्रतिष्ठापनासमिति का लक्षण ... ८१	
मनोगुणसिद्धादि का स्वरूप ... ८२	
अरुह्य आदि पांच परमेशियोंका स्वरूप वर्णन ... ८५	





विषय.	पृष्ठ.	विषय.	पृष्ठ..
केवलज्ञानका स्वरूप ...	२००	कारण परमात्माका स्वरूप ...	२१०
गुण गुणीमें अभेद है ...	२०५	मोक्षके होनेके हेतु ...	२११
वेपथुके इच्छाके न होनेसे बंधका		निन्दभगवानके स्वभावगुणोंका कथन	
अभाव ...	२०५	...	२१६
ज्ञानीके बंधका अभाव ...	२०६	सिद्धेश्वरके आगे जीव पुद्गलके न जा- नेका हेतु ...	२१७
बंधके न होनेमें हेतु ...	२०८	प्रपञ्चकारकी प्रार्थना ...	२१८
शुद्धजीवको स्वाभाविक गति होनेका		भक्त्यजीवको शिक्षा ...	२१९
कथन ...	२०९	शास्त्रके रचनेका प्रयोजन ...	२२०

इति विषयसूची ।

विषय.	पृ.	विषय.	पृ.
निश्चयप्रतिक्रियाधिकार । ५ ।		समयभाषके विषय प्रतिक्रिया वि-	
सुद आत्माके कर्मात्मके अभाव १३		कृत्य है. ... ११९	
प्रतिक्रियाका स्वरूप ... ११		गामाधिकके योग्यताका लक्षण ११३	
ध्यानको प्रयोग करना योग्य है... १०८		परमप्रतिक्रियाधिकार । १० ।	
स्वप्नसार प्रतिक्रिया होनेका उपाय १०९		परमप्रतिक्रियाके अधिकारिका स्वरूप ११०	
निश्चयप्रतिक्रियाधिकार । ६ ।		निश्चयप्रतिक्रिया स्वरूप ... १११	
निश्चयप्रतिक्रियाका स्वरूप ... १११		नितारमात्र-प्रतिक्रिया स्वरूप ११२	
अपने सुदमात्र ही ध्यान कर-		निश्चय योग्यप्रतिक्रिया स्वरूप ... ११३	
मेका उपदेश ... ११२		निश्चयप्रतिक्रियाधिकार । ११ ।	
सब विचार भाषाके त्यागनेकी		निश्चय आत्मिकताका लक्षण ... ११८	
विधि ... ११४		आत्मिकता स्वरूप ... ११९	
आत्माके दोष सुदनेका उपाय १२०		परमप्रतिक्रिया स्वरूप ... १२१	
निश्चय प्रत्यात्मानके योग्य		निश्चय आत्मिकताकी प्रतिक्रिया उपाय १२८	
जीवनका स्वरूप ... १२७		आत्मिकताके रहितको बहिष्कार होनेका	
निश्चयप्रतिक्रियाधिकार । ७ ।		कथन ... १२८	
निश्चय आलोचनाका स्वरूप ... १२७		बाह्य अभ्यंतर बचनके त्यागका	
आलोचनाके भेद ... १२७		उपदेश ... १२९	
उन भेदोंका स्वरूप ... १२९		सुमध्यान्त्रको उपादेयपना ... १३०	
निश्चयप्रायश्चित्तधिकार । ८ ।		मौनप्रतिक्रिया उत्तमताका कथन ... १३४	
निश्चय प्रायश्चित्तका स्वरूप ... १४७		बचनविवादके त्यागका उपदेश... १३५	
क्रोधादि कषायेकी जीतनेका		आत्मिकताके कर्मका अंतिमकठ ... १३७	
उपाय ... १२९		सुदोषप्रतिक्रियाधिकार । १२ ।	
मृत तपकी प्रायश्चित्तस्वरूप		शरीरजीवके स्वरूप प्रकाशकपना १३२	
होनेका कथन ... १४२		केवलीके ज्ञान दर्शनदोनों एकसाथ होते	
निश्चयकायोत्सर्गका स्वरूप ... १४६		हैं उसका दृष्टांत सहित कथन... १९३	
परमसमाधि-अधिकार । ९ ।		स्वप्नप्रकाशपनेमें विशेषका विचार १९३	
निश्चय परमसमाधिका स्वरूप... १४८			

विषय.	पृष्ठ.	विषय.	पृष्ठ..
केवलज्ञानका स्वरूप	... २००	कारण परमात्माका स्वरूप	... २१०
गुण गुणीमें अभेद है	... २०५	मोक्षके होनेके हेतु	... २१३
केवलीके इच्छाके न होनेसे बंधका		सिद्धभगवानके स्वभावगुणोंका कथन	... २१६
अभाव	... २०५	सिद्धक्षेत्रके आगे जीव पुद्गलके न जा- नेका हेतु	... २१७
हानीके बंधका अभाव	... २०६	प्रियकारकी प्रार्थना	... २१८
बंधके न होनेमें हेतु	... २०८	भण्यजीवकी शिक्षा	... २१९
सुद्धजीवकी स्वाभाविक गति होनेका		शास्त्रके रचनेका प्रयोजन	... २२०
कथन	... २०९		

इति विषयसूची ।



# गाथा-सूची ।

( अकारादिक्रमसे )



गाथा	पृ० सं० गा० सं०	पृ० सं० गा० सं०
अ		ई
अक्षरमन्त्रार्ण	... ७१५	ईशानावेण पुणो ... २१९१८६
अक्षरं धृतं धृतं	... ३५१२१	ईशानुषं वयं ... २०७१७४
अक्षरं धृतं धृतं दु	... ३४१२०	उ
अक्षरं धृतं धृतं जो	... ३९१२८	उच्छिष्टो जो बोहो ... १४१११६
अक्षरं धृतं धृतं	... ३७१२६	उत्तमार्थं आरा ... १०७१९२
अक्षरं धृतं धृतं	... १७९११५०	उत्तमार्थं परिवर्त्ता ... १९१८६
अक्षरं धृतं धृतं	... १४४१११९	उच्छादित्रिणवर्दिता ... १६५१४०
अक्षरं धृतं धृतं	... १९९११६६	ए
अक्षरं धृतं धृतं	... १९९११६६	एको मे साक्षदो अप्या ... १९९११०९
अक्षरं धृतं धृतं	... १९९११६६	एगो य मरदि जीवो ... १९८११०१
अक्षरं धृतं धृतं	... २०५११७१	एदे एष्ट्वाणि य ... ४६१३४
अक्षरं धृतं धृतं	... ६९१४६	एदे सखे भावा ... ६५१४९
अक्षरं धृतं धृतं	... २११११७८	एष्ट्वाणि य ... ३८१२७
अक्षरं धृतं धृतं	... ६४१४८	एष्ट्वाणि य ... २११७६
आ		एष्ट्वाणि य ... २५१८७
आक्षरं धृतं धृतं	... २०९११७६	एष्ट्वाणि य ... १२७११०६
आक्षरं धृतं धृतं	... ११६११००	क
आक्षरं धृतं धृतं	... १७१२४	कक्ष भोता आरा ... ३०११८
आक्षरं धृतं धृतं	... १२८११०८	कक्षकारिदापुमोदण ... ७८१६३
आक्षरं धृतं धृतं	... १७६११४७	कक्षमार्थं परिवर्त्ता ... ११११११०
आक्षरं धृतं धृतं	... १७७११४८	कक्षमार्थं अप्या ... १११११११
आक्षरं धृतं धृतं	... १७८११४९	

भाषा	पृ० सं० गा० सं०	पृ० सं० गा० सं०
आयकिरियाणियत्ती ...	८५१७०	जाद अक्षदि काहुं जे ... १८३१५४
कायाइपरएवे ...	१४६१२१	जस्स रागो दु दोसो दु... १५५१२८
काहुत्समोहसण्णा ...	८२१६६	जस्स सण्णिहिदो अम्मा... १५३१२७
किं काहदि वणवासो ...	१५०१२४	जाइजरमरणएहियं ... २१०११७७
किं बहुणा भणिण्ण दु... १४२११७		जाणदि पस्सदि सव्वं ... १८९११९
कुलजोणिजीवमग्गाण ...	७०१५६	जाणंतो पस्संतो ... २०५११७२
केवलमिदियएहियं ...	१९१११	आ रायादिणियत्ती ... ८४१६९
केवलणाणसहावो ...	११२१९६	आरिसया सिद्धया ... ६३१४७
कोहादिसगम्मावं ...	१३८११४	त्रिणकहियपरममुत्ते ... १८४११५
कोहं खमया मार्गं ...	१३९११५	जीवा योगलकाया ... १७१९
ग		जीवो सबओम्ममओ ... १८१०
गमणणिमित्तं धम्म ...	४११३०	जीवा दु पुग्गलाशो ... ४४१३२
गामे वा नयरे वा ...	७२१५८	जीवादीदव्वाणं ... ४५१३३
घ		जीवादि बहिससव्वं ... ४९१३८
घणधाइकम्मएहिपा ...	८५१७१	जीवाण पुग्गलाणं ... २१७११८४
च		जुगवं वद्ध गाणं ... १९१११६०
चउगइभवसंभमणं ...	५५१४२	ओ पस्सदि अप्पाणं ... १२९११०९
चउदहभेदा भणिदा ...	२८११७	ओ समो सव्वमूदेमु ... १५२११२६
चक्क अचक्क ओही ...	२४११४	ओ दु अइं च इइं च ... १५५११२९
चत्ता अणुत्तिमावं ...	१०२१८८	ओ दु पुण्णं च पावं च... ११६११३०
चलमल्लिगमगाउत्तं ...	६७१५२	ओ दु इत्थं रं सोणं ... १५७११११
छ		ओ दुगंठा मयं वेदं ... १५७११२२
छायाववमादीया ...	३५१२३	ओ दु धम्मं च मुक्कं च ... १५८११३३
छुट्टव्वमीदोसो ...	९१६	ओ ण इहदि अण्णवमो ... १६८११४१
ज		ओ कएदि संजदो सत्तु ... १७१११४४
जं किंवि मे दुचरितं ...	१२०११०३	ओ धम्ममुक्कमाणं ... १८०११५३

भाषा	पृ० सं० गा० सं०	पृ० सं गा० सं०	
इ			
ज्ञानगिरीशो साहू ...	१०८१९३	नियमं नियमस्तु कलं ... २१८१९८५	
उ			
ठाणगिरीशविहार ...	२०८१९४५	नियमावणाभिहितं ... २१०१९८०	
ण			
शङ्करम्भवा ...	८०७७२	निष्ठाणमेव सिद्धा ... २१७१९८३	
शंताणेतमवेण स ...	१४३११९८	निस्सेसदोसरद्विजो ... १७१७	
शमिकण जिने कीरं ...	३११	नोकम्मकम्मरद्विजं ... १२७१९०७	
शरणारयतिरियमुत्त ...	२६११५	नो सङ्गभाषणा ... ५२१४१	
श वसो अवसो अवस ...	१६९११४२	नो शल सहावजाणा ... ५०१३६	
श वि दुक्खं नवि सुक्खं ...	२१३११७९	नो ठिदिबध्दणा ... ५११४०	
श वि हृदिय उवसणा ...	२१४१२८०	त	
श वि कम्मं लोकम्मं ...	२१५११८१	तस्स मुहगाहवयणं ... १५१८	
शय्या जीवा शय्या ...	१८५११५६	तह दंसणजवओगो ... २३११३	
शय्यं परापयासं ...	१९१११६१	थ	
शय्यं प, न हवदि ...	१९४११६२	म,राजधोरमत्तक ... ८९१६७	
शय्यं प, शय्या पर ...	१९७११६४	व	
शय्यं शय्यापयासं ...	१९८११६९	ददुण इगिहव्यं ... ७३१५९	
शय्यं शय्यासर्वं ...	२०२११७०	दव्वगुणपञ्चयार्ण ... १७३११४५	
शय्यं शय्यमावो ...	२२१७७	दव्वत्थिएण जीवा ... ३२११९	
शय्यं मज्झणानो ...	२३१७८	ध	
शय्यं बाल्ये बुद्धो ...	२३१७९	भाउवठकस्तु पुणो ... ३६१२५	
शय्यं शयो दोसो ...	२३१८०	प	
शय्यं कोहो माणो ...	२३१८१	पंचाचारसमग्गा ... ८९१७३	
शिकसायस्य दातस्त ...	१९३११७५	पट्टिमणणामपेये ... १०९१९४	
शिरगो शीरागो ...	६११४४	पट्टिमणणपट्टि किरियं ... १८३११५९	
शिरुओ शिरुओ ...	५७१६३	पट्टिदिदि अणुभाग ... ११५१९८	
शिरुमण य अ कळं ...	५१३	परिक्कत्ता परमाव ... १७४११४६	
शिरुमं भोक्कतज्जायो ...	७१४	परिणामपुञ्जवयणं ... २०६११७३	
शिरुमं नवि मुक्कह ...	११३११७७	पामुकभूमिपदेसे ... ८०१६५	
		पामुगमभोग दिवा ... ७५१६१	
		पुग्गलदव्वं मोत्तं ... ४८१३७	
		पुग्गलपराभाषा ... ६६१६०	



गाथा	पृ० सं० गा० सं०		पृ० सं० गा० सं०
पुष्पुत्तसदसद्वर्ष	... २०११६८	सोयायात्रे ताव	... ४७१३६
पेपुग्गहासककस	... ७६१६२	सोयालोय जाणइ	... २०२११६९
पोगलद्वर्ष उच्चइ	... ४०१२९		
पोपद्वर्षवलाई	... ७९१६४		
बैधणछिदणमारण	... ८३१६८		
म			
भूयव्वदमादीया	... ३५१०२		
म			
मग्गो मग्गफट्ठंति म	... ४१२	वद्यदि जो सो समणो	... १७०११४३
मदमाणमायलोहवि	... १३५१११२	वणरयर्गवक्कामा	... ६३१४५
ममत्ति परिवच्चांमि	... ११५१९९	वदममिदिसीत्तसंजम	... १३७१११३
माणुस्सा दुवियप्पा	... २८११६	वयणमयं पडिक्कमं	... १८२११५३
मिच्छत्ताहुदिमावा	... १०४१९०	वयणोच्चारणकिरिये	... १४८११२३
मिच्छादसण्णण	... १०६१९१	ववहारणम्मचरिते	... ६८१५१
मुत्तममुत्तं दव्वं	... २००११६७	वात्ताविम्ममुक्का	... ९०१४५
मोक्खगवपुरिसाणं	... १६१११३५	विज्जदि केवसण्णयं	... २९६११८२
मोक्खगइ अप्पाणं	... १६२११३६	विट्ठी सव्वमावजे	... १५१११२५
मोत्तुण अट्ठइ	... १०२१८९	विट्ठीयाभिणिजेसे	... ६७१५१
मोत्तुण अणायारं	... ९८१८५	विट्ठीया, जो जुंजदि...	... १६५११३९
मोत्तुण वयणरयणं	... ९९१८३	संखेव्वासंखेवा	... ७७१३५
मोत्तुण सयलव्वप्य	... ११११९५	संजमणियमतवेण दु	... १४९११३३
मोत्तुण सवमावं	... १०११८७	सण्णणं चउमेवं	... १९११२
र		समयावलिभेदेण दु	... ४२१३२
रयणसयसंजुत्त	... ८९१७४	सम्मत्तणणवरणे	... १५९११३४
रायेण व दोसिच व	... ७२१५७	सम्मत्तस्स निमित्तं	... ६७१५३
रावादीपरिहारे	... १६२११३७	सम्मत्तं सण्णणं	... ६८१५४
र		सम्मं मे सव्वमूदेणु	... १२२११०४
रुद्धे निदि एणे	... १८६११५७	सव्वविअप्पाभावे	... १६४११३८
		सव्वे पुराणपुरिसा	... १८७११५८
		सव्वेति गंधार्ण	... ७४१६०
		मुहअमुहवमणरयणं	... १४४११२०
		मुहुमा इति खंया	... ३५१२४

इति गाथासूची ।

# शुद्धिपत्र ।

[ भाषाटीकाका । ]

६० संक्षिप्त

अनुद

दृढ

८...१ ५ वीं शापामें ४ वीं ४ वीं शापामें बाहिये  
की पहली ५ संक्ति हैं

१०...१५ आत्माके मोही

निर्मोही आत्मा

११...११ अनेक

अनेक

१५...१८ स

से

१७...१ अर्थात्

अर्थात् वह अपन्य परमाणु सन या विरम  
किरीछे बंधको प्राप्त न होगी वह निर्बंध है ।

४७...११ संख्या

असंख्या

६१...११ शब्द

शुद्ध

६१...१४ हे वृ भव्य

हे भव्य वृ

६५...७ इन्द्रियोंसे

इन्द्रियोंसे

६५...९ हान

हाना

६५...१७ उस मिथ्यादृष्टि

वह मिथ्यादृष्टि है सम्मगदृष्टि

६६...११ बतने

यद्यपि प्रथम अवस्थामें बतने

६७...९ घरमें

•

७६...१४ मुख्य

मुख्य

७७...८ भाव होनेपर

कर्मका उदय होनेपर भी

८१...७ करानेवाले ऐसे से-

होने हुए संसारके त्यागके निमित्त

सारके निमित्त देहदिक्षो

तथा

१०१...११ हे

हेय

११०...११ सहित

रहित

११०...१७ आगे

आगे

१११...२१ समय

समय

११२... ९ विज्ञान

विज्ञानके

११५...१५ योगी

योगी निश्चयसे

१५५...१२ ( १ )

१५७...२२ =

१६३...१० मर्त्य

१६९...१८ परद्रव्य अर्थात्

१६९...२३ उक्ति

१७४...१६ परमाभाव

१७९... ९ स्थान

१८०...१२ समस्ता

१८०...१३ मंद

१९१... ८ अनुभवमे

अर्थात् उनके रागद्वेष हो ही नहीं सकते  
( १३९ वीं गाथा आदिमे )

मध्य

अर्थात् परद्रव्य

युक्ति

परभाव

स्थानमे से ११ में गुणस्थान तक

समता

भेद

अनुभव

## [ संस्कृतटीकाका । ]

१९...२२ दभय

१९...२३ नवि

२२...२३ स्वर्ष

२५...७ त्वाद शुद्धः

२५...२३ विकल्पे

३२...११ परमद्रव्य

३७...६ द्वीन्द्रिय

३७...१२ विच्छिन्ने

५०...४ पण्ड गगुणा

५०...५ देव अहजङ्गाण

५१...४ युक्त

५२...९ पाशुभं

५३...१२ केश

५५...१५ वहा

६२...६ मंद

७१...२० द्व

दमृत

नयवि

स्निग्ध

त्वादशुद्धः

विकल्पे

परद्रव्य

द्वीन्द्रियत्रीन्द्रिय

विच्छक्ति

मज्झं, गच्छेज्ज

णादेव अहं जम्हा

मुक्त

च शुभं

क्षेत्र

वहार

मह

द्व

७५...१	गर्म	गं
७५...५	गुर	घर
७९...९	मुदय	मुक्त
७९...१५	विष	विष
८३...४	भुक्तये	मुक्तये
८४...११	बहि	बाहि
८६...८	रभास	रभासान
८८...११	प्राप्त	प्रास्ता
९४...७	मुदयक	मुदयक
९०...८	भाव	मान्यता व
९९...१३	प्रणामा	प्रणामा
९४...२	भाषा	भाव
९५...२०	औदय	आदेय
१००...१८	मस्ताव	मस्ता व
१११...१२	बज्जदि	बजेदि
११५...६	यमरा	यरा
११५...१८	गुणे	गुरो
१२५...२०	यान्ति	याति
१२९...८	कारेति	करोति
१३०...५	क्षणम	क्षणम
१३१...१३	स्वन	स्वन
१३५...१०	हाला	जाला
१४२...१९	जंघौ	जंघौ
१४३...८	काटा	कार
१५१...५	कम	कर्म
१५३...१३	तान्तामुख	तान्तमुंख
१५३...२०	भक्ति	मुक्ति
१५४...७	तिर्दग्ध वेत	तिर्दग्धवेन

। इति ।





समस्तार्थद प्रेसद्वारा प्रेषित

संस्कृत प्रकाशक

श्रीकान्ति, (गंगापुरा)

नमः शुद्धस्वरूपाय ।

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचितः

नियमसारः ।

श्रीपद्मभक्तधारिदेवविरचित-तात्पर्यवृत्तिसहित ।



त्वयि सति परमात्मन्याहंशान्मोहमुग्धान्

कथमतनुवेशत्वान्नुद्धेकेशान्यजेऽहम् ?

सुगतमार्गधर्मं वा बागधीशं शिवं वा

जितभवमभिवन्दे भामुरं श्रीजिनं वा ॥

वाचं वाच्यमीन्द्राणां वक्रवारिजवाहनाम् ।

वन्दे नयद्रयायनवाच्यसर्वस्वपद्धतिम् ॥

सिद्धान्तोद्देश्यश्रीधरे सिद्धमेनं

तर्काग्निकार्क भद्रपूर्वाकलंकम् ।

शब्दार्थान्दुं पूज्यपादं च वन्दे

तद्विषयं वीरनन्दिं वर्तीन्द्रम् ॥

अपवर्गाय भव्यानां शुद्धये स्वात्मनः पुनः ।

वक्ष्ये नियमसारस्य वृत्तिं तात्पर्यसंज्ञकाम् ॥

१ अतर्कः कामस्य वक्ष्यमाण एतां तान् । २ कदम्ब अदम्ब ईश्वरानेति केशाभङ्गः  
विशुद्धहेतुः च यो देशः तान् इति । ३ धीकृष्णमित्यर्थः । ४ मदनम् ।

किं च—

गुणधरगणधरगचितं श्रुतधरमन्ताननस्तु मुख्यकम् ।  
परमागमार्थसार्थं वक्तुममुं के वर्यं मन्त्राः ॥

अपि च—

अस्माकं मानसान्युच्चेः प्रेरितानि पुनः पुनः ।  
परमागमसारस्य रुच्या मांसट्टयाऽधुना ॥  
पंचास्तिकायपद्मद्रव्यसप्ततत्त्वनवार्थकाः ।  
श्रोताः सूत्रकृता पूर्वं ग्रन्थाख्यानादिसत्क्रियाः ॥  
अलमलमतिविल्लरेण स्वास्ति साक्षादस्मै विवरणाय ।

अत्र सूत्रावतारः—

अथात्र जिने नत्वेत्यनेन शास्त्रस्यादावसाधारणं मङ्गलमभिहितं ।  
णामिऊण जिणं वीरं अणंतवरणाणदंसणसहावं ।  
वोच्छामि णियमसारं केवलमुदकेवलीभणिद्धं ॥ १ ॥

नत्वा जिने वीरं अनन्तवरज्ञानदर्शनस्वभावम् ।

वक्ष्यामि नियमसारं केवलश्रुतकेवलभणितम् ॥ १ ॥

नत्वेत्यादि—अनेकजन्माटवीं प्रापणहेतुं समस्तमोहरागद्वेषादीन्  
जयतीति जिनः । वीरो विक्रान्तः, वीरयते शूरयते विक्रामति कर्माकार्तात्  
विजयत इति वीरः—श्रीवर्द्धमान—सन्मतिनाथ—महतिमहार्वासाभिधानैः  
सनाथः—परमेश्वरो महादेवाधिदेवः पश्चिमतीर्थनाथः त्रिभुवनसचराचर-  
द्रव्यगतिपट्यायोक्तसमयपरिच्छितिसमर्थः सकलविमलकेवलज्ञानदर्श-  
नाभ्यां युक्तो यस्तं प्रणम्य वक्ष्यामि वक्ष्यामीत्यर्थः । कं, 'नियमसारं,  
नियमशब्दस्तावत् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्येषु वर्तते, नियमस्य सार-इत्यनेन  
शुद्धरत्नरूपस्वरूपमुक्तम् । किंविशिष्टं, केवलश्रुतकेवलभणितं केवलिनः

सकलप्रत्यक्षज्ञानधराः, श्रुतकेवलिनः सकलद्रव्यश्रुतधरास्तैः केवलिभिः  
श्रुतकेवलिभिश्च भाणितं सकलभव्यनिकुरम्यद्वैतिकं नियमसाराभिधानं  
परमाममं वक्ष्यामीति शिष्टेष्टदेवतास्तवनानंतरं सूत्रकृता पूर्वसूरिणा श्रीकु-  
न्दकुन्दाचार्यदेवगुरुणा प्रतिज्ञातम्, इति सर्वपदानां तात्पर्यमुक्तम् ।

जयति जगति धीरः शुद्धभावास्तमारः

त्रिभुवनजनपूज्यः पूर्णबोधेकराज्यः ।

नतदिविजसभाजः प्रास्तजन्मधुबीजः

समवसृतिनिवासः केवलश्रीनिवासः ॥

मोक्षमार्गतत्कलस्वरूपनिरूपणोपन्यासोऽयम्,—

मग्गो मग्गफलंति य द्दुविहं जिणसासणे समक्खार्दं ।

मग्गो मोक्खरउघायो तस्स फलं होइ णिट्ठयाणं ॥ २ ॥

मार्गो मार्गफलमिति द्विविधं जिनशासने समाख्यातम् ।

मार्गो मोक्षोपायः तस्य फलं भवति निर्वाणम् ॥ २ ॥

‘मम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गं’ इति वचनात् । मार्गभावा-  
च्छुद्धरत्नत्रयं, मार्गफलमपुनर्भवपुरन्धिफलाभ्युत्थललाटलोकान्ति-  
लक्षता । द्विविधं क्लृप्तं परमदीपरागसर्वज्ञशासनं चतुर्धनधाराभि-  
पूर्वसूरिभिः समाख्यातं । परमनिरपेक्षतया निजपरमात्मतत्त्वसाम्यबुद्धिदान-  
रक्षितानुष्ठानशुद्धरत्नत्रयात्मकमार्गो मोक्षोपायः । तस्य शुद्धरत्नत्रयस्य  
फलं स्वात्मोपलब्धिरिति—

क्वचिद्भवति कामिनीरतिसमुत्पन्नसौख्यं जनः

क्वचिद्विणरक्षणे मतिमिमो य वक्त्रे पुनः ।

क्वचिज्जिनवरस्य मार्गमुपलभ्य यः पंडितो

निभात्मनि रतो भवेद्भवति मुक्तिमेतः हि साः ॥

अत्र नियमशब्दस्य सारव्यवस्थितिपादनद्वारेण स्वभावव्यवस्थायकमुक्तम्—



निषेधेन च जं कजं तणिणयमं णाणदंसणचरितं ।  
 विवरीयपरिहरत्थं भणिदं सत्तु सारमिदि यणं ॥ ३ ॥

निषेधेन च गन्तव्यं स नियमो ज्ञानदर्शनवारिधम् ।

विवरीयपरिहारार्थं भणितं सत्तु सारमिति वचनम् ॥ ३ ॥

य सत्तु सारमणिमिदं भावस्थितं सत्तु सारमन्तवत्तु सारमन्तः शुद्ध-  
 ज्ञानवैतानादिसिद्धिमात्रं स नियमः । निषेधेन च निषेधेन दण्ड-  
 वशोजननस्यार्थं ज्ञानदर्शनवारिधं यावत्, तावत् तेषु विषु पद-  
 निवृत्तेरित्येन निषेधस्तन्मार्गयोगशक्तं सत्तु सारं निजसत्तु सारमि-  
 दं सत्तु सारं भवति । दर्शनमपि—भगवत्सत्तु सारमनुसन्ध्याभिध-  
 र्मस्य शुद्धाभावात्परिधामन्यभाविष्ठाने निजशुद्धीकर्मिणा-  
 मप्युत्तरेण सत्तु सारं भवति । वारिधमपि—निषेधज्ञानार्थ-  
 न सत्तु सारमपि सत्तु सारमिति विवरीयपरिहारार्थं । अथ तु निषेधस्यार्थ-  
 रित्येन सत्तु सारमपि विवरीयपरिहारार्थं सत्तु सारमिति भणितं भवति ।

इति विवरीयपरिहारार्थं सत्तु सारमनुसन्ध्याभिध-  
 र्मस्य शुद्धाभावात्परिधामन्यभाविष्ठाने निजशुद्धीकर्मिणा-

मप्युत्तरेण सत्तु सारं भवति । वारिधमपि—निषेधज्ञानार्थ-

न सत्तु सारमपि सत्तु सारमिति विवरीयपरिहारार्थं ।

निषेधं मोक्षमनुसन्ध्याभिध-  
 र्मस्य शुद्धाभावात्परिधामन्यभाविष्ठाने निजशुद्धीकर्मिणा-

मप्युत्तरेण सत्तु सारं भवति । वारिधमपि—निषेधज्ञानार्थ-

न सत्तु सारमपि सत्तु सारमिति विवरीयपरिहारार्थं ।

इति विवरीयपरिहारार्थं सत्तु सारमनुसन्ध्याभिध-  
 र्मस्य शुद्धाभावात्परिधामन्यभाविष्ठाने निजशुद्धीकर्मिणा-  
 मप्युत्तरेण सत्तु सारं भवति । वारिधमपि—निषेधज्ञानार्थ-

दर्शन,—मिदं चारित्रिमित्यनेन विकल्पेन । दर्शनज्ञानचारित्राणां लक्षणं  
वक्ष्यमाणभूत्रेषु ज्ञातव्यं भवति ।

मोक्षोपयो भवति यमिना शुद्धरत्नत्रयात्मा

स्वात्मज्ञानं न पुनरपरं दृष्टिग्न्यापि नैव ।

शीले तावन्न भवति परं मोक्षोभिः प्रोक्तमेत—

बुद्ध्या जन्तुर्न पुनरुदरं याति प्रातुः स मर्त्यः ॥

यवहारसम्यक्त्वस्वरूपाग्न्यान्मेतत्—

ॐ अज्ञागमतश्चाणं सदहणादो हवेइ सम्मत्तं ।

वयगयअसेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो ॥५॥

आज्ञागमतत्त्वानां श्रद्धानाद्भवति सम्यक्त्वम् ।

व्यपगताशेषदोषः सकलगुणात्मा भवेदामः ॥ ५ ॥

आप्तः शंकारत्तितः । शंका हि सकलमोहरागद्वेषादयः । आगमः  
न्मुक्षारविन्दविनिर्गैतसमस्तवस्तुविस्तारसमर्पणदक्षः चतुरवचनसंदर्भः ।  
चानि बहिस्तत्त्वान्तस्तत्त्वपरमात्मतत्त्वभेदभिन्नानि अथवा जीवाजी  
तत्त्वमंवरानिर्जरावन्द्यमोक्षाणां भेदात्सप्तधा भवन्ति । तेषां सम्यक्प्रज्ञानं  
यवहारसम्यक्त्वमिति ।

मवभयभेदिनि मगवति भवतः किं भक्तिश्च न शाम्ति

तर्हि भवाम्बुधिमात्राहमुत्तान्तर्गतो भवति ॥

अष्टादशदोषस्वरूपाग्न्यान्मेतत्—

छुहत्तण्हमीरुरोसो रागोमोहोचिंताजरारुजामिच्चू ।

स्वेदं खेदं मदो रइ विण्हियणिह्वा जणुव्वेमो ॥ ६ ॥

क्षुधा तृष्णा भयं रोषो रागो मोहश्चिन्ता

नरा रुमा मृत्युः । स्वेदः खेदो मदो रति-

विस्मयनिद्रे जन्मोद्वेगी ॥ ६ ॥

असातावेदनीयनीममंदोद्गच्छी क्षुधा । अमातावेदनीयनीममंदो-  
 मंदमंदतरपीडया समुपजाता क्षुधा । इहलोकात्लोकात्तागातामुनिर-  
 वेदनाकृष्णिकमेदात् सतथा भवति मयम् । क्रोधनम्य पुष्प-  
 व्रणरिणामो रोषः । रागः प्रशम्नोऽप्रशम्नश्च, दानशान्तिरोगासु-  
 रुजनवेयावृत्त्यादिसमुद्भवः प्रशम्नरागः, मीराजचोर्गमकविक्रयात्ता-  
 पाकर्णनक्रौतूहलपरिणामो व्यप्रशम्नरागः । चातुर्वर्ग्यप्रमगसंखान्यन्वगतो  
 मोहः प्रशस्त इतरां प्रशस्त एव । चिन्तनं धर्म-शुद्धरूपं प्रशस्तमितरद-  
 प्रशस्तमेव । तिर्यङ्मानवानो वयःकुनदेहविकार एव जग । वातपित्तके-  
 ष्मणां वैषम्यसंजातकलेरगशिर्षादेव रुजा । मादिनिचनमूर्तन्द्रियविजातीय-  
 नरनारकादिविभाव्यजनपर्य्यायविनाश एव मृत्युरित्युक्तः । अशुभकर्म-  
 विपाकजनितशरीरायासममुपजातपूतिगंधमम्बन्धवामनावासितचारिन्दु-  
 संदेहः स्वेदः । अनिष्टलाभः सेदः । सहजचतुरकवित्वनिनिन्द-  
 जनताकर्णामृतम्यांसिसहजशरीरकुलबलेदेवव्येगत्मातंकारजन्मा मद् ।  
 मनोज्ञेषु वस्तुषु परमा प्रीतिरेव रतिः । परमममरसीभावनापरित्य-  
 क्तानां कचिदपूर्वदर्शनादिममयः । केवलेन शुभकर्मणा, केवलेनाशुभ-  
 कर्मणा, मायया शुभाशुभमिश्रेण, देवनारकतिर्यङ्मनुष्यपक्ष्ययिपूत्यतिर्जन्म ।  
 दर्शनावरणीयकर्मोदयेन प्रत्यस्तमितज्ञानज्योतिरेव निद्रा । इष्टवियो-  
 गेषु विक्रयभाव एवोद्वेगः । एभिर्महादोषैर्व्यासाश्रयो लोकाः । एतैर्विनिर्मुक्तो  
 वीतरागसर्वज्ञ इति । यथा चोक्तम्-

“सो धम्मो जत्त दया सोवि तवो विसयणिग्गहो जण्य ।

दसअहदोसरहिओ सो देवो णत्थि संदेहो ” ॥

तथा चोक्तं श्रीविद्यानंदिस्वामिभिः-

“अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः

स च भवति सुशास्त्रात्तस्य चोत्पन्निराप्तात् ।

इति भावति न पूज्यस्तत्पसादात्मबुद्धेः  
न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ॥ ”

तथा शौनम्—

“ सप्तमरशतपूज्यः प्राज्यसद्वोधराज्यः  
स्मरन्तिगुरनाथः प्रास्तदुष्टाष्टयूथ ।  
पदननवनमाटी भाग्यपद्मशुमाटी  
दिशतु शमनिशं मो नेमिरानन्दभूमिः ॥ ”

तीर्थहरपरमेदेवस्थम्पागपानमेततः—

णिम्सेसदोसरहिओ केवलणाण।इपरमविभवजुदो ।  
सो परमप्पा उच्चइ तद्विवरीओ ण परमप्पा ॥ ७ ॥  
नि-शेषशेषरहित- केवलज्ञानादि-परमविभग्युन- ।  
स परमात्मोच्यते तद्विपरीतो न परमात्मा ॥ ७॥

आत्मगुणपातकानि पातिकर्माणि शानदर्शनावगणान्तगायमोहनीय-  
कर्माणि तेषां निरवशेषेण प्रथ्वमात्रिःशेषदोषरहितः, अथवा पूर्वमुत्रोपात्ता-  
ष्टादशमहादोषनिर्मूलनात्रिःशेषदोषनिर्मुक्त इत्युक्तः । सकलविमलकेवल-  
बोधकेवलहाष्टिपरमवीनगगात्मकानन्दाद्यनेकविभवसमृद्धः । यस्त्वेवविध-  
त्रिकात्मनिगवरणानिव्यार्नदैकस्वरूपनिजकारणपरमात्मभावनोत्पन्नकार्यपर-  
मात्मा न एव भगवान् अर्हन् परमेस्वरः । अस्य भगवतः परमेस्वरस्य  
विपरीतगुणामकाः सर्वदेवाभिमानदग्धा अपि संसारिण इत्यर्थः । तथा  
शोकं श्रीकुन्दकुंदाचार्यदेवैः—

“ तेजोदिदीणाण इडी सोउतं तहेव ईसरिय ।  
तिहवणपहाणदइयं माळणं जम्स सो अरिहो” ॥

तथा शोकं श्रीमद्वृत्तचन्द्रसूरिभिः—

“ कान्तयेव स्तपयन्ति ये दश दिशो पाप्मा निरुपन्ति ये

असातावेदनीयतीव्रमेदकेशकरी शुभा । असातावेदनीयतीव्रतीव्रता-  
मंदमेदतरपीडया समुपजाता तृषा । इहलोकपरलोकात्राणागुप्तिमार्ग-  
वेदनाकस्मिकमेदात् सप्तधा भवति मयम् । क्रोधनस्य पुंसर्त्ता  
वपरिणामो रोषः । रागः प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च, दानशीलोपवासगु-  
रुजनवैयावृत्त्यादिसमुद्भवः प्रशस्तरागः, स्त्रीराजचौरभक्तविक्रयाला-  
पाकर्णनकोतुहलपरिणामो ह्यप्रशस्तरागः । चार्तुवर्ण्यभ्रमणसंघवात्सल्यगतो  
मोहः प्रशस्त इतरोऽप्रशस्त एव । चिन्तनं धर्म-शुक्ररूपं प्रशस्तमितरद-  
प्रशस्तमेव । तिर्यङ्मानवानां वयःकृतदेहविकार एव जरा । वातपित्तश्ले-  
ष्मणां वैषम्यसंजातकलेवरविपीडिव रुजा । सादिनिचनमूर्तेन्द्रियविजातीय-  
नग्नारकादिविभाव्यजनपर्य्यायविनाश एव मृत्युरित्युक्तः । अशुभकर्म-  
विपाकजनितशरीरायाससमुपजातपूतिगंधसम्बन्धवासनावासितवार्त्विनु-  
संशोहः स्वेदः । अनिष्टलाभः सेदः । सहजचतुरकवित्वनिसिंह-  
जनताकर्णामृतस्यन्दिसहजशरीरकुलबलैश्वर्य्यैरात्माहंकारजन्मा मदः ।  
मनोज्ञेषु वस्तुषु परमा प्रीतिरेव रतिः । परमसमरसीभावनापारित्य-  
क्तानां कचिदपूर्वदर्शनाद्विस्मयः । केवलेन शुभकर्मणा, केवलेनाशुभ-  
कर्मणा, मायया शुभाशुभमिश्रेण, देवनारकतिर्यङ्मनुष्यपय्ययिपूतपतिर्जन्म ।  
दर्शनावरणीयकर्मादयेन प्रत्यस्तमितज्ञानज्योतिरेव निद्रा । इष्टवियो-  
गेषु विह्वलभाव एवोद्वेगः । एभिर्महादोषैर्व्याप्तान्त्रयो लोकाः । एतेर्विनिर्मुक्तो  
र्षीतरागसर्वज्ञ इति । यथा चोक्तम्-

“सो धर्म्मा जत्थ दया सोवि तवो विसयणिमहो जत्थ ।

दमअदुदोसारहिओ सा देवा णत्थि सदेहो ” ॥

तथा चोक्तं श्रीविद्यानंदिस्वामिभिः-

“अभिमतकलसिद्धेभ्युपायः सुबोधः

स च भवति मुशाग्रानम्य चोत्पन्निराप्तात् ।

इति भवति न पूज्यत प्रसादात्प्रबुद्धैः  
न हि कृतमुपकारं तावतो विभ्ररंति ॥ ”

तथा चोक्तम्—

“ शतमसंज्ञतपूज्यं प्राज्यसद्वेधराज्यः  
स्मरतिगुरुराथ प्राप्तदुष्टाष्टयूष ।  
पदनवनमाली भव्यपद्मशुभाढी  
दिशतु शमनिशं नो नेमिगानन्दभूमिः ॥ ”

तीर्थङ्करपरमेश्वरपदाभ्यासमेतत्—

णिम्मेसदंमरहिओ केयलणाणादपरमविभवजुदो ।  
मो परमप्पा उचइ तद्विचरीओ ण परमप्पा ॥ ७ ॥  
नि शेषदोपरहित केयलजानादि—परमविभवयुत ।  
म परमात्मोच्यते तद्विचरीतो न परमात्मा ॥ ७ ॥

आत्मगुणपातकानि पानिकर्माणि शानदर्शनवागणान्तगम्यमोहनीय-  
कर्मणि तेषां निरवशेषेण प्रवृत्ताभिः शेषदोपरहित, अथवा पूर्वगुणोपात्ता-  
ष्टादशमहादोषनिर्मूलनाभिः शेषदोषनिर्मुक्त इत्युक्तः । सकलविमलकेवल-  
बोधकेयलदृष्टिपरमवीतरागात्मकानन्दायनेकविभवसमुद्भूतः । यस्त्वेवविध-  
त्रिकान्तनिरावर्णनिर्व्यभिचैकस्वरूपनिजकारणपरमात्मभावनोत्पन्नार्थपर-  
मात्मा न एव भगवान् अर्हन् परमेश्वरः । अस्य भगवतः परमेश्वरस्य  
विपरीतगुणात्मका सर्वदेवाभिमानदग्धा अपि संसारिण इत्यर्थः । तथा  
चोक्तं श्रीबुद्धबुद्धाचार्यदेवै—

“ तेजोदिडीणाण हई सोमसे हरेव ईसरिये ।  
निहवणपहाणइइयं माळणं जसम सो अरिहो” ॥

तथा चोक्तं श्रीमद्भूतचन्द्रगुरिभिः—

“ कान्तयेव स्तपयन्ति ये कदा दिशो धामा निरुपन्ति ये

धामोद्गममहस्तिनो जनमनो मुष्णानि रुदेण ये ।  
 दिव्येन ध्वनिना सुरां श्रवणयोः माक्षाः क्षन्तोऽमुने  
 वंशस्तेऽमहमलक्ष्मणशरणांतीर्थेश्वराः सुर्याः ॥”

तथाहि-

जगद्विद्वमजगच्च ज्ञाननरिहृत्तान्त-

भ्रमरवदवभाति प्रसूतं यम्य निन्यं ।

तेमविकलयदेहं नेमितीर्थक्षेत्रं

जलनिधिमपि दोर्म्यामुतराम्युद्वर्वाचिम् ॥

परमागमस्वरूपाभ्यानमंततः-

तस्मिन् मुहग्गदवयणं पुट्वावरदोषविरहितं सुद्धं ।

आगममिदि परिकहिय तेण दु कहिया

हयंति तच्चत्था ॥ ८ ॥

तस्य मुक्तोद्गतवचनं पूर्वापरदोषविरहितं शुद्धम् ।

आगममिति परिकथितं तेन तु कथिता भवन्ति तत्त्वार्थाः ॥ ८ ॥

तस्य खलु परमेश्वरस्य वदनवनजाग्निनिर्गतचतुरवचनरचनाप्रपञ्चपूर्वा-  
 परदोषरहितः, तस्य भगवतो रागाभावात् पापसूत्रवद्धिसादिपापक्रिया-  
 मावाच्छुद्धः परमागम इति कथितः । तेन परमागमामृतेन भव्यैः श्रव-  
 णाञ्जलिपुटोपेयैः मुक्तिसुन्दरीमुक्तदर्पणेन संसरणवाग्निनिधिमहावर्तनिमग्न-  
 समस्तभव्यजनतादत्तहस्ताविलम्बनेन सहजवेगमयशमादशितरशित्वा-  
 मणिना अञ्जुष्णमोक्षप्रासादप्रथमसोपानेन स्वरभोगसमुद्भूताप्रशस्तरागांगारैः  
 पच्यमानसमस्तदीनजनतामहत्केशनिर्नाशनसमर्थसजलजलदेन कथिताः  
 खलु सप्त तत्त्वानि नव पदार्थाश्चेति । तथा चोक्तं श्रीसमन्तभट्टस्वामिभिः-

१ तमपि किल यजेद्वमिति पाठान्तरं ।

“अन्यमननतिरिक्तं चाद्यात्तत्त्वं विना च विपरीतात् ।

नित्यत्वेह वेद यदाहुस्त्वज्ज्ञानमागमिनः ॥”

ललितकान्तिरिति शुद्धं निर्माणकारणकारण

निरतिमविनामेनत्कर्णादृतं जिनमदृष्टम् ।

भवपरिभवारण्यज्याहिविषो द्वाभे जलं

प्रतिदिनमहं बन्धे बन्धं तदा जिनयोदिभिः ॥

अत्र कृष्णा द्रव्याणां पृथक्पृथक् नामधेयमुक्तं—

जीवा पौष्पलकाया धम्माधम्मा य काळ आयासं ।

तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता ॥९॥

जीवा पुद्गलकाया धर्माधर्मो न काल आयासं ।

तत्त्वार्थो इति भणिताः नानागुणपर्यायैः संयुक्ताः ॥ ९ ॥

स्वर्शनरसनधीनचक्षुः—आज्ञमनोवाक्स्पर्शापुच्छवासानिश्वासाभिधानैर्द्रव्यभिः प्राणैः जीवनि जीविष्यति जीवति (स्म) पृथ्वी वा जीवः सदहनयो-  
यमुक्तः । निश्चयेन भावप्राणधारणाजीविः । व्यवहारेण द्रव्यप्राणधारणा-  
जीविः । शुद्धसद्गतप्यवहारेण केशलज्ञानादिशुद्धगुणानामाधारभूतत्वात्  
कार्यशुद्धजीवः । अशुद्धसद्गतप्यवहारेण मतिज्ञानादिविभावगुणानामाधार-  
भूतत्वात् कारणशुद्धजीविः । अयं चेन्नरः । अम्य चेन्नरगुणाः । अयममूर्तः ।  
अम्यामूर्तगुणाः । अयं शुद्धः । अम्य शुद्धगुणाः । अयमशुद्धः । अस्याशु-  
द्धगुणाः । पर्यायधः । तथा गहनपूरणस्वभावसनाथः पुद्गलः । इवेनादि-  
धर्माधारो मूर्तः । अम्य हि मूर्तगुणाः । अयमचेन्नरः । अस्याचेन्नरगुणाः ।  
स्वभावविभावमतिक्रियापरिणतानां जीवपुद्गलानां तद्विहेतुः धर्मः ।  
स्वभावविभावम्यतिपरिणतानां तेषां स्थितिहेतुरधर्मः । पंचानामवकाश-  
ज्ञानलक्षणमाकाशश्च । पंचानां वर्तनाहेतुः कालः । चतुर्णाममूर्तानां  
शुद्धगुणाः, पर्यायार्थतया तथाविधाधः ।



इति जिनपातिमार्गामाधिभ्यस्त्याग्नं  
 बुतिपटलजटालं ताद्वि षड्विध्यजातम् ।  
 इति मुनिशितबुद्धिर्भूषणार्थं विधत्ते  
 स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥

अत्रोपयोगलक्षणमुक्तम्:—

जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदंसणो होई ।  
 णाणुवओगो दुविहो सहावणाणं विमावणाणं त्ति ॥१०॥  
 जीव उपयोगमयः उपयोगो ज्ञानदर्शनं भवति ।

ज्ञानोपयोगो द्विविधः स्वभावज्ञानं विभावज्ञानमिति ॥ १० ॥

आत्मनश्चेतन्यानुवर्ती परिणामः स उपयोगः । अयं धर्मः । जीवो धर्मी ।  
 अनयोः सम्बन्धः प्रदीपप्रकाशवत् । ज्ञानदर्शनविकल्पेनामो द्विविधः । अत्र  
 ज्ञानोपयोगोपि स्वभावविभावभेदात् द्विविधो भवति । इह हि स्वभावज्ञानम्  
 अमूर्तम् अव्याबाधम् अतीन्द्रियम् अविनश्वरम् तच्च कार्यकारणरूपेण  
 द्विविधं भवति । कार्यं तावत् सकलविमलकेवलज्ञानम् । तस्य कारणं  
 परमपाण्यामिकभावस्थितान्निकालानिरूपाधिरूपं सहजज्ञानं स्यात् । केवलं  
 विभावरूपाणि ज्ञानानि त्रीणि कुमतिकुश्रनविमंगभाजि भवंति । एतेषाम्  
 उपयोगभेदानां भेदो वक्ष्यमाणमूत्रयोर्द्वयोर्बोद्धव्यः इति ।

अथ सकलजिनोक्तज्ञानभेदं प्रबुद्ध्वा  
 परिद्धतपरमावः स्वस्वरूपे स्थितो यः ।  
 मपदि विदति यत्तच्चिच्चमलकारमात्रं -  
 स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥

अत्र च ज्ञानभेदमुक्तः—

१) केवलमिन्द्रियरहितं असहायं ते सहावणाणं त्ति ।  
 सण्णाणिदरविषये विहावणाणं हवे दुविहं ॥११॥

- ११ सण्णाणं षडभेयं मदिसुदओही तहेव मणपज्जं ।  
 अण्णाणं तिवियप्पं मदियाहं भेददो चेव ॥ १२ ॥ जुम्मं ।  
 केवलमिन्द्रियरहिते असहायं तत्स्वभावज्ञानमिति ।  
 संज्ञानेतरविकल्पे विभावज्ञान भवेद्विविधम् ॥ ११ ॥  
 संज्ञानं षतुर्भेदं मतिश्रुतावधयन्मार्थं मन पर्ययम् ।  
 अज्ञानं त्रिविकल्पं मत्पादेभेददर्शनम् ॥ १२ ॥ जुम्मं ।

निष्णाधिस्वरूपत्वात् केवलम् । निरावरणस्वरूपत्वात् क्रमकरणव्य-  
 वधानापादम् । अश्रितिवस्तुव्यापकत्वात् असहायम् । तत्कार्यस्वभावज्ञानं  
 भवति । कारणज्ञानमपि तादृशं भवति । कुतः, निजपाभात्मास्थितसहजद-  
 र्शनमदञ्चग्विमहजमुत्तमहजपरमचिच्छिन्निनिजकारणममयमारस्वरूपाणि  
 च युगपत् परिच्छेदं समर्थत्वात् तथाविधमेव । इति शुद्धज्ञानस्वरूपमुक्तम् ।

इदानीं शुद्धाशुद्धज्ञानस्वरूपभेदमवयमुच्यते । अनेकविकल्पसन्तार्थं  
 मतिज्ञाने उपलब्धिभावानुपयोगाच्च अवग्रहादिभेदाच्च बहुबहुविधादि-  
 भेदाद्वा । लब्धिभावनाभेदाच्च ज्ञानं द्विविधम् । द्विविधं । देश-  
 सर्वपरमभेदादवधिज्ञानं त्रिविधं । ऋजुविपुलमतिविकल्पात्मनः पर्य-  
 यज्ञानं च त्रिविधम् । परमभावस्थितस्य सम्प्रगृहेतेतत्संज्ञान-  
 चतुष्पदं भवति । मतिश्रुतावधिज्ञानानि मिथ्यादृष्टि परिग्राह्यं कुमतिशुभ्र-  
 निविभंगज्ञानानीनि नामान्तराणि प्रवेदिरे । अत्र सहजज्ञानं शुद्धान्तस्तत्त्व-  
 परमतत्त्वव्यापकत्वात् स्वरूपपर्ययं केवलसकलप्रत्यक्षम् । 'रूपिष्व-  
 क्थे-रिति वचनादवधिज्ञानं विकलप्रत्यक्षम् । तदनन्तभागवत्स्वंशग्राह-  
 कत्वान्मनःपर्ययज्ञानं च विकलप्रत्यक्षम् । मतिश्रुतिज्ञानद्वितयमपि  
 परमार्थतः परोक्षं व्यवहारतः प्रत्यक्षम् भवति । किं च उक्तेषु ज्ञानेषु  
 साक्षान्मोक्षमूलमेकं निजपरमतत्त्वनिष्ठसहजज्ञानमेव । अपि च वारणामिकभाव-  
 स्वभावेन भव्यस्य परमस्वभावत्वात् सहजज्ञानादपरमुपादेयं न शक्यम् ।

अनेन सहजविद्विलासरूपेण सदा सहजपरमवीतरागशर्माभूतेन अप्रतिहत-  
निरावरणपरमविच्छित्तिरूपेण सदान्तर्मुखे स्वस्वरूपाविचलस्थितिरूप-  
सहजपरमचारित्रेण त्रिकालेष्वप्युच्छिन्नतया सदा संनिहितपरमचिद्रूपअन्ना-  
नेन अनेन स्वभावानंतचतुष्टयेन सनाथम् अनाथमुक्तिमुन्दरीनाथम् आत्मानं  
भावयेत् । इत्यनेनोपन्यासेन संसारव्रततिमूललवित्रेण ब्रह्मोपदेशः  
कृत इति ।

इति निगदितभेदज्ञानमासाय भव्यः

परिहरतु समस्तं घोरसंसारमूलम् ।

मुकृतममुकृतं वा दुःखमुच्चैः सुखं वा

तत उपरि समग्रं शाश्वतं शं प्रयाति ॥

परिग्रहाग्रहं मुक्त्वा कृत्वापेक्षां च विग्रहे ।

निर्व्यग्रप्रायचिन्मान-विग्रहं भावयेद् बुधः ॥

शस्ताशस्तसमस्तरागविलयान्मोहस्य निर्मूलनाद्

द्वेषाम्भःपरिपूर्णमानसघटप्रत्वंमनान्पावनम् ।

ज्ञानज्योतिरनुनमं निरुपाधि प्रव्यक्ति नित्योदितं

भेदज्ञानमहीजसत्कलामिदं दण्डं जगन्ममलम् ॥

मोक्षे मोक्षे जयति सहजज्ञानमानन्दतानं

नित्यवाधं स्फुटितमहजावस्थमन्तर्मुखं च ।

लीने स्वामिन्महजविलसच्चिच्चमत्कारमात्रे

स्वस्य ज्योतिःप्रतिहततमोवृत्ति नित्याभिरामम् ॥

सहजज्ञानमात्राज्य मर्वम्बं शुद्धचिन्मयम् ।

ममात्मानमयं ज्ञान्वा निर्विकल्पा भवाम्यहम् ॥

दर्शनोपयोगस्वरूपाभ्यासानमेतत्—

तिह दंसणउयओगो ससहायेदरावियण्णदो दुपिहो ।

केयलमिदिपरहिंयं असहायं तं सहायमिदि मणिदं ॥ १३ ॥



चक्षुरनक्षुरवयस्त्रिगोवि भणिना रिमावहटिगिति ।

पथ्यायो द्वित्रिकलाः स्वरपेक्षद्व निरेपेक्षः ॥ १४ ॥

मतिज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमेन यथा मूर्तं वस्तु जानाति तथा चक्षुर्द-  
र्शनावरणीयकर्मक्षयोपशमेन मूर्तं वस्तु पश्यति च । यथा श्रुतज्ञानावरणी-  
यकर्मक्षयोपशमेन श्रुतद्वारेण द्रष्टव्यश्रुतनिगदितमूर्तमूर्तमममं वस्तुजानं  
परोक्षबुद्ध्या जानाति तथैवाचक्षुर्दर्शनावरणीयक्षयोपशमेन स्पर्शनमनेप्राप्त-  
श्रोत्रद्वारेण तत्तथोग्यविषयान् पश्यति च । यथा अवधिज्ञानावरणीयकर्मक्ष-  
योपशमेन समस्तमूर्तपदार्थः पश्यति । अत्रोपयोगव्याख्यानन्तरं पथ्या-  
यस्वरूपमुच्यते । परि समन्तात् भेदमेति गच्छतीति पथ्यायः । अत्र स्वमा-  
वपथ्यायः षड्द्रव्यमाधारणः । अर्थपथ्यायः अवाङ्मनसगोचरः अनिमूढः  
आगमप्रामाण्यादभ्युपगम्योपि च षड्दानिवृद्धिविकल्पयुतः । अनन्तभागवृद्धिः,  
असंख्यातभागवृद्धिः संख्यातभागवृद्धिः संख्यातगुणवृद्धिः असंख्यातगुण-  
वृद्धिः अनन्तगुणवृद्धिः, तथा हानिश्च नीयते । अशुद्धपथ्यायो नरनाम्ना-  
दिव्यजनपथ्याय इति ।

अथ सति परभावे शुद्धमात्मानमेकं

सहजगुणमणीनामाकरं पूर्णबोधम् ।

भजति निश्चितबुद्धिर्यः पुंमान् शुद्धवृष्टिः

स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥

इति परगुणपथ्यायिषु सत्सूक्तमानां

द्वयसंसारसि जाते राजते कारणान्मा ।

सपदि समयसारं तं परं ब्रह्मरूपं

भज भजसि निजोत्पन्नं भव्यशार्दूल स त्वम् ॥

१ “ जानाति तथा अवधिदर्शनावरणीयकर्मक्षयोपशमेन समस्तं मूर्तपदार्थं  
पश्यति ” चेति पाठः शुद्धितः प्रतीयते ।

हृदिमति सद्गुणे हृदिदुष्टरूपगुणे  
हृदिमात्रपर्याये हृदिदुष्टपर्यायके ।  
अनाद्यमपि जीवन्मनाथं समस्तैर्वि  
ममामि परभावयामि साकटार्पसिद्धये मदा ॥

स्वभावविभावर्यायगंगेपानिधिमः—

परणारपतिरियसुरा पञ्जापा ते विभावमिदि भणिदा ।  
कम्मोपाधिवि वल्लियपञ्जापा ते सहावमिदि भणिदा १५

नरनारपतिरियसुराः पर्यायास्ते विभावा इति भणिता ।  
कम्मोपाधिविभिनपर्यायास्ते स्वभावा इति भणिताः ॥ १५ ॥

मत्र स्वभावविभावपर्यायाणां मध्ये स्वभावपर्यायस्तावत् द्विप्रकारेणा-  
च्यते । कारणशुद्धपर्यायः कार्यशुद्धपर्यायश्चेति । इह हि सहजशुद्ध-  
निदधयेन अनाद्यनिधनामूर्तान्द्रियस्वभावशुद्धसहजज्ञानसहजदर्शनसहज-  
धारिसाहजपरमार्जनारागमुरात्मकशुद्धान्तिस्त्वावरूपम्बभाजनतचतुष्टयस्व-  
रूपेण सागन्धिनपर्ययमात्रपरणतिरेव कारणशुद्धपर्याय इत्यर्थः । सादनिध-  
नामूर्तान्द्रियस्वभावशुद्धमद्वैतव्यवहारेण केवलज्ञानकेवलदर्शनकेवलसुरा-  
केवलशक्तिरूपकपञ्चपरानेतचतुष्टयेन गार्ह परमोत्कृष्टशायिकभावस्य शुद्धपर-  
णतिरेव कार्यशुद्धपर्यायश्च । अथवा पूर्वमुत्रोपात्तसूक्ष्मज्ञानगुणनयामिशयेन  
पट्टद्रव्यमाधारणाः सुश्रमास्ते हि अर्थपर्यायाः शुद्धा इति बोद्धव्याः । उक्तः  
गमासतः शुद्धपर्यायविकल्पः ।

इदानीं व्यञ्जनपर्याय उच्यते । व्यञ्ज्यते प्रकटीक्रियते अनेनेति व्यञ्ज-  
नपर्यायः । कुतः । लाञ्छनगोचरत्वात् पटुचोदिवत् । अथवा सादिसनि-  
धनमूर्तविज्ञानाधिकभावस्वभावत्वात्, हृद्यमानविनाशस्वरूपत्वात् ।

१ \* पटादिषदि—ति भाति ।

व्यञ्जनपर्यायश्च-पर्यायिनमात्मबोधमन्तरेण पर्यायस्वमायाद्युमाद्युम-  
परिणामेनात्मा व्यवहारेण नरो जातः तस्य नराकारो नरपर्यायः । किञ्चि-  
च्छुभमिश्रमायापरिणामेन तिर्यक्कायजो व्यवहारेणात्मा, तस्याकारस्तिर्यक्  
पर्यायः । केवलं शुभकर्मणा व्यवहारेण आत्मा देवस्तम्याकारो देव  
पर्यायश्चेति । अयं पर्यायस्य प्रपञ्चो ह्यगमन्तरे दृष्टव्य इति ।

अपि च बहुविभावे सत्यं शुद्धदृष्टिः ।

सहजपरमतत्त्वाभ्यासनिष्णातबुद्धिः ॥

संपदि समयसाराश्रान्यदस्तीति मत्वा ।

स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥

चतुर्गतिस्वरूपनिरूपणाख्यानमेतत्:-

माणुस्ता दुवियप्ता कम्ममहीभोगभूमिसंजादा ।

सत्तविहा णेरइया णादव्वा पुढविमेएण ॥ १६ ॥

चउदहभेदा भणिदा तेरिच्छा सुरगणा चउन्मेदा ।

एदेसिं वित्थारं लोयविभागेसु णादव्वम् ॥ १७ ॥ जुम्मं

मानुषा द्विविकल्पाः कर्ममहीभोगभूमिसंजाताः ।

सत्तविधा नारका ज्ञातव्याः पृथ्वीभेदेन ॥ १६ ॥

चतुर्दशभेदा भणितास्तिर्यग्धः सुरगणाश्चतुर्भेदाः ।

एतेषां विस्तारो लोकविभागेषु ज्ञातव्यः ॥ १७ ॥

मनोरपत्यानि मनुष्याः । ते द्विविधाः । कर्मभूमिजा, भोगभूमिजाश्चेति ।  
तत्र कर्मभूमिजाश्च द्विविधाः-आर्या म्लेच्छाश्चेति । आर्याः पुण्यक्षेत्रव-  
र्तिनः । म्लेच्छाः पापक्षेत्रवर्तिनः । भोगभूमिजाश्चार्यनामधेयधरा जपन्य-  
मध्यमोत्तमक्षेत्रवर्तिनः । रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभाभिधसत-

१ अत्र “ केवलं शुभकर्मणा नरकज आत्मा व्यवहारेण, तस्याकारो नारक-  
पर्याय इति.” पाठः खण्डित भाति ।

दुर्धर्मानां भेदाद्वरकृतीनां सामथा भवन्ति । प्रथमनरकस्य नारकाः द्यक्साग-  
रोत्तमायुः १ । द्वितीयनरकस्य नारकाः त्रिमागरोत्तमायुः २ । तृतीय-  
नरकस्य सात ७ । चतुर्थस्य दश १० । पंचमस्य सप्तदश १७ । षष्ठस्य  
द्वविंशतिः २२ । सप्तमस्य अष्टविंशतिः २४ । अथ विस्तरभयात् संक्षेपगोच्यते ।  
विशेषः—सूर्यमेवेन्द्रियपर्याप्तकापपर्याप्तकचादरेकेन्द्रियपर्याप्तकापपर्याप्तक-  
हीन्द्रियपर्याप्तकापपर्याप्तकचीन्द्रिय—पर्याप्तकापपर्याप्तकचचतुरिन्द्रियपर्याप्त-  
कापपर्याप्तकामेतिषमेन्द्रियपर्याप्तकापपर्याप्तक—सतिषमेन्द्रियपर्याप्तकाप-  
पर्याप्तकभेदाद्यनुदर्शभेदा भवन्ति । भावनव्यवस्थेति वक्ष्यवाचित्कभेदा-  
हेवादचतुर्जिवायाः । एतेषां चतुर्गतिर्जीवभेदानां भेदो लोकाविभागामिधा-  
नपरमाणवे दृष्टव्यः । इहान्मस्वरूपप्रकरणान्तरादंतुरिति पूर्वसृष्टिभिः सूत्रक-  
ङ्किन्नन् इति ।

स्वर्गो वाग्निन्मनुजभुयने रोचरेन्द्राय देवा-

उज्ज्वेतिहोके फणपतिपुरे मारकाणां निवासे ।

अन्यभिन् वा जिनपतिभवेन कर्मणां नोऽभ्यु गतिः

भूयो भूयो भवतु मवनः पादपट्टेजभक्तिः ॥

नानानूननगाधिनाथविभवानाकर्ण्य चालोक्य च

स्व द्विद्वानि मुधाव किं जहमते पुण्यार्जितमास्ते ननु ।

तच्छक्तिर्जिननाथपादकमन्दन्दार्चनायामियं

भानिस्ते यदि विपते बहुविधा भोगाः स्पृते त्वयि ॥

कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रकारकथनमिदम्—

कत्ता भोक्ता आदा योगालकम्मस्स होदि व्यवहारो ।

कम्मजभावेणादा कत्ता भोक्ता तु णिच्छपदो ॥१८॥

कर्ता भोक्ता आत्मा पुद्गलकर्मणो भवति व्यवहारान् ।

कर्मजभावे नात्मा कर्ता भोक्ता तु निश्चयतः ॥ १८ ॥



आसन्नगतानुपरिचितासद्भूतव्यवहारनयाद् द्रव्यकर्मणां कर्ता तत्फल-  
रूपाणां सुखदुःखानां भोक्ता च, आत्मा हि अशुद्धनिश्चयेन सकलमो-  
हरागद्वेषादिभावकर्मणां कर्ता भोक्ता च । अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण  
नोकर्मणां कर्ता । उपचरितासद्भूतव्यवहारेण षट्पटशकटादीनां कर्ता ।  
इत्यशुद्धजीवस्वरूपमुक्तम् ।

अपि च सकलरागद्वेषमोहात्मको यः

परमगुरुपदाब्जद्वन्द्वसेवाप्रसादात् ।

सहजसमयसारं निर्विकल्पं हि बुद्ध्वा

स भवति परमश्रीकामिनीकान्तकान्तः ॥

भावकर्मनिरोधेन द्रव्यकर्मनिरोधनम् ।

द्रव्यकर्मनिरोधेन संसारस्य निरोधनम् ॥

संज्ञानभावपरिमुक्तविमुग्धजीवः

कुर्वन् शुभाशुभमनेकविधं स कर्म ।

निर्मुक्तमार्गमणुमप्याभिवाञ्छितुं नो

जानाति तस्य शरणं न समास्ति लोके ॥

यः कर्मशर्मनिकरं परिहृत्य सर्वम्

निःकर्मशर्मनिकरामृतवारिपूरं ।

मज्जन्तमत्यधिकचिन्मयमेकरूपं

स्वं भावमद्वयममुं समुपैति भव्यः ॥

असति सति विभावे तस्य चितास्ति नो नः

मततमनुभवामः शुद्धमात्मानमेकम् ।

हृदयकमलसंग्रहं सर्वकर्मप्रमुक्तम्

न सलु न सलु मुक्तिर्नान्यथास्त्यस्ति तस्मात् ॥

मयनिभवगुणाः स्युः सिद्धजीवेपि नित्यम् ।

निजपरमगुणाः स्युः सिद्धिसिद्धाः समस्ताः ॥

एवमप्यनयोर्थं निश्चयाभेदमिति-

सं च भवति भवो वा निर्णयोऽयं बुधानाम् ॥

इति नयद्वयस्य गणनत्वमुक्तम् -

द्वयस्थितेण जीवा सद्विरिता पुण्यभणिदपजाया ।

पञ्चदशेण जीवा संयुक्ता ह्येति द्विहेहि ॥ १९ ॥

द्रव्यार्थिकेन जीवा न्यनिरिता पूर्वभणितपर्यायात् ।

पर्यायनयेन जीवा संयुक्ता भवन्ति द्वाभ्याम् ॥ १९ ॥

इति नयो भगवद्वर्तपद्मभरणेन प्रोक्तो द्रव्यार्थिकः पर्यायिकश्चेति ।  
द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः । पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति  
पर्यायार्थिकः । न रात्रि एकनयापनोपदेशो वाच्यः । किं तदुभयाय-  
नोपदेशः ? सत्तामात्रकशुद्धद्रव्यार्थिकत्वेन पूर्वोक्तव्यञ्जनपर्यायेभ्यः  
सत्ताशान्मुनामुनसममनजीवराशयः सर्वथा व्यतिरिक्ता एव । कुतः “सर्वे  
मुद्धा दु मुद्धगया” इति वचनात् । विभाव्यञ्जनपर्यायार्थिकत्वेन ते  
सर्वजीवात्मसुना भवन्ति । किंच-सिद्धानामर्थपर्यायैः सह पण्णिति, न  
पुनर्व्यञ्जनपर्यायैः सह पण्णितिगिति । कुतः, सदा निरञ्जनत्वात् सिद्धानां  
सदा निरञ्जनत्वे सति बहिर्द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाभ्याम् द्वाभ्याम् संयुक्ताः  
सर्वे जीवा इति सूत्रार्थो ध्येयः । निगमो विकल्पः तत्र भवो नैगमः । स च  
नैगमनयम्लावत् त्रिविधः, भूतनैगमः । वर्तमाननैगमः । भाविनैगमश्चेति । अत्र  
भूतनैगमनयापेक्षया भगवतो सिद्धानामपि व्यञ्जनपर्यायत्वमशुद्धं च  
संभवति । पूर्वकाले ते तावन्तः संसाग्णि इति व्यवहारात् । किंचतुना सर्वे  
जीवा नयद्वयत्वेन शुद्धाशुद्धा इत्यर्थः ।

तथा चोक्तं श्रीमद्भगवच्चन्द्रमूर्तिभिः—

उभयनविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके

निनवचसि रमते ये स्वयं वीतमोहाः ।

सपदि ममयगारं ते एषं ज्योतिर्यज्ञै-  
स्नेहमनसैरक्षामुष्णमीक्षित एव ।

तथाहि—

अथ नययुगयुक्ति संनयनो न मंतः

परमजिनपदाब्जद्वन्द्वमन्तदिग्गताः ।

सपदि ममयगारं ते ध्रुवं ग्रामुनानि

क्षितिषु परमतोक्ते किं कलं सज्जनानाम् ॥

इति सुकविजनपद्योजमित्र-पंचेन्द्रियशमशर्मितगात्रमात्रगृहिह-श्रीपद्म-  
प्रममलधारिर्विविचिताया नियमगाग्याग्याया तात्पर्यार्थतो जीवा-  
धिकारः प्रथमश्रुतस्कन्धः ॥ १ ॥

अधेदानीमर्जवाधिकार उच्यते । पुद्गलद्रव्यविस्फुल्लयामोऽयम्—

अणुसंधवियप्पेण दु पोग्गलद्वयं हवेइ दुवियप्पं ।

खंधा हु छप्पयारा परमाणू चेव दुवियप्पो ॥ २० ॥

अणुस्कन्धविकल्पेन तु पुद्गलद्रव्यं भवति द्विविकल्पम् ।

स्कन्धा खलु षट्प्रकारा परमाणुद्वैव द्विविकल्पः ॥ २० ॥

पुद्गलद्रव्यं तावद् विकल्पद्वयसनायम् । स्वभावपुद्गलो विभावपुद्गलश्चेति ।  
तत्र स्वभावपुद्गलः परमाणुः, विभावपुद्गलः स्कन्धः । कार्यपरमाणुः कारण-  
परमाणुरिति स्वभावपुद्गलो द्विधा भवति । स्कन्धाः षट्प्रकाराः स्युः, पृथ्वी-  
जलच्छायाचतुरक्षविषयकर्मप्रायोग्याप्रायोग्यभेदाः । तेषां भेदो वक्ष्यमाणसूत्रे-  
षूच्यते विस्तरेणेति ।

गलनादणुरित्युक्तः पूरणात्स्कन्धनामभाक् ।

विनानेन पदार्धेण लोकयात्रा न वर्तते ।

- १ अर्थं आवरण तेन रहितम् अनवम् । वा न नवम् अनवम् विरेतनम् इत्यर्थः ।  
२ अतयपक्षा एकान्तवादिनस्तैरक्षुष्ण अशुभितम् अध्वस्तमित्यर्थः ।



सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-  
रनेत्रमनयैषक्षाक्षुण्णमीक्षत एव ।

तथाहि—

अथ नययुगयुक्ति लंघयंतो न संतः  
परमजिनपदाब्जद्वन्द्वमत्तद्विरेफाः ।  
सपदि समयसारं ते ध्रुवं प्राप्नुवन्ति  
क्षितिषु परमतोक्ते किं फलं सज्जनानाम् ॥

इति सुकविजनपयोजमित्र-पंचेन्द्रियप्रसन्नवर्जितगात्रमात्रपग्निह-श्रीपद्म-  
प्रभममलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ जीवा-  
धिकारः प्रथमश्रुतस्कन्धः ॥ १ ॥

अपेक्षानीमर्जत्वाधिकार उच्यते । पुद्गलद्रव्यविकल्पन्यासोऽयम्—

अणुसंधवियप्पेण दु पोग्गलद्व्वं हवेइ दुवियप्पं ।  
खंधा हु छप्पयारा परमाणू चेव दुवियप्पो ॥ २० ॥

अणुम्वकल्पविकल्पेन तु पुद्गलद्रव्यं भवति द्विविकल्पम् ।

स्कन्धाः खलु षट्प्रकाराः परमाणुश्चैव द्विविकल्पः ॥ २० ॥

पुद्गलद्रव्यं तावड् विद्वन्मयसनायम् । स्वभावपुद्गलो विभावपुद्गलश्चेति ।  
तत्र स्वभावपुद्गलः परमाणुः, विभावपुद्गलः स्कन्धः । कार्यपरमाणुः कारण-  
परमाणुरिति स्वभावपुद्गलो द्विधा भवति । स्कन्धाः षट्प्रकाराः स्युः, पृथ्वी-  
जलवायुश्चतुरक्षविरयकर्मप्रायोग्याप्रायोग्यभेदाः । तेषां भेदो वक्ष्यमाणसूत्रे-  
षूच्यते विस्तरेणेति ।

गलनादणुरित्युक्तः पुराणस्कन्धनाममाह ।

विनानेन पदार्थेण लोकायात्रा न वर्तते ।

१ अत्र आवरण तेन रहितम् अनयम् । वा न गरम् अनयम् चित्तनम् इत्यर्थः ।  
२ अनयपक्षा एकान्तवादिनोऽत्रोक्तं अनुमितम् अप्रामाण्यमित्यर्थः ।



सपदि ममयमारं ते परं ज्यानिरुज्जे-  
स्नेहमनयपक्षाशुण्णमीक्षत एव ।

तथाहि—

अथ नययुगयुक्तिं लंघयन्तो न मनः  
परमजिनपदाद्भद्वन्द्वमन्तदिशेकाः ।

सपदि ममयमारं ते ध्रुवं प्राप्नुवन्ति  
क्षितिषु परमतोने किं फलं सज्जनानाम् ॥

इति सुकविजनपयोगमित्र-पंचेंद्रियप्रमग्वर्जितगात्रमात्रपरिग्रह-श्रीपद्म-  
प्रममलधारिदेवविगचिनायां नियममाग्याभ्यायां तान्यर्प्यवृत्तौ जीवा-  
धिकारः प्रथमश्रुतस्कन्धः ॥ १ ॥

अपेक्षानीमर्जावाधिकार उच्यते । पुद्गलद्रव्यविह्वलन्यामोऽयम्—

अणुखंधवियप्पेण हु पोग्गलद्व्वं हवेइ दुवियप्पं ।  
खंधा हु छप्पयारा परमाणू चेव दुवियप्पो ॥ २० ॥

अणुस्कन्धविकल्पेन तु पुद्गलद्रव्यं भवति द्विविकल्पम् ।

स्कन्धाः खलु षट्प्रकाराः परमाणुश्चैव द्विविकल्पः ॥ २० ॥

पुद्गलद्रव्यं तावद्द्विविकल्पद्वयसनायम् । स्वभावपुद्गलो विभावपुद्गलश्चेति ।  
तत्र स्वभावपुद्गलः परमाणुः, विभावपुद्गलः स्कन्धः । कार्यपरमाणुः कारण-  
परमाणुरिति स्वभावपुद्गलो द्विधा भवति । स्कन्धाः षट्प्रकाराः स्युः, पृथ्वी-  
जलच्छायाचतुरक्षविषयकर्मप्रायोग्याप्रायोग्यभेदाः । तेषां भेदो वक्ष्यमाणमूत्रे-  
पूच्यते विस्तरेणेति ।

गलनादणुरित्युक्तः पूरणात्स्कन्धनामभाक् ।

विनानेन पदार्थेण लोकयात्रा न वर्तते ।

१ अर्थं आवरणं तेन रहितम् अनवम् । वा न नवम् अनवम् चिरेतनम् इत्यर्थः ।

२ अनयपक्षा एकान्तवादिनस्तैरभुण्णं अभुमितम् अव्यस्तमित्यर्थः ।

निभावपुद्गलस्वरूपाख्यानमेतत् —

अइधूलधूल धूलं धूलंसुहुमं च सुहुमधूलं च ।  
 सुहुमं अइसुहुमं इदि धरादियं होदि छम्मेयं ॥ २१ ॥  
 भूपव्यदमादीया भणिदा अइधूलधूलमिदि संधा ।  
 धूला इदि विण्णेया सप्पीजलेतेलमादीया ॥ २२ ॥  
 छायातवमादीया धूलेदरखंधमिदि वियाणाहि ।  
 सुहुमधूलेदि भणिया संधा चउरक्खवित्तया य ॥ २३ ॥  
 सुहुमा हवन्ति संधा पावोग्गा कम्मवग्गणस्म पुणो ।  
 तच्चिवरीया संधा अइसुहुमा इदि परव्वेदि ॥ २४ ॥ चउक्कं ।

अतिस्थूलस्थूलाः, स्थूलाः, स्थूलसूक्ष्माश्च, सूक्ष्मस्थूलाश्च ।  
 सूक्ष्मा, अतिसूक्ष्मा, इति धरादयो भवन्ति पद्मेदाः ॥ २१ ॥  
 भूर्भुवनाद्या भणिता अतिस्थूलस्थूला इति स्वर्गाः ।  
 स्थूला इति विज्ञेयाः सर्पिर्मेज्जतलाद्याः ॥ २२ ॥  
 छायातवाद्याः स्थूलेतरस्वन्धा इति विजानीहि ।  
 सूक्ष्मस्थूला इति भणिताः स्वन्धाश्चतुरस्रविपयाश्च ॥ २३ ॥  
 सूक्ष्मा भवन्ति स्वन्धप्रायोग्याः कर्मवर्गणस्य पुनः ।  
 तद्विवरीयाः स्वन्धाः अतिसूक्ष्मा इति प्ररूपयन्ति ॥ २४ ॥

चतुष्कं ।

अतिरक्षुण्णधूला हि ते खलु पुद्गलाः शुभेरकुम्भिर्नामभूतायः । इत्ये-  
 लतश्चक्षुर्निजलप्रभुनिगमस्तद्रूप्याणि हि स्थूलपुद्गलाश्च । छायातवप्रभुभूतयः  
 स्थूलसूक्ष्मपुद्गलाः । स्पर्शनाद्यनप्राणभोगेन्द्रियाणां विषया सूक्ष्मस्थूलपुद्गलाः  
 सार्वभौमस्पर्शसामन्थाः । शुभाशुभदिग्भित्तमहादेव्यामप्युक्तं शुभाशुभकर्मणो



मार्गि मममगाते १ गी इत्यर्थः चे  
स्वेवमन्तर्गतमाधुम्यमर्गः ११ ।

तस्मात्

अथ मममगातिं मममगाते न मम  
मममतिना वा न मममगाते न मम  
मममतिना वा न मममगाते न मम  
मममतिना वा न मममगाते न मम

इति मृद्विति नमसो नमिष-वेत्यर्थः मममगातिं मममगाते नमिष-वेत्यर्थः  
मममलधारिणेति वा नमिषा नमिषा नमिषा नमिषा नमिषा नमिषा नमिषा नमिषा  
धिकारः प्रथमभूतमृद्विति ॥ १ ॥

अथेदानीमर्गमाधुम्यमगाते १ गी इत्यर्थः चे—

अणुसंधयियप्येण दु पांगलद्वयं ह्येद द्वियप्यं ।  
खंधा दु छप्पयारा परमाणू चैव द्वियप्यो ॥ २० ॥

अणुसन्धीराल्पेन तु पुद्गलद्वयं भावि द्विचलम् ।

मन्थाः रातु पदप्रकाशः परमाणुद्वयेन द्विचलः ॥ २० ॥

पुद्गलद्वयं तावद्विचल्यदयमनायम् । स्वभावापुद्गलं विभाज्यपुद्गलद्वयेति ।  
तत्र स्वभावापुद्गलः परमाणुः, विभाज्यपुद्गलः मन्थः । कार्यपरमाणुः कार्य-  
परमाणुगति स्वभावापुद्गलं द्विधा भवति । मन्थाः पदप्रकाशः स्युः, पुद्गल-  
जलच्छायावतुरक्षयिकर्मप्रायोग्याप्रायोग्यभेदाः । तेषां भेदा दायमाणसूत्र-  
पूच्यते विस्तरेणेति ।

मलनादणुरित्युक्तः पूरणात्मकमन्थनामभाक् ।

मिनानेन पदार्थेण लोकायात्रा न वर्तते ।

१ अथ आचरणेन तेन दहितम् अनवरम् । वा न ममम् अनवरम् चिन्तनम् इत्यर्थः ।  
२ अनयपक्षा एवान्तर्वादिनस्तेरधुम्यं अधुमितम् अधस्तमित्यर्थः ।

विभावपुद्गलस्य स्यात्पानमेतत् —

अद्वधूलधूल धूलं धूलं सुहुमं च सुहुमधूलं च ।  
 सुहुमं अद्वधुमं इदि धरादियं होदि छम्मेयं ॥ २१ ॥  
 भूपवदमादीया भणिदा अद्वधूलधूलमिदि संधा ।  
 धूला इदि विण्णेया सप्पीजलतेलमादीया ॥ २२ ॥  
 छायातवमादीया धूलेदरखंधमिदि विषाणाहि ।  
 सुहुमधूलेदि भणिता संधा चउरक्खविसया य ॥ २३ ॥  
 सुहुमा हवन्ति संधा पावोग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो ।  
 तच्चिवरीया संधा अद्वसुहुमा इदि परूवेदि ॥ २४ ॥ चउक्कं ।

अतिस्थूलस्थूलाः, स्थूलाः, स्थूलसूक्ष्माश्च, सूक्ष्मस्थूलाश्च ।  
 सूक्ष्मा, अनिसूक्ष्मा, इति धरादयो भवन्ति षड्भेदाः ॥ २१ ॥  
 भूपर्वणाद्या भणिता अतिस्थूलस्थूलाः इति स्वधाः ।  
 स्थूला इति विज्ञेयाः सप्पिन्नल्लेखाद्याः ॥ २२ ॥  
 छायातवाद्याः स्थूलेतरस्वन्धा इति विनानीहि ।  
 सूक्ष्मस्थूला इति भणिताः स्वन्धाश्चतुरस्रविषयादयः ॥ २३ ॥  
 सूक्ष्मा भवन्ति स्वन्धप्रायोग्याः कर्मकर्णस्य पुनः ।  
 तद्विपरीनाः स्वन्धाः अनिसूक्ष्मा इति प्ररूपयन्ति ॥ २४ ॥

चतुष्कं ।

अतिस्थूलस्थूला हि ते राहु पुद्गलाः सुमेरुकुम्भिनीप्रभृतयः । घृतते-  
 लतक्ष्मीजलप्रभृतिसमस्तद्रव्याणि हि स्थूलपुद्गलाश्च । छायातपतमप्रभृतयः  
 स्थूलसूक्ष्मपुद्गलाः । स्पर्शनरसनग्राणश्रोत्रेन्द्रियाणां विषयाः सूक्ष्मस्थूलपुद्गलाः  
 शब्दस्पर्शसगन्धाः । शुभाशुभविणामद्वारेणामच्छतां शुभाशुभकर्मणां

योग्याः सूक्ष्मपुद्गलाः । एतेषां विपरीताः सूक्ष्मसूक्ष्मपुद्गलाः कर्मणामप्रयोग्या इत्यर्थः । अयं विभावपुद्गलक्रमः । तथाचोक्तं पञ्चास्तिकायसमयमध्ये—

“पुद्ग्री जलं च छाया चउरिदियविसयकम्मपाओग्गा ।

कम्मातीदा एवं छब्भेया पोग्गला होंति ”

उक्तं च मार्गप्रकाशे—

स्थूलस्थूलास्ततः स्थूला स्थूलसूक्ष्मास्ततः परे ।

सूक्ष्मस्थूलास्ततः सूक्ष्माः सूक्ष्मसूक्ष्मास्ततः परं” ॥

तथा चोक्तं भीमवृद्धतचन्द्रमूगिभिः—

“अस्मिन्ननादिनि महत्याविवेकानाञ्चो

वर्णादिमान् नटति पुद्गल एव नान्यः ।

रागादिपुद्गलविकागविरुद्धशुद्ध-

चेतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ॥

इति विविधविकल्पं पुद्गले दृश्यमानं

न च कुरु रतिभाव भव्यशार्दूल तस्मिन् ।

कुरु रतिमतुलां त्व चिच्चमत्कारमात्रे

भवमि हि पामश्रीकामिनीकामरूपः ॥

कारणकार्यपरमाणुद्रव्यस्वरूपाव्यानमेतत्:—

धाउचउक्कस्स पुणो जं हेऊ कारणंति तं णेयो ।

संधाणां अवसाणो णावदयो कज्जपरमाणु ॥२५॥

धातुचतुष्कम्य पुन यो हेतु कारणमिति म ज्ञेयः ।

स्मन्धानामवमानो ज्ञानव्य कारणपरमाणुः ॥ २६ ॥

पुष्टिव्यनेजावायसो धातुश्चत्वाः तेषां यो हेतुः स कारणपरमाणुः, स एव जपन्यपरमाणुः स्मन्धरुशगुणानामानन्याभावात्, समविप्रकाशयोग्योऽय इत्यर्थः । स्मन्धरुशगुणानामनन्वचम्प्योपि दाभ्याम् चतुर्भिः समनन्धः ।

विधिः दक्षविधिमाहृत्य । अयमुत्पन्नपरमाणुः । सत्तां पुनरुत्पन्नाय  
अन्येऽप्यन्यत्रभिन्नं विधत्ते य न कार्यपरमाणुः । अणवदचनुभेदः कार्य-  
परमाणुजन्योऽप्यनुभेदः, तस्य परमाणुइत्याय इत्यपघितत्वात् विभाका-  
भावात् परमाणुभाव इति । तथा धातुं प्रवक्ष्यमात्रे—

“ जिह्वा वा शृङ्गा वा अनुपगच्छामा तस्मा य विभक्ता वा ।

समस्तो ह्युपगच्छति यत्राति हि आदिपगच्छिणा ” ॥

“ विधत्तमेण दुग्धेण बहुगुणगिद्धेण बहुमणुहादि ।

दुग्धमेण वा त्रिगुणिहो अणु ब्रह्मादि पञ्चगुणतुल्यो ”

तथा हि—

तन्मये च दृष्टव्यैः किं यन्मिष्टुभिर्मम ।

आत्मानमक्षयं शुद्धं भावयामि सुहृद्भिः ॥

परमाणुविशेषो निश्चिद्यः—

अभादि अक्षमज्ज्ञं अक्षतं णेव इंदिए मेज्ज्ञ ।

अविभागी जं दध्यं परमाणु तं विआणाहि ॥२६॥

आत्माद्यात्ममयमात्मान्तन्मयेचेन्द्रियमोक्षाय ।

अविभागी यद्वत्त्वं परमाणु तद् विजानीहि ॥ २६ ॥

यथा जीवानां निव्यानिव्यनिर्गोदादिसिद्धक्षेत्रपर्यन्तगच्छितानां सहज-  
परमपरिणामिकभावविशेषमाश्रयणं सहजनिश्चयनदेन स्वस्वरूपानु-  
प्रवृत्तवत्त्वमुत्तमं, तथा परमाणुइत्याणां पंचमभावेन परमस्वभावत्वा-  
द्यात्मपरिणामं तत्पदेवादि, मथ्यो हि आत्मपरिणतेनात्मैव । औनोपि  
स्वम्यात्मैव परमाणुगतः न चेन्द्रियज्ञानमोक्षत्वाद् अनिदीयत्वा-  
दिभिर्निश्चयत्वाविभागी हे शिष्य म परमाणुमिति त्व तं जानीहि ।

अप्यात्मनि स्थितिं बुद्ध्या पुनरुत्पन्नं जहात्मनः ।

सिद्धान्ते किं न तिष्ठति स्वस्वरूपे चिदात्मनि ॥

योग्याः सूक्ष्मपुद्गलाः । एतेषां विपरीताः सूक्ष्मसूक्ष्मपुद्गलाः कर्मणामप्रयोग्या  
इत्यर्थः । अयं विभावपुद्गलक्रमः । तथाचोक्तं पञ्चास्तिकायसमयमध्ये—

“पुद्ग्वी जलं च छाया चउरिदियविसयकम्मपाओग्गा ।  
कम्मातीदा एवं छब्बेया पोग्गला होंति ”

उक्तं च मार्गप्रकाशे—

स्थूलस्थूलास्ततः स्थूला स्थूलसूक्ष्मास्ततः परे ।  
सूक्ष्मस्थूलास्ततः सूक्ष्माः सूक्ष्मसूक्ष्मास्ततः परे” ॥  
तथा चोक्तं श्रीमद्भुतचन्द्रमणिभिः—

“ अस्मिन्ननादिनि महत्याविवेकानात्पे  
वर्णादिमान् नटति पुद्गल एव नान्यः ।  
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-  
चेतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ॥  
इति विविधविकल्पे पुद्गलं दृश्यमानं  
न च कुरु रतिभावं भव्यशार्दूल तस्मिन् ।  
कुरु रतिमतुलां त्व विज्ञमन्कागमात्रे  
भवसि हि परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥

कारणकार्यपरमाणुद्रव्यस्वरूपान्वयानमेतत्. —

धाउचउक्कस्स पुणो जं हेऊ कारणंति तं णेयो  
रांधाणां अवसाणो णाददशो कज्जपरमाणू ॥२॥  
धातुचतुष्कम्य पुन यो हेतु कारणमिति म ज्ञेय. ।  
म्हन्धानामवसानो ज्ञानव्य कार्यपरमाणु ॥ २५ ॥

पृथिव्यग्नेजोवायवो धावदृश्यत्वात् तेषां यो हेतुः स कारणपरमाणुः,  
एव जपन्दपरमाणुः स्मर्यरूपगुणानामानन्त्याभावात्, समविषमवर्णयोग्या  
इत्यर्थः । शिथ्यरूपगुणानामनन्तत्वम्येतद्विद्वद्भाष्ये चतुर्भिः समबन्धः

[illegible]

<sup>21</sup>। जिन्हा का स्वभाव का अन्तर्निहितता तात्तु व विनमता का ।

“सर्वे भूतानि भूयः कर्तुं शक्नुवन्ति” ॥

॥ विद्यमानेषां भूतानां बहुभयानिष्ठेषां बहुभयानिष्ठेषां ।

स्वर्गोक्तं वा निगूणिदो अणुं ब्रह्मादि पञ्चगुणभूतं ।



॥१॥ ॥२॥ ॥३॥ ॥४॥ ॥५॥ ॥६॥ ॥७॥ ॥८॥ ॥९॥ ॥१०॥ ॥११॥ ॥१२॥ ॥१३॥ ॥१४॥ ॥१५॥ ॥१६॥ ॥१७॥ ॥१८॥ ॥१९॥ ॥२०॥ ॥२१॥ ॥२२॥ ॥२३॥ ॥२४॥ ॥२५॥ ॥२६॥ ॥२७॥ ॥२८॥ ॥२९॥ ॥३०॥ ॥३१॥ ॥३२॥ ॥३३॥ ॥३४॥ ॥३५॥ ॥३६॥ ॥३७॥ ॥३८॥ ॥३९॥ ॥४०॥ ॥४१॥ ॥४२॥ ॥४३॥ ॥४४॥ ॥४५॥ ॥४६॥ ॥४७॥ ॥४८॥ ॥४९॥ ॥५०॥ ॥५१॥ ॥५२॥ ॥५३॥ ॥५४॥ ॥५५॥ ॥५६॥ ॥५७॥ ॥५८॥ ॥५९॥ ॥६०॥ ॥६१॥ ॥६२॥ ॥६३॥ ॥६४॥ ॥६५॥ ॥६६॥ ॥६७॥ ॥६८॥ ॥६९॥ ॥७०॥ ॥७१॥ ॥७२॥ ॥७३॥ ॥७४॥ ॥७५॥ ॥७६॥ ॥७७॥ ॥७८॥ ॥७९॥ ॥८०॥ ॥८१॥ ॥८२॥ ॥८३॥ ॥८४॥ ॥८५॥ ॥८६॥ ॥८७॥ ॥८८॥ ॥८९॥ ॥९०॥ ॥९१॥ ॥९२॥ ॥९३॥ ॥९४॥ ॥९५॥ ॥९६॥ ॥९७॥ ॥९८॥ ॥९९॥ ॥१००॥

आचार्यश्री १०६ भाष्यसि भाष्यसि ॥

प्राप्तकर्ता के नाम पर लिखें —

अणादि अक्षमज्ज्ञां अक्षेत्रं जेव इंदिरा गंजरा ।

अदिभार्गी जे दृष्य परमाणु मं विआणादि ॥२६॥

आत्मा च त्वमभ्यमात्मानं न संरेन्द्रिर्मात्रम् ।

अविधायि यद्वाग्यं परमाणुं तद् विमानादि ॥ २६ ॥

यथा जीवानां निष्पन्ननिष्पत्तिर्मांसादिरिति कथं च पर्यन्तमिदं तानां सत्त्व-  
समस्पर्शान्मिदं भावविशेषमाश्रयेत् । सत्त्वनिष्ठस्य मनसोऽपि सत्त्वस्यैव  
सत्त्वस्यैव तन्मयम्, तथा एवमाणुष्याणां चन्द्रमावेन एवमाश्रयत्वा-  
द्वाक्यवर्णनाय तद्वैश्वि, मायौ हि आत्मनिष्ठेभ्योऽपि । अतोऽपि  
स्वस्यामेव एवमाणुष्याः स चेन्द्रियज्ञानमोषत्वाद् आनिष्ठान्तरा-  
दिभिर्विद्वत्तत्वाविभागी । इति च एवमाणुष्येति त्वं तं जानीहि ।

अव्यात्मनि स्थितिः शुद्धा पुनरुत्पत्त्ये अहमनः ।

गिद्धानं विं न लिङ्गि स्वस्वम् चिदात्मनि ॥

स्विभावपुद्गलस्वरूपास्यानमेतत्—

एयरसरूवगंधं द्रोफासं तं हवे सहावगुणं ।

विहावगुणमिदि भणिदं जिणसमये सच्चपयडत्तं २७॥

एकरसरूपगंधः द्विस्पर्शः स भवेत्स्वभावगुणः ।

विभावगुणा इति भणितो निनसमये सर्वप्रकटत्वम् ॥ २७ ॥

तिनकटुककपायाम्लमधुरामिधानेषु पंचसु रसेष्वेकगतः । श्वेतपी-  
तहरितारुणकृष्णवर्णेष्वेकवर्णः सुगन्धदुर्गन्धयोरेकगंधः । कर्कशमृदुगुल-  
घुशीतोष्णस्निग्धरूक्षाभिधानामष्टानामन्त्यचतुःस्पर्शाविरोधस्पर्शनद्वयम् ।  
एते परमाणोः स्वभावगुणाः जिज्ञानां मते । विभावगुणात्मको विभावपुद्गलः ।  
अस्य द्व्यणुकादिस्कंधरूपस्य विभावगुणाः सकलकरणग्रामग्राहा इत्यर्थः ।  
तथा चोक्तं पंचास्तिङ्गियसमये—

“ एयरसरूवगंधं द्रोफासं सइकारणमसइं ।

संधेतरिदं दध्वं पग्माणुं तं रियाणाहि ” ॥

उक्तं च मार्गप्रकाशे—

“ वसुधान्त्यचतुस्पर्शेषु चिन्त्यं स्पर्शनद्वयम् ।

वर्णो गन्धो रसइत्येकः पग्माणो न चेतरे ॥ ”

तथा हि—

अथ सति पग्माणोरेकवर्णादिभास्व—

ध्विजगुणानिचयेऽस्मिन् नास्ति मे क्कार्पमिदिः ।

इति निजइदि मत्ता शुद्धमात्मानमेकम्

पग्ममुत्पदार्थी भावयेद्द्वयलोकः ॥

पुद्गलव्याप्यव्यवस्थानभेदतः—

अण्णापिरावेक्खो जो परिणामो सो सहायपज्जायो ।

संधसरूवण पुणो परिणामो सो विहायपज्जायो ॥ २८ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

॥ इति श्रीमद्भगवत्पुस्तके अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

[illegible]

सप्तमः अङ्कः । अष्टमः अङ्कः ।

॥ श्री गुरुभ्यो नमः ॥

आन्विजितानां ऐश्वर्याय नमः

॥ अथ भास्वति संप्रति सांख्ये विनोद लब्धः ॥

[illegible]

पौष्पलदृष्टं उच्यते परमाणु निष्पत्त्यै इदं ।

पौगण्डप्योसि पुणो वषट्सो हौदि तथम्स ॥ २९ ॥

पुनरुद्भवस्य कारणेण पुनरावृत्तिर्नास्तीति चेन्न तत्राह

षट्कम्द्रव्यादिनि पुन. स्वपदेशो भवति गान्धर्व्य ॥ २९ ॥

स्वभावाद्द्वयपक्षाध्यामकस्य ध्यामनोगैव पुनरद्वयपक्षवद्देशोपपत्तेः शुद्ध-  
निश्चयेन । इत्येवमप्यवतामनेयेन विभाक्यपक्षाध्यामना रक्त्वनुद्गतानां  
पुनरद्वयपक्षवत्तः निश्चयं भवति ।

इति जिनसि मार्गाः शुद्धतत्त्वार्थज्ञानः

अथ शतं पामदोषं योगनाशने च ।

भगवत् परमहंस विष्णुभक्त्यामाय

पुनर्निर्माणमन्त्रनिर्दिष्टं समाधिम् ॥

पुण्योऽप्येतनो जीवदधतनधेति कल्पना ।



सापि प्राथमिकानां स्यान्न स्यान्निष्पन्नयोगिनाम् ॥

अचेतने पुद्गलकायकेऽस्मिन्

सचेतने वा परमात्मतत्त्वे ।

न रोपभावो न च रागभावो

भवेदियं शुद्धदशा यतीनाम् ॥

धर्माधर्माकाशानां संक्षेपोक्तिरियम्: —

गमणाणिमित्तं धम्ममधम्मं ठिदि जीवपुद्गलाणं च ।

अवगहणं आयासं जीवादीसव्वदब्बाणं ॥ ३० ॥

गमननिमित्तो धर्मोऽधर्मः स्थिते: जीवपुद्गलानां च ।

अवगाहनस्याकाशं जीवादिमव्वदब्बाणाम् ॥ ३० ॥

अयं धर्मास्तिकायः स्वयं गतिक्रियाहेतुः दीर्घिकोदकवत् । स्वभावगतिक्रियापरिणतस्य योगिनः पञ्चदम्बाक्षरोच्चारणमात्रस्थितस्य भगवतः सिद्धनामधेययोग्यस्य पदकायकमविमुक्तस्य मुनिवामलोचनालोचनगोचरस्य त्रिलोकशिखरीशेसरस्य अपहस्तितसमस्तकेशावामर्पणविधिसंसारस्य पञ्चमगतिशान्तस्य स्वभावगतिक्रियाहेतुः धर्मः । अपि च । पदकायकमपुतानां संमार्गिणां विभारगतिक्रियाहेतुश्च । यथोदकः पार्थिवानां कारणं तथा तेषां जीवपुद्गलानां गमनकारणं, स धर्मः सोऽयममूर्तः अस्पृशन्नविनिर्मुक्तः वर्णरसगन्धकर्मध्वनिपरिनिर्मुक्तश्च अगुरुकलपुत्रादिगुणाधारः लोकमात्राभाः अगण्यदृश्यवार्थः ।

सकभुवो गुणाः कमवर्तिन पय्यायाइचंनि, पचनाइस्य गतिहेतोर्धर्मद्वयस्य शुद्धगुणाः शुद्धपय्याया भवन्ति । अधर्मद्वयस्य स्थितिहेतुविशेषगुणः । अय्येव तस्याधर्मास्तिकायस्य गुणपय्याया गर्वं भवन्ति । आकाशस्यावकाशदानरक्षणमेव विशेषगुणः इतर धर्मोऽयमंगुणाः स्मर्याणि सदृशा इत्यर्थः । लोकमात्राधर्माऽर्थाः समानवमागन्ते मति न ह्यलोकाकाशस्य ह्यस्यमिति ॥

इह समनन्तिमिन् दन्तिधरे बाल्ये वा  
 वदन्ममिच्छान्तां ग्यानदानवर्षिणं ।  
 मद्गितमवशं वयं हृदयमपेक्षं सम्यक्  
 ब्रविदन्तु निमग्नं गर्भदा भव्यलोकाः ।

एवमात्मकान्तर्यामिनिविधाविकल्पकधनाभिदम् —

समयावलिभेदेण दु द्विवियप्यं अहय होइ तिवियप्यं ।  
 तदो संगेज्जावलिहदसंठाणप्पमाणं तु ॥ ३१ ॥

समयावलिभेदेन तु द्विवियप्योऽथवा भवति द्विविकल्पः ।

अतीतोऽमम्यानावलिहदसंठाणं प्रमाणं तु ॥ ३१ ॥

एवमिच्छाभेदेनो वाः परमाणुस्त्रिषुनि समन्यः परमाणुर्मन्दचलनात्तुंष्यति  
 स समयो व्यवहारकालः साहसोरसंस्पृक्षतममयोः निमेषः, अथवा नयनपुटपट-  
 मायनो निमेषः । निमेषाष्टकैः बाह्या, षोडशाभित्वाष्टाभिकला, द्वाविंशत्यन्त्रा-  
 भिर्यष्टिका, षष्टिनात्रिकमलेगत्रम् । त्रिंशद्दशैरात्रैर्मामः । द्वाभ्याम् मामाभ्याम्  
 क्तु । क्तुभिर्द्विभिर्गयनम् । अयनद्वयेन संवनारः । इत्यादिद्वित्र्यवहारकालक्रमः ।  
 इत्थं समयावलिभेदेन द्विधा भवति । अतीतानागतकर्तमानभेदात् त्रिधा । अती-  
 तकालप्रपञ्चोपमुच्यते—अतीतमिच्छानो सिद्धपर्यायवाद्बुर्भावममयात् पुणगतो  
 ह्यवस्थादिव्यवहारकालः स कालम्येवा संगगावस्थाया यानि संस्थानानि  
 गतानि तैः सहसन्वाइनन्तः अनागतकालोऽप्यनागतमिच्छानामनागमदर्शग-  
 जि यानि तैः सहसन्वाः मुक्तेः सकाशादित्यर्थः ।

तथा चोक्तं पञ्चाभित्वायसमये—

“ समभो जिमिसो कडा कडा य णाली तदो दिवा रत्ती ।

मामोदुअयणमंवस्सगोनि कालो पणयतो ”

तथा हि

समयनिमित्तकाष्ठा सत्कलानाडिकाया—

दिवसरजनिभेदाज्जायते काल एषः ।

न च भवति फलं मे तेन कालेन किञ्चि-

न्निजनिरूपमतत्त्वं शुद्धमेकं विहाय ॥

मुख्यकालस्वरूपाख्यानमेतत्:—

जीवाद् पुग्गलादोऽणंतगुणा चावि संपदा समया ।  
लोयायासे संति य परमढी सो हवे कालो ॥ ३२ ॥

जीवान् पुद्गलतोऽनन्तगुणाश्चापि संप्रति समयाः ।

लोकाकाशे सति न परमार्थः स भवेत्कालः ॥ ३२ ॥

जीवगणेशः पुद्गलगणेशः सद्भाशादनन्तगुणाः । के ते । समयाः कालाणः  
लोकाकाशप्रदेशेषु पृथक् पृथक् तिष्ठन्ति स कालः परमार्थः इति । तथा  
शोकः प्रवचनमात्रे—

“ समओ दु, अण्देमो पदेममेनम्म द्रियजादस्म ।

वदिद्वदं सो वदुदि पदेममागामद्रियम्म ”

अस्यापि समयशब्देन मुख्यकालाणस्वरूपमुक्तं । समओ समयस्य  
सम्योपादानकाण्यत्वात् समयः । दु पुनः । अण्देमो, द्वितीयादिप्रदेश-  
रहितो भवति । सो वदुदि, स पूर्वोक्तकालाणः गतिपरिणतः सत्कारित्वेन  
वर्तते । पदेममेनम्म द्रियजादस्म प्रदेशमात्रपुद्गलजातिरूपपरमाणुद्रव्यस्य ।  
दि कुर्वतः । वदिद्वदं, व्यतिपन्नं भेदगत्या गच्छतः । कम् । पदेमं का-  
लाण्यन्तमेकप्रदेशं । कम्प सत्त्वाधिनः । आगामद्रियम्म, आकाशद्रव्यायेति ।

अन्यथा—

“ लोकाकाशप्रदेशे एकेके मे णिया नु एकेका  
वदण्णणी रग्गी इव ते कादाणु अणमद्रव्याणि ”

उतं च मार्गवशात्—“कालाभावे न भावानां परिणामस्तदन्तर्गतः ।  
न द्रव्यं नापि पार्याया, सर्वोभावः प्रगज्यते ॥

तथा हि—

“वर्तमाने तु ये स्यात्, कुम्भरूपमेव तत् ।

एवञ्चानाम्भित्तायानां मान्यथा वर्तना भवेत् ॥

प्रतिनिर्गोचरा सर्वे जीवबुद्ध्युत्पन्नाः ॥

धर्माधर्मनभक्त्याः सिद्धा सिद्धान्तसिद्धये ।

कालादिद्रव्यामूर्ताद्येनद्रव्याणां स्वभावगुणपर्यायाभ्यामेतत् ।

जीवादीद्रव्याणं परिवर्तनकारणं ह्ये कालो ।

धर्मादिचओसेणं सहाउगुणपञ्जया ह्यन्ति ॥३३॥

जीवादिद्रव्याणां परिवर्तनकारणं भवेत्कालः ।

धर्मादिचतुर्णां स्वभावगुणपर्याया भवन्ति ॥ ३३ ॥

इत हि मुख्यकालद्रव्यं जीवबुद्ध्यधर्माधर्माकाशानां पर्यायगणतिहेतुत्वात्  
परिवर्तननिद्रुमिन्पुनः । अथ धर्माधर्माकाशकालानां स्वजातीयवधसम्ब-  
न्धाभावात् विभावगुणपर्यायाः न भवन्ति, अपि तु स्वभावगुणपर्याया भव-  
न्तीत्यर्थः । ते गुणपर्याया पूर्वं प्रतिपादिताः अतएवात्र संक्षेपतः सूचिता इति ।

इतिविशिनमुत्तरेद्रव्यपटुम्य माम्बद्ध—

विशणमातिगम्यं भव्यकर्णामुत यत् ।

तदिह निजमुनीना दत्तचिनप्रमोद

भवतु मवविमुक्तये सर्वदा भव्यजन्तोः ॥

अत्र कालद्रव्यमन्तर्गण पूर्वोक्तद्रव्याण्येव पञ्चाभित्ताया मवर्तित्पुनश्च ।

एदे छद्दव्याणि य कालं मोक्षुण अतिधकायत्ति ।

णिदिहा जिणसमये काया हु वहुप्पदेसत्तं ॥ ३४ ॥



लोकाकाशे तद्वदितरस्यानन्ता भवन्ति देशाः ।

कालस्य न कायत्वं एकप्रदेशो भवेद्यम्मान् ॥ ३६ ॥ शुभं ।

शुद्धपुद्गलपरमाणुना गृहीतं न भग्यत्वेव प्रदेशाः । एवंविधा पुद्गलद्रव्यस्य प्रदेशाः संख्याता असंख्याता अनन्ताश्च । लोकाकाशधर्माधर्मैकजीवानाम्-संख्यातप्रदेशा भवन्ति । इतरस्यालोकाकाशस्यानन्ताः प्रदेशा भवन्ति कालम्येक-देशो भवति अतः कारणादस्य कायत्वं न भवति अपि तु द्रव्यत्वमस्त्येवेति ।

पदार्थात्लाभर्णं मुमुक्षोः

कृते मया कंठविभूषणार्थम् ।

अनेन धीमान् व्यवहारमार्गं

बुद्धा पुनर्बोधति शुद्धमार्गम् ॥

अजीवद्रव्यव्याख्यानोपमेयारोपम्—

पुग्गलद्रव्यं मोक्षं मुक्तिविरहिया हर्षति संसाणि ।

चेदणभावो जीओ चेदणगुणवज्जिया संसा ॥ ३७ ॥

पुद्गलद्रव्यं मूर्तं मूर्तिविरहितानि भवन्ति देशाणि ।

चैतन्यभावो जीवः चैतन्यगुणवर्तिनानि देशाणि ॥ ३७ ॥

तेषु मूलपदार्थेषु पुद्गलस्य मूर्तत्वम् । इतरेषाममूर्तत्वम् । जीवाय चैत-  
नत्वम् इतरेषामचेतनत्वम् । स्वमार्गीयविमार्गीयव्यवहारपक्षेणा जीवपुद्ग-  
लयोगशुद्धत्वम्, धर्मादीनां चतुर्णां विशेषगुणापेक्षया शुद्धत्वमेवेति ।

इति ललितपदानामावृत्तिर्भूति नित्यम्

वदुनसारसि जाते यस्य भव्योत्तमस्य ।

तपदि तमयगारं तस्य हसुगुणिके

लपति निरीतबुद्धेः हि पुनरिच्छितमेव ॥



न तदु स्वभावस्थानानि न मानापमानभावस्थानानि वा ।  
न हर्षभाक्स्थानानि न नीचस्य हर्षस्थानानि वा ॥ १९ ॥

विहातनिष्ठाधिष्ठितस्य शुद्धजीवात्मिकापस्य न तदु विभाव-  
स्वभावस्थानानि । प्रशान्ताप्रशान्तसमस्तमोहरागद्वेषाभावात् न मानापमान-  
हेतुभूतकर्मोदयस्थानानि । न तदु परिणतेरभावात्तुभक्त्यभावात् शुभसंसार-  
सुखं संसारणुत्तम्याभावात् हर्षस्थानानि । न चाशुभरणतेरभावाद्शुभकर्म ।  
अशुभकर्मभावात् दुःखं, दुःखाभावात् चार्हस्थानानि चेति ।

प्रतिपत्तिविमुक्तसाम्बतपदे निःशेषतोऽन्तर्मुखा-

निर्भेदेदितशर्मनिर्मितविषद्विवाहृताश्रमि ।

येनन्दामृतपूरपूर्णवपुषे प्रेक्षावती गोचरे

बुद्धिं हि न क्वगोपि वाञ्छति सुरां त्वं संसृतेर्दुःकुते ॥

णो विदियंधटाणा पयट्टिटाणा पदेसठाणा वा ।

णो अणुभागटाणा जीवस्स ण उदयठाणा वा ॥ ४० ॥

न स्थितिवन्धस्थानानि प्रवृत्तिस्थानानि प्रदेशस्थानानि वा ।

नानुभागस्थानानि जीवस्य नोदयस्थानानि वा ॥ ४० ॥

अत्र प्रवृत्तिस्थित्यनुभागप्रदेशबन्धोदयस्थानानि, ज्ञानावरणादष्टकर्मणां  
तत्तयोग्यपुद्गलद्रव्यम्बाधारः प्रवृत्तिबन्धः, तस्य स्थानानि न भवन्ति । अणु-  
द्धान्तस्मत्तत्कर्मपुद्गलयोः परस्परप्रदेशानुप्रवेशः प्रदेशबन्धः, अस्य बन्धस्य  
स्थानानि वा न भवन्ति । शुभाशुभकर्मणां निर्जराममये. सुरदुःखफलप्र-  
दानशान्तियुक्तो ह्यनुभागबन्धः, अस्य स्थानानां वा न चावकाशः । न च  
द्रव्यभावकर्मोदयस्थानानामप्यवकाशोऽस्ति इति ।



॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

\* मं ७ ति।परी दम्भः... (faint text)

॥ अथ भगवत्पुत्रोक्तं ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

॥ अथ श्रीगणेशाय नमः ॥

Figure 2

[illegible][illegible]

19 總字數 17 字 17 字 17 字 17 字

$$H^1(X, \mathbb{R}) \cong H^1(X, \mathbb{C}) \oplus H^1(X, \mathbb{R}) \oplus H^1(X, \mathbb{R}) \oplus H^1(X, \mathbb{R})$$

47 115 116 117 118 119 120 121 122 123 124 125 126 127 128 129 130 131 132 133 134 135 136 137 138 139 140 141 142 143 144 145 146 147 148 149 150 151 152 153 154 155 156 157 158 159 160 161 162 163 164 165 166 167 168 169 170 171 172 173 174 175 176 177 178 179 180 181 182 183 184 185 186 187 188 189 190 191 192 193 194 195 196 197 198 199 200 201 202 203 204 205 206 207 208 209 210 211 212 213 214 215 216 217 218 219 220 221 222 223 224 225 226 227 228 229 230 231 232 233 234 235 236 237 238 239 240 241 242 243 244 245 246 247 248 249 250 251 252 253 254 255 256 257 258 259 260 261 262 263 264 265 266 267 268 269 270 271 272 273 274 275 276 277 278 279 280 281 282 283 284 285 286 287 288 289 290 291 292 293 294 295 296 297 298 299 300 301 302 303 304 305 306 307 308 309 310 311 312 313 314 315 316 317 318 319 320 321 322 323 324 325 326 327 328 329 330 331 332 333 334 335 336 337 338 339 340 341 342 343 344 345 346 347 348 349 350 351 352 353 354 355 356 357 358 359 360 361 362 363 364 365 366 367 368 369 370 371 372 373 374 375 376 377 378 379 380 381 382 383 384 385 386 387 388 389 390 391 392 393 394 395 396 397 398 399 400 401 402 403 404 405 406 407 408 409 410 411 412 413 414 415 416 417 418 419 420 421 422 423 424 425 426 427 428 429 430 431 432 433 434 435 436 437 438 439 440 441 442 443 444 445 446 447 448 449 450 451 452 453 454 455 456 457 458 459 460 461 462 463 464 465 466 467 468 469 470 471 472 473 474 475 476 477 478 479 480 481 482 483 484 485 486 487 488 489 490 491 492 493 494 495 496 497 498 499 500 501 502 503 504 505 506 507 508 509 510 511 512 513 514 515 516 517 518 519 520 521 522 523 524 525 526 527 528 529 530 531 532 533 534 535 536 537 538 539 540 541 542 543 544 545 546 547 548 549 550 551 552 553 554 555 556 557 558 559 560 561 562 563 564 565 566 567 568 569 570 571 572 573 574 575 576 577 578 579 580 581 582 583 584 585 586 587 588 589 590 591 592 593 594 595 596 597 598 599 600 601 602 603 604 605 606 607 608 609 610 611 612 613 614 615 616 617 618 619 620 621 622 623 624 625 626 627 628 629 630 631 632 633 634 635 636 637 638 639 640 641 642 643 644 645 646 647 648 649 650 651 652 653 654 655 656 657 658 659 660 661 662 663 664 665 666 667 668 669 670 671 672 673 674 675 676 677 678 679 680 681 682 683 684 685 686 687 688 689 690 691 692 693 694 695 696 697 698 699 700 701 702 703 704 705 706 707 708 709 710 711 712 713 714 715 716 717 718 719 720 721 722 723 724 725 726 727 728 729 730 731 732 733 734 735 736 737 738 739 740 741 742 743 744 745 746 747 748 749 750 751 752 753 754 755 756 757 758 759 760 761 762 763 764 765 766 767 768 769 770 771 772 773 774 775 776 777 778 779 780 781 782 783 784 785 786 787 788 789 790 791 792 793 794 795 796 797 798 799 800 801 802 803 804 805 806 807 808 809 810 811 812 813 814 815 816 817 818 819 820 821 822 823 824 825 826 827 828 829 830 831 832 833 834 835 836 837 838 839 840 841 842 843 844 845 846 847 848 849 850 851 852 853 854 855 856 857 858 859 860 861 862 863 864 865 866 867 868 869 870 871 872 873 874 875 876 877 878 879 880 881 882 883 884 885 886 887 888 889 890 891 892 893 894 895 896 897 898 899 900 901 902 903 904 905 906 907 908 909 910 911 912 913 914 915 916 917 918 919 920 921 922 923 924 925 926 927 928 929 930 931 932 933 934 935 936 937 938 939 940 941 942 943 944 945 946 947 948 949 950 951 952 953 954 955 956 957 958 959 960 961 962 963 964 965 966 967 968 969 970 971 972 973 974 975 976 977 978 979 980 981 982 983 984 985 986 987 988 989 990 991 992 993 994 995 996 997 998 999 1000 1001 1002 1003 1004 1005 1006 1007 1008 1009 1010 1011 1012 1013 1014 1015 1016 1017 1018 1019 1020 1021 1022 1023 1024 1025 1026 1027 1028 1029 1030 1031 1032 1033 1034 1035 1036 1037 1038 1039 1040 1041 1042 1043 1044 1045 1046 1047 1048 1049 1050 1051 1052 1053 1054 1055 1056 1057 1058 1059 1060 1061 1062 1063 1064 1065 1066 1067 1068 1069 1070 1071 1072 1073 1074 1075 1076 1077 1078 1079 1080 1081 1082 1083 1084 1085 1086 1087 1088 1089 1090 1091 1092 1093 1094 1095 1096 1097 1098 1099 1100 1101 1102 1103 1104 1105 1106 1107 1108 1109 1

1. 2. 3. 4. 5. 6. 7. 8. 9. 10. 11. 12. 13. 14. 15. 16. 17. 18. 19. 20. 21. 22. 23. 24. 25. 26. 27. 28. 29. 30. 31. 32. 33. 34. 35. 36. 37. 38. 39. 40. 41. 42. 43. 44. 45. 46. 47. 48. 49. 50. 51. 52. 53. 54. 55. 56. 57. 58. 59. 60. 61. 62. 63. 64. 65. 66. 67. 68. 69. 70. 71. 72. 73. 74. 75. 76. 77. 78. 79. 80. 81. 82. 83. 84. 85. 86. 87. 88. 89. 90. 91. 92. 93. 94. 95. 96. 97. 98. 99. 100. 101. 102. 103. 104. 105. 106. 107. 108. 109. 110. 111. 112. 113. 114. 115. 116. 117. 118. 119. 120. 121. 122. 123. 124. 125. 126. 127. 128. 129. 130. 131. 132. 133. 134. 135. 136. 137. 138. 139. 140. 141. 142. 143. 144. 145. 146. 147. 148. 149. 150. 151. 152. 153. 154. 155. 156. 157. 158. 159. 160. 161. 162. 163. 164. 165. 166. 167. 168. 169. 170. 171. 172. 173. 174. 175. 176. 177. 178. 179. 180. 181. 182. 183. 184. 185. 186. 187. 188. 189. 190. 191. 192. 193. 194. 195. 196. 197. 198. 199. 200. 201. 202. 203. 204. 205. 206. 207. 208. 209. 210. 211. 212. 213. 214. 215. 216. 217. 218. 219. 220. 221. 222. 223. 224. 225. 226. 227. 228. 229. 230. 231. 232. 233. 234. 235. 236. 237. 238. 239. 240. 241. 242. 243. 244. 245. 246. 247. 248. 249. 250. 251. 252. 253. 254. 255. 256. 257. 258. 259. 260. 261. 262. 263. 264. 265. 266. 267. 268. 269. 270. 271. 272. 273. 274. 275. 276. 277. 278. 279. 280. 281. 282. 283. 284. 285. 286. 287. 288. 289. 290. 291. 292. 293. 294. 295. 296. 297. 298. 299. 300. 301. 302. 303. 304. 305. 306. 307. 308. 309. 310. 311. 312. 313. 314. 315. 316. 317. 318. 319. 320. 321. 322. 323. 324. 325. 326. 327. 328. 329. 330. 331. 332. 333. 334. 335. 336. 337. 338. 339. 340. 341. 342. 343. 344. 345. 346. 347. 348. 349. 350. 351. 352. 353. 354. 355. 356. 357. 358. 359. 360. 361. 362. 363. 364. 365. 366. 367. 368. 369. 370. 371. 372. 373. 374. 375. 376. 377. 378. 379. 380. 381. 382. 383. 384. 385. 386. 387. 388. 389. 390. 391. 392. 393. 394. 395. 396. 397. 398. 399. 400. 401. 402. 403. 404. 405. 406. 407. 408. 409. 410. 411. 412. 413. 414. 415. 416. 417. 418. 419. 420. 421. 422. 423. 424. 425. 426. 427. 428. 429. 430. 431. 432. 433. 434. 435. 436. 437. 438. 439. 440. 441. 442. 443. 444. 445. 446. 447. 448. 449. 450. 451. 452. 453. 454. 455. 456. 457. 458. 459. 460. 461. 462. 463. 464. 465. 466. 467. 468. 469. 470. 471. 472. 473. 474. 475. 476. 477. 478. 479. 480. 481. 482. 483. 484. 485. 486. 487. 488. 489. 490. 491. 492. 493. 494. 495. 496. 497. 498. 499. 500. 501. 502. 503. 504. 505. 506. 507. 508. 509. 510. 511. 512. 513. 514. 515. 516. 517. 518. 519. 520. 521. 522. 523. 524. 525. 526. 527. 528. 529. 530. 531. 532. 533. 534. 535. 536. 537. 538. 539. 540. 541. 542. 543. 544. 545. 546. 547. 548. 549. 550. 551. 552. 553. 554. 555. 556. 557. 558. 559. 560. 561. 562. 563. 564. 565. 566. 567. 568. 569. 570. 571. 572. 573. 574. 575. 576. 577. 578. 579. 580. 581. 582. 583. 584. 585. 586. 587. 588. 589. 590. 591. 592. 593. 594. 595. 596. 597. 598. 599. 600. 601. 602. 603. 604. 605. 606. 607. 608. 609. 610. 611. 612. 613. 614. 615. 616. 617. 618. 619. 620. 621. 622. 623. 624. 625. 626. 627. 628. 629. 630. 631. 632. 633. 634. 635. 636. 637. 638. 639. 640. 641. 642. 643. 644. 645. 646. 647. 648. 649. 650. 651. 652. 653. 654. 655. 656. 657. 658. 659. 660. 661. 662. 663. 664. 665. 666. 667. 668. 669. 670. 671. 672. 673. 674. 675. 676. 677. 678. 679. 680. 681. 682. 683. 684. 685. 686. 687. 688. 689. 690. 691. 692. 693. 694. 695. 696. 697. 698. 699. 700. 701. 702. 703. 704. 705. 706. 707. 708. 709. 710. 711. 712. 713. 714. 715. 716. 717. 718. 719. 720. 721. 722. 723. 724. 725. 726. 727. 728. 729. 730. 731. 732. 733. 734. 735. 736. 737. 738. 739. 740. 741. 742. 743. 744. 745. 746. 747. 748. 749. 750. 751. 752. 753. 754. 755. 756. 757. 758. 759. 760. 761. 762. 763. 764. 765. 766. 767. 768. 769. 770. 771. 772. 773. 774. 775. 776. 777. 778. 779. 780. 781. 782. 783. 784. 785. 786. 787. 788. 789. 790. 791. 792. 793. 794. 795. 796. 797. 798. 799. 800. 801. 802. 803. 804. 805. 806. 807. 808. 809. 810. 811. 812. 813. 814. 815. 816. 817. 818. 819. 820. 821. 822. 823. 824. 825. 826. 827. 828. 829. 830. 831. 832. 833. 834. 835. 836. 837. 838. 839. 840.

\* 1997 年 11 月 16 日 9:05 分 在 9000 米 处 发现 1 只 幼 鲸

३२१ ॥ अथ ईश्वरदेवतायाः प्रमाणं ॥ अथ ईश्वरदेवतायाः प्रमाणं ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

$\alpha = \frac{1}{2} + i\beta$ , where  $\beta$  is real.

$$A_{\alpha} = \begin{pmatrix} 1 & 0 & 0 \\ 0 & 1 & 0 \\ 0 & 0 & 1 \end{pmatrix}, \quad B_{\alpha} = \begin{pmatrix} 0 & 0 & 0 \\ 0 & 0 & 0 \\ 0 & 0 & 0 \end{pmatrix}, \quad C_{\alpha} = \begin{pmatrix} 0 & 0 & 0 \\ 0 & 0 & 0 \\ 0 & 0 & 0 \end{pmatrix}, \quad D_{\alpha} = \begin{pmatrix} 0 & 0 & 0 \\ 0 & 0 & 0 \\ 0 & 0 & 0 \end{pmatrix}$$
[illegible][illegible]

$\frac{1}{\sqrt{2}} \begin{pmatrix} 1 & i \\ -1 & i \end{pmatrix}$

$$y_1 = \frac{1}{x} \quad \text{for } x \rightarrow 0 \quad \text{and} \quad x \rightarrow \infty \quad \text{and} \quad y_2 = \frac{1}{x^2} \quad \text{for } x \rightarrow 0 \quad \text{and} \quad x \rightarrow \infty$$
$$4\pi^2 \int_0^1 \frac{1}{x} \left( 1 - \frac{1}{x} \right) dx = 2\pi^2 \left( 1 - \frac{1}{2} \right) = \pi^2$$
$$r = \frac{1}{2} \sqrt{1 + \frac{1}{2} \frac{1}{r^2}} \quad \text{and} \quad \frac{1}{r} = \frac{1}{2} \sqrt{1 + \frac{1}{2} \frac{1}{r^2}} \quad \text{and} \quad \frac{1}{r} = \frac{1}{2} \sqrt{1 + \frac{1}{2} \frac{1}{r^2}} \quad \text{and} \quad \frac{1}{r} = \frac{1}{2} \sqrt{1 + \frac{1}{2} \frac{1}{r^2}}$$

4/2/73 12.4

हृदयसाम्यवन्त्यम्, यथायथातथारिजम्, वेचलज्ञानं, वेचलदर्शनं च, अन्तर्ग-  
द्वर्त्मक्षयमनुपगमनितदानशामभोगोपभोगवीर्याणि येति । क्षायोपशामिकभावस्य  
मतिभुतावधिमनादप्यवज्ञानानि चचारि, बुभुतिबुभुतविभोगभेदाज्ञानानि  
ईति, यदुक्तयुगवधिदर्शनभेदाज्ञानाणि दर्शनानि, त्रिकालकरणोपदेशोपशाम-  
मायोपशामभेदाज्ञानाः पक्ष, वेदकगम्यकृतं, वेदकचरित्रं, सयमासंयम-  
पण्णतिद्वयेति । औदयिकभावस्य, नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवभेदाद् गतप-  
र्यवसाः । ब्रौधमानमाधानोपभेदाद् कषायाद्व्यवसायः । रसिर्पुनर्पुंसकभेदा-  
दिद्वानि ईति । सामान्यमहान्वयापेक्षया मिथ्यादर्शनमेकम् अज्ञानं चेकम्,  
असंयमता चेका, अगिद्वत्वं चेकम्, शुकृपक्षपातकपोतनीलकृष्णभेदाद्वेद्याः  
एव च भवन्ति । पारिणामिकस्य, जीवस्य जीवत्वपारिणामिकः, मव्यत्व-  
पारिणामिकः, अभव्यत्वपारिणामिकः, इति त्रिभेदाः । अथायं जीवत्वपारिणा-  
मिकभावो मव्याभव्याना सहृदाः मव्यत्वपारिणामिकभावो मव्यानामेव भवति,  
अमव्यत्वपारिणामिकभावोऽमव्यानामेव भवति । इति पंचभावप्रपंचः ।

पंचानां भावानां मध्ये क्षायिकभावः कार्यसमयमारूपः स त्रैलोक्य-  
प्रक्षोभहेतुभूतनीर्यङ्मत्त्वोपास्मिन्सकल—विकलकेवलावबोधमनाधर्तरीर्यायस्य  
भगवन् सिद्धस्य वा भवति । औदयिकोपशामिकक्षायोपशामिकभावाः  
समागिणामेव भवन्ति न मुनानाम् ॥ पूर्वोक्तभावचतुष्टयं सावरणसंयुक्तत्वात्  
न मुक्तिकारणम् । त्रिकालनिरूपाधिस्वरूपनिर्गजननिजपरमपंचमभावभावतया  
पंचमगिर्न मुमुक्षवो यान्ति यास्यन्ति गताश्चेति ।

अचितपंचमगतये पंचमभावं स्मरन्ति विद्वान्म् ।

संचितपचाचाराः किंचन भाव प्रपंचपरिहीणाः ॥

मुकुतमपि समस्त भोगिनी भोगमूलम्

त्यजतु परमतत्त्वाभ्यामनिष्णातचिन्तः ।

उभयसमयसारः सागन्धर्वस्वरूपम्

भजतु भवविमुक्त्यै कोऽय दोषो मुनीशः ॥



तानि, चतुर्गतिनिर्गोदीर्जीवानां सप्तलक्ष्योनि, मुरगानि वनस्पतिव्याधिकर्जीवानां दशलक्ष्योनिमुखानि, ईन्द्रियर्जीवानां द्वादशलक्ष्योनिमुखानि, त्रीन्द्रियर्जीवानां द्वादशलक्ष्योनिमुखानि, चतुरिन्द्रियर्जीवानां द्वादशलक्ष्योनिमुखानि, देवानां चतुर्लक्ष्योनिमुखानि, नास्काणां चतुर्लक्ष्योनिमुखानि, तिर्यग्जीवानां चतुर्लक्ष्योनिमुखानि, मनुष्याणां चतुर्दशलक्ष्योनिमुखानि ।

स्पृष्टसूक्ष्मेकेन्द्रियमंश्यमंशिरध्वेन्द्रियदीन्द्रियचतुरिन्द्रियपर्याप्तापर्याप्त-  
कभेदमनायचतुर्दशजीवस्थानानि । गतीन्द्रियकाययोगवेदकपायज्ञानसंय-  
मदर्शनतेइयाभव्याभव्यसंख्याहागविकल्पलक्षणानि मार्गणास्थानानि । एतानि  
सर्वाणि च तस्य भगवतः परमात्मनः शुद्धनिश्चयनयवलेन न सन्तीति  
भगवतां सूत्रकृतामभिप्रायः । तथाचोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूत्रिभिः—

“ सकलेषु विहायाप्रायचिच्छनिरिक्तम्

स्पृष्टतन्मवगाढं स्वं च विच्छिन्नेमात्रम् ।

इममुपरि चरन्तं चार्हं विद्वस्य साक्षात्

कल्पयंतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तम् ॥ ”

“ विच्छन्निव्याप्तसर्वम्, सारं जीव इवानयः ।

अतोऽतिगितास्ते सर्वे भावाः पौष्टलिका इमे ” ॥

तथाहि ।

अनवगतिमरणदृष्टान्तसद्भावनात्मा

मजति स च विकल्पं संसृज्योरूपं ।

अतुलमनघमात्मा निर्विकल्पः समाधिः

परपरणति दूरे याति सन्मात्र एव ॥

इत्थं बुद्धोपदेदी जननमृतिर्हा यं जरानाशहेतुं

भक्तिप्रद्वामरेन्द्रमकटमुकुटसद्वचमाठाधिताम्रेः ।



हृत्पद्मचक्राद्वासादुःखविनाशः

दादाजीने ही इच्छा व्यक्त केली आहे.

अथ विविचयः सत्यसमोचिनीः

हृदि हृदयमा वातु शमयन्ताम् ।

अयमिदं दायमन्त्रं तान्दनिष्ठाभक्तः—

प्रत्यक्षसिद्धयन्त्रे संश्लेषे निर्विकारः ।

हमविधिपविहस्ये हमविधिपविहस्ये

**संस्कृत-विभाग**

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

[illegible]

निम्नलिखित सूची में से प्रत्येक पद के अर्थ को समझें और उनके उचित अर्थों में से एक चुनें।

मन्त्रः इति चोक्तं । अथ यजुर्वेदे ।

अथवा

एकलिंगी प्रजातः

**भन भजामि नमो नमः**

पञ्च विमलवाम्पुलिं शिञ्ज ।

नाथयगात्मना बुद्धमरुतम्

अनन्यापुत्राभाविनिर्दिष्टतम् ।

सहजनिर्मलदासः सुधासुतः

समाभेन मनु गन्विजये ।

इत्थं निजज्ञान निभायकत्वम्—

**पुष्प पुण्यसूक्तं विन्दत ।**

पुनर्व पञ्चानि मुनेरि मया



समेकत्वसप्तती-

“ आत्मा भिन्नस्तदनुगतवत् कर्मभिन्नं तथोर्या  
प्रत्यामतेर्भवति विकृतिः सापि भिन्ना तथैव ।  
कालक्षेत्रप्रमुखमपि यत् तच्च भिन्नं मतं ये  
भिन्नं भिन्नं निजगुणकलालंकृतं सर्वमेतत् ॥ ”

तथाहि—

असति च सति बन्धे शुद्धजीवस्य रूपाद्  
रहितमसिलमूर्तद्रव्यजालं विचित्रम् ।  
इति जिनपतिवाक्यं वक्ति शुद्धं बुधानां  
भुवनविदितमेतद् भव्य जानीहि नित्यम् ॥

शुद्धद्रव्यार्थिकनयाभिप्रायेण संसारिजीवानां मुक्तजीवानां विशेष्ये-  
भावोपन्यासोऽयम्:—

जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीव तारिसा हांति ।  
जरमरणजन्ममुक्ता अट्टगुणालंकिया जेण ॥ ४७ ॥

यादृशाः सिद्धात्मानो भवमालीना जीवास्तादृशा भवन्ति ।

जरामरणजन्ममुक्ता अष्टगुणालंकृता येन ॥ ४७ ॥

ये केचिद् अत्यासन्नभव्यजीवा ते पूर्व संसारवस्थायां संसारकृंशाया-  
साचिताः संतः सहजवैराग्यपरायणाः द्रव्यभावलिङ्गधराः परमगुरुप्रसादित-  
परमागमाभ्यासेन सिद्धक्षेत्रं परिप्राप्य निर्व्याबाधकसकलत्रिमलकेवलज्ञान-  
केवलदर्शनकेवलसुसकेवलशक्तियुक्ताः सिद्धात्मानः कार्यसमयसाररूपाः  
कार्यशुद्धास्ते यादृशास्तादृशा एव भविनः शुद्धनिश्चयेन येन कारणेन तादृ-  
शेन जरामरणजन्ममुक्ताः सम्यक्त्वायष्टगुणपुष्टितुष्टाश्चेति ।

१ विशेषाभावः प्रतीयतेऽत्र ।

प्रागेव शुद्धता येषाम् सुषिषां सुषिषामपि ।

नयेन वेनाचित्तेषां मिदं कामपि वेद्यहम् ॥

अथ च शार्दूलगणसमयसारयोर्विशेषाभासोपन्यासः—

असरीरा अविणासा अणिंदिया निम्मला विसुद्धप्पा ।

जह लोयग्गे सिद्धा तह जीया संसिदी जेया ॥ ४८ ॥

असरीरा अविनाशा अनीन्द्रिया निर्मला विशुद्धात्मानः ।

यथा लोकाग्रे सिद्धाम्मणा जीवाः संमृता ज्ञेयाः ॥ ४८ ॥

निधयेन पंचशरीरमप्यभावादसरीराः । निधयेन नरनारकादिपर्याय-  
परित्यागसर्वाकाराभावादविनाशाः । युगपत्परमतत्त्वास्थितसहजदर्शनादि-  
काणशुद्धस्वरूपपारिच्छितसमर्थमज्ञानज्ज्ञानज्योतिरपह्नितसमस्तसंशयस्व-  
रूपत्वादनीन्द्रिया । मलजनकशायोपशमिकादिविभावस्वभावा-

नामभावान्निर्मलाः । द्रव्यभावकर्माभावाद् विशुद्धात्मानः यथैव लोकाग्रे  
मगवन्तः सिद्धपरमेष्ठिनस्तिष्ठन्ति तथैव समृतावपि अमी केचिन्नयवलेन  
संसाग्निजीवाः शुद्धा इति ।

शुद्धाशुद्धविकल्पना भवति सा मिथ्याहृदि प्रत्यहम्

शुद्धं कारणकार्यतत्त्वयुगलं सम्यग्हृदि प्रत्यहम् ।

इत्थं च, परमागमार्थमतुलं जानाति सदक् स्वयम्

सारासागविचारचारुषिपणौ वन्दामहे तं वयम् ॥

निधयव्यवहारनययोरुपादेयत्वप्रद्योतनमेतत्—

एदे सव्वे भावा व्यवहारणयं पहुच्च भणिदा हु

सव्वे सिद्धसहावा सुद्धणया संसिदी जीवा ॥ ४९ ॥

एते सर्वे भावा व्यवहारणयं प्रतीत्य भणिता खलु ।

सर्वे सिद्धस्वभावाः शुद्धनयान् संमृती जीवाः ॥ ४९ ॥

१ प्रथमान्ते “ चित्ते,” इतिह्ये सारस्य विशेषणं भवेत् ।



ये पूर्व न विदन्ते इति प्रणिपादिताम्ने सर्वे विभावर्थाः सः  
 स्वयन्त्याग्नयादेशेन विदन्ते । संसृता अपि ये विभावर्थाः सः सः  
 मन्तामिदन्ति, अपि च । ते सर्वे भगवन् सिद्धान्तं शुद्धगुणार्थं  
 सहसा शुद्धन्यादेशादिति ।

तथागोच्यं श्रीमद्भुतचन्द्रमुरिभिः-

“ ध्यायन्त्याग्नयः स्याद यद्यपि प्राकृत्या-

भिर्निहितान्ता इति मन्तावयवः ।

तत्रापि परमार्थं निष्पन्नमात्रं

परिगणितमन्तः पश्यतीत्येव हिंदिन् ॥”

तथा हि ---

शुद्धनिर्वाणन्याग्नौ विमुक्तौ, संसृता अपि च नास्ति हिंदिन् ।

एतत् सत्त्वान्ता, शुद्धतन्त्रमिकाः प्रवदन्ति ॥

तथागोच्यं-प्राग्व्यापारान्तराणां धनमिदम् -

पुन्यसमगदभाया परदृष्टं परसाहायमिदि हेयं ।

सगदभायमुवादेयं अंतरतत्त्वं हवं अप्या ॥ ५० ॥

पुन्यसमगदभाया परदृष्टं परसाहायमिदि हेयं ।

सगदभायमुवादेयं अंतरतत्त्वं हवं अप्या ॥ ५० ॥

ये वै विदन्ति विभावर्थाः सः सर्वे ध्यायन्त्याग्नयादेशेन विदन्ते ।  
 संसृता अपि ये विभावर्थाः सः सः मन्तामिदन्ति, अपि च ।  
 ते सर्वे भगवन् सिद्धान्तं शुद्धगुणार्थं सहसा शुद्धन्यादेशादिति ।  
 तथागोच्यं श्रीमद्भुतचन्द्रमुरिभिः-  
 “ ध्यायन्त्याग्नयः स्याद यद्यपि प्राकृत्या-  
 भिर्निहितान्ता इति मन्तावयवः ।  
 तत्रापि परमार्थं निष्पन्नमात्रं  
 परिगणितमन्तः पश्यतीत्येव हिंदिन् ॥”  
 तथा हि ---  
 शुद्धनिर्वाणन्याग्नौ विमुक्तौ, संसृता अपि च नास्ति हिंदिन् ।  
 एतत् सत्त्वान्ता, शुद्धतन्त्रमिकाः प्रवदन्ति ॥

“ सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यताम्  
 शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमन्योतिरसदेवाभ्यहम् ।  
 एते ये तु समुत्तसंति विविधा भावाः पृथग्लक्षणाः  
 तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समया अपि ॥ ”

तथा हि—

नयस्माकं शुद्धजीवास्तिकायादन्ये सर्वे पुद्गलद्रव्यभावाः ।  
 इत्थं व्यक्तं वन्ति यस्तत्त्ववेदी, सिद्धं सोऽयं याति तामत्यपूर्वं ॥

रत्नत्रयम्बुपाख्यानमेतत्—

विवरीयामिनिवेश-विवर्जितसद्ब्रह्मणमेव सम्मत्तं । ६  
 संशयविमोहविभ्रमविचर्जितं होदि सण्णाणं ॥ ५१ ॥  
 चल्मलिणमगाढतविचर्जितसद्ब्रह्मणमेव सम्मत्तं ।  
 अधिगमभावे णाणं हेयोपादेयतत्त्वाणं ॥ ५२ ॥ ११  
 सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणमुत्तं तस्स जाणया पुरिसा ।  
 अंतरहेयो मणिदा दंसणमोहस्स सयपहुदी ॥ ५३ ॥ १२  
 सम्मत्तं सण्णाणं विज्जदि मोक्खस्स होदि मुण चरणं ।  
 बवहारिणिच्छएणहु तस्मा चरणं पवक्खामि ॥ ५४ ॥ १३  
 बवहारणयचरित्ते बवहारणयस्स होदि तवचरणं ।  
 णिच्छएणयचारित्ते तवचरणं होदि णिच्छयदो ५४ पंचयं ॥ १४

विपरीताभिनिवेशविवर्जितश्रद्धानमेव सम्पत्त्वम् ।  
 संशयविमोहविभ्रमविवर्जितं भवति संज्ञानम् ॥ ५१ ॥  
 चल्मलिणम गाढतविचर्जितश्रद्धानमेव सम्पत्त्वम् ।  
 अधिगमभावो ज्ञान हेयोपादेयत्वानाम् ॥ ५२ ॥

सम्यक्त्वस्य निमित्तं जिनमूर्त्रं तस्य ज्ञायकाः पुरुषाः ।

अन्तर्हेतवे मणिताः दर्शनमोहस्य क्षयप्रभृतेः ॥ ५३ ॥

सम्यक्त्वं संज्ञानं विद्यते मोक्षस्य भवति शृणु चरणम् ।

व्यवहारनिश्चयेन तु तस्माच्चरणं प्रवक्ष्यामि ॥ ५४ ॥

व्यवहारनयचारित्रे व्यवहारनयस्य भवति तपश्चरणं ।

निश्चयनयचारित्रे तपश्चरणं भवति निश्चयतः ॥ ५५ ॥ पंचकं ।

भेदोपचाररत्नत्रयमपि तावद् विपरीताभिनिवेशविवर्जितश्रद्धानरूपं भग-  
वतां सिद्धिपरंपराहेतुभूतानां पंचपरमेष्ठिनो चलमालिनागादिविवर्जितसमुप-  
जनितनिश्चलभक्तियुक्तत्वमेव । विपरिते हिरण्यगर्भादिप्रणीति पदार्थसार्थे  
ह्यभिनिवेशाभाव इत्यर्थः । संज्ञानमपि च संशयविमोहविभ्रमविवर्जितमेवात्र  
संशयः तावत् जिनो वा शिवो वा देव इति । विमोहः शाक्यादिप्रोक्ते वस्तुनि  
निश्चयस्वरूपं । चलमालिनादिविवर्जितश्रद्धानमेव अमेदोपचाररत्नत्रय-  
परिणतिः तत्र जिनप्रणीतहेयोपादेयतत्त्वपरिच्छित्तिरेव सम्यग्ज्ञानम्' अय्य  
परिणामस्य बाह्यसहकारिणं वीतरागसर्वज्ञमुत्तममलादिनिर्गतसम-  
स्तवस्तुप्रतिपादनसमर्थद्रव्यश्रुतमेव तत्त्वज्ञानमिति । ये मुमुक्षवः  
तेषुपचारतः पदार्थनिर्णयहेतुत्वात् अंतरंगहेतव इत्युक्ताः । दर्शनमोहनी-  
यकर्मक्षयप्रभृतेः सकाशादिति अमेदानुपचाररत्नत्रयपरिणतेर्जीवस्य  
टंकोत्कीर्णज्ञापकैकस्वभावनिरूपणमतत्त्वश्रद्धानेन, तत्परिच्छित्तिमा-  
त्रतर्मुत्तरपरमबोधेन, तद्रूपाविचलस्थितिरूपसहजचारित्रेण, अभूतपूर्वः निश्च-  
यर्थायो भवति । य. परमजिनयोगीश्वरः प्रथमं पापक्रियानिवृत्तिरूपस्य-  
चहाग्नयचारित्रे तिष्ठति, तस्य सलु व्यवहारनयमोचरतपश्चरणं भवति ।  
सहजनिश्चयनयात्मकपरमस्वभावात्मपरमात्मानि प्रतपनं तपः, स्वस्वरूपा-  
विचरस्थितिरूपं सहजनिश्चयचारित्रम् अनेन तपसा भवतीति । तथा-  
चोक्तमेकत्वसततो-

“ दर्शनं निश्चयः पुंस्ति बोधस्तद्बोध इष्यते ।  
स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योगः शिवाश्रयः ॥ ”

तथा च—

जयति सहजबोधस्तादृशी दृष्टिरेषा  
चरणमपि विशुद्धं तादृशं चैव नित्यम् ।  
अथ कुलमलपङ्कानीकनिर्मुक्तमूर्तिः  
सहजपरमतन्त्रे संस्थिता चेतना च ॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्म-  
प्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसाग्व्याख्याया तात्पर्यवृत्तौ  
शुद्धभाषाधिकारस्तृतीयः श्रुतस्कन्धः ॥ ३ ॥

अथेदानीं व्यवहारचारित्र्याधिकार उच्यते ।

२। अहिंसाव्रतम्ब्रह्मपाश्यानमेतत् —

कुलजोषिर्जीवमगण-टाणादसु जाणऊण जीवरणं ।  
तस्सारंभणियत्तण-परिणामो होइ पढमवदं ॥ ५६ ॥

बुद्ध्योनिजीवमार्गणाम्भानादिषु ज्ञात्वा जीवानाम् ।

तस्यारम्भनिवृत्तिपरिणामो भवति प्रथमघनम् ॥ ५६ ॥

कुलविकल्पो योनिविकल्पश्च जीवमार्गणास्थानविकल्पाश्च प्रागेव प्रति-  
पादिताः । तत्रैव तेषां भेदान् बुद्ध्या तद्रक्षापरणातिरेव भवत्यहिंसा । तेषां  
सृतिर्भवतु वा न वा, प्रयत्नपरिणाममन्तरेण सावयपरितारो न भवति ।  
अतएव प्रयत्नपरैरहिंसाव्रतं भवतीति ॥ तथाचोक्तं श्रीसमन्तभद्रस्वामिभिः—

“ अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं

न सा तत्रारम्भोऽत्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ।

तनस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरणो ब्रह्ममुभयं

भगवन्वाक्याक्षीप्तं हि ब्रह्मतिवेगोपधिग्तः ॥ ”



इत्थं बुद्धा परमसमितिं मुक्तिकान्तासस्तीं यो  
 मुक्त्वा संगं भवमयकरं हेमरामात्मकं च ।  
 स्थित्वा पूर्वं सहजं विलसद्भिद्यमतकारमात्रे  
 भेदाभावे समयति च यः सर्वदा युक्त एव ॥  
 जयति समितिरेषा शीलमूलं मुनीनाम्  
 असहतिपरिदूरा स्थावराणां हतेन्द्र्या ।  
 भवद्वयपरितापकेशजीमूतमाला  
 सकलसमितिमुख्यानेकसन्तोषदायी ॥  
 नियतमिह जनानां जन्म जन्माणविश्लिप्तं  
 समितिविराजितकानां कामरोगतुराणाम् ।  
 मुनिषु कुरु ततस्त्वं त्वन्मनोगेहमध्ये  
 ह्यपवरकममुख्याश्चारुयोषित्सुमुनेः ॥  
 शममयरूपां समितिं श्रुते शब्दे मुक्तिभागभवेन्मोक्षः ।  
 स हि न च लभतेऽप्यापातं संसारमहार्णवे भ्रमति ॥

अत्र भाषासमितिस्वरूपमुक्तम्:—

८ ऐसुण्णहासककसपरणिंदप्पप्पसंसियं वयणं ।  
 परिचित्ता सपरहिदं भासासमिदी वदंतस्स ॥ ६२ ॥  
 पैशून्यहास्यकर्कशापरनिन्दात्मप्रदांसितं वचनम् ॥  
 परित्यक्त्वा स्वपरहितं भाषासमितिर्वदतः ॥ ६२ ॥

कर्णेजपमुराविनिर्गतं नृपतिकर्णाभ्यर्णमिति ऐकपुरुषस्य एककुटुंबस्य  
 एक ग्रामस्य वा महद्विपत्कारणं वचः पैशून्यम् । कश्चित् कदाचित् किञ्चित्  
 परजनविकाररूपमवलोक्य त्यागकर्म च हास्याभिधाननोक्त्वापसमुपजनितम्  
 ईषत्पुममिधितमप्यशुभकर्मकारणं पुरुषमुराविकारजनितं हास्यकर्म ।  
 कर्णशङ्कुत्रिविवराभ्यर्णमोचरमात्रेण परेषामप्रीतिजननम् हि कर्कशम् ।

परेषां भूताभूतद्रुपणपुरस्सरवास्यं परनिन्द्रा । स्वस्य भूताभूतगुणानुनिगम  
प्रशंसा । एतत्सर्वमप्रशस्तवचः परित्यज्य स्वस्य च परस्य चाशुभं शुद्धपणि-  
तिकारणं वचो भाषाममिति रिति ॥

तथाचोक्तं श्रीगुणमद्रस्वामिभिः--

“ समधिगतमममृताः सर्वमावयद्गुराः

स्वहितनिहितचित्ताः शान्तसर्वप्रचागाः ।

स्वपरसफलनल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः

कथमिव न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः ”

तथा च—

परब्रह्मण्यनुष्ठानं निरतानां मनीषिणाम् ।

अन्तरैरूप्यरं जल्पैः बहिर्जल्पैश्च किं पुनः ॥

अत्रैषणासमितिस्वरूपमुक्तम्—

ॐ कदकारिदाणुमोदणरहिदं तह पासुगं पसत्थं च  
दिण्णं परेण भत्तं समभुत्ती एसणासमिदी ॥ ६३ ॥

कृतकारितानुमोदनरहितं तर्थां प्राशुकं प्रशस्तं च ।

दत्तं परेण भक्तं संभुक्तिः एषणासमितिः ॥ ६३ ॥

तद्यथा—मनोवाकायानां प्रत्येकं कृतकारितानुमोदनेः कृत्वा नव विक-  
ल्पा भवन्ति, न तैः संयुक्तमन्नं नवकोटिविशुद्धमित्युक्तं । अतिप्रशम्भं  
मनोहरं हरितकायात्मकं सुहृमप्राणिसंचारागोचरं प्रामुक्कमित्यामिहितम् ।  
प्रतिग्रहोच्चस्थानपादक्षालनार्चनप्रणामयोगशुद्धिभिश्चाशुद्धिनामधेयैर्नवविधि-  
पुण्यैः प्रतिपत्तिं कृत्वा श्रद्धाशक्तिअलुब्धताभक्तिज्ञानदयाक्षमाभिधान-  
सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन योग्याचारेणोपासकेन दत्तं भक्तं भुञ्जन्

१ वदन्त्वारिशङ्कोपरहितं यदुदिविशुद्धं मममयवादके विशुद्धि च ॥ इति  
श्रये लिखितं ।

( पुंजाब्द ) निरति यः परमार्थोपदे तस्यैवणात्मनिर्भवेति इति  
प्रमाणमिति विवक्ष्य । अथ निरूपय सति विवक्ष्यं नाति दुःखनीयस्य,  
दुःखप्रसक्तानि एवमज्ञानं वेदातिशयमव भवेति ।

ननु यथैव सम्यक्त्वम्—

“ सा'ह्यमव्यापारो ज्ञेयतां यः कश्चिदव्यापारः ।  
तुल्यमणो विद्य कर्मणो आचारो सतिता ज्ञेयः ॥ ”  
उक्तं अनेकजगत्वा तदि तयो नं परिधायकं सम्यक्  
अणो भिन्नसम्यक्त्वमण्यं कर्णने सम्यक्ता ज्ञातया ”

ननु यथैव स्यात्तुल्यमव्यापारि—

“ समनिधमनिधानं शान्तश्वाद्यान्तरात्मा  
सर्वविद्यममर्षिः सर्वसम्पन्नोऽर्चनी ।  
दितितितिविभक्तारो न वेदाज्जालं समुद्रं  
इति निमित्तनिद्रो निमित्ताध्यात्मसात् ”

ननु हि—

भुक्त्वा भक्तं भगवन्तामृदुनं, ध्यात्वात्मानं पुण्येषोऽथकाशं ।  
तन्वाथैव सत्पत्तं सत्पत्तं, प्राप्नोतीत्या मुनिशरीरगतौ सः ॥

अत्रादाननिक्षेपणमिति निम्बकपमुक्तः—

७. सोऽथद्वयमंष्टलाहं गृहणयिसमोऽपि पयतपरिणामो ।  
आदादणणिकस्तेषण समिदी ह्येदित्ति निहिता ॥ ६४ ॥

पुस्तककण्डह्यादि ग्रहणविमर्गयोः प्रयत्नपरिणामः ।

आदाननितेषणा समिनिर्भवतीति निर्दिष्टा ॥ ६४ ॥

अत्रादानसंयमिना संयमज्ञानादुपकरणग्रहणविमर्गसमयसमुद्भवसमिति-  
प्रकारो निर्दिष्टः । उपेक्षासंयमिना न पुस्तककण्डहदुप्रभृतयः, अतस्ते  
परमजिनमुनयः पदान्ततो निरुह्य, अत एव बायोपकरणनिर्मुक्तः ।



अभ्यन्तरोपकरणनिजपरमतत्त्वप्रकाशदृक्शं निरुपाधिस्वरूपसहजज्ञानमन्त्र-  
रेण किमप्युपादेयमस्ति । अपहृतसंयमधराणां परमागमार्थस्य पुनः पुन-  
प्रत्यभिज्ञानकारणं पुम्नकं ज्ञानोपकरणमिति यावत् । शौचोपकरणं च  
कार्यविशुद्धिहेतुः कमण्डलुः । संयमोपकरणहेतुः पिच्छः । एतेषां ग्रहणादि-  
सर्गयोः समयसमुद्भवप्रयत्नपरिणामविशुद्धिरेव हि आदाननिक्षेपगा-  
समितिरिति निर्दिष्टयति ।

समितिषु समितीयं राजते सोत्तमानां  
परमजिनमुनीनां संहतो क्षांतिमैत्री ।  
त्वमापि कुरु मनःपंकेरुहे भव्य नित्यम्  
भवसि हि परमभ्रीकामिनीकांतकांतः ॥

मुनीनां कायमलादित्यागस्थानशुद्धिकथनमिदम्:-

८ प्रासुगभूमिपदेसे गूढे रहिए परोपरोहेण ।  
उच्चारदिद्यागो पइहा समिदी हवे तस्स ॥ ६५ ॥

प्रासुकभूमिप्रदेशे गूढे रहिते परोपरोधेन ।  
उच्चारदित्यागः प्रतिष्ठा समितिर्भवेत्तस्य ॥ ६६ ॥

शुद्धनिश्चयतो जीवस्य देहाभावाच्च चाश्रमग्रहणपरिणतिः, व्यवहारतो  
देहः विद्यते तस्यैव हि देहे सति आहारग्रहणं भवति आहारग्रहणान्म-  
लमूत्रादयः संभवन्त्येव अत एव संयमिनां मलमूत्रविसर्गस्थानं निर्जन्तुकं  
परेषामुपरोधेन विरहितं, तत्र स्थाने शरीरधर्मं कृत्वा पश्चात्तन्मात्स्थानादुन्नेरेण  
कतिचित् पदानि गत्वा ह्युद्भूतः स्थित्वा चोत्तमूज्य कायकर्माणि संसा-  
रकारणं परिश्रमं घटमानश्च संसृतेर्निमित्तं स्वात्मानमव्यग्रो भूत्वा ध्याय-  
ति यः परमसंयमी मुहुर्मुहुः कलेवरस्याप्यशुचित्वं वा परिभावयति, तस्य  
सलु प्रतिष्ठापनसमितिरिति नान्येषां स्वेरवृत्तीनां यतिनामधारिणां काचित्  
समितिरिति ।

संस्कृत-संज्ञा-सूची

निम्नलिखित सूची में से एक संज्ञा चुनिए।

**संस्कृत-विश्वकोष**

कविः कविः कविः कविः कविः कविः कविः कविः

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

449 450 451 452 453 454 455 456 457 458 459 460 461 462 463 464 465 466 467 468 469 470 471 472 473 474 475 476 477 478 479 480 481 482 483 484 485 486 487 488 489 490 491 492 493 494 495 496 497 498 499 500 501 502 503 504 505 506 507 508 509 510 511 512 513 514 515 516 517 518 519 520 521 522 523 524 525 526 527 528 529 530 531 532 533 534 535 536 537 538 539 540 541 542 543 544 545 546 547 548 549 550 551 552 553 554 555 556 557 558 559 560 561 562 563 564 565 566 567 568 569 570 571 572 573 574 575 576 577 578 579 580 581 582 583 584 585 586 587 588 589 590 591 592 593 594 595 596 597 598 599 600 601 602 603 604 605 606 607 608 609 610 611 612 613 614 615 616 617 618 619 620 621 622 623 624 625 626 627 628 629 630 631 632 633 634 635 636 637 638 639 640 641 642 643 644 645 646 647 648 649 650 651 652 653 654 655 656 657 658 659 660 661 662 663 664 665 666 667 668 669 670 671 672 673 674 675 676 677 678 679 680 681 682 683 684 685 686 687 688 689 690 691 692 693 694 695 696 697 698 699 700 701 702 703 704 705 706 707 708 709 710 711 712 713 714 715 716 717 718 719 720 721 722 723 724 725 726 727 728 729 730 731 732 733 734 735 736 737 738 739 740 741 742 743 744 745 746 747 748 749 750 751 752 753 754 755 756 757 758 759 760 761 762 763 764 765 766 767 768 769 770 771 772 773 774 775 776 777 778 779 780 781 782 783 784 785 786 787 788 789 790 791 792 793 794 795 796 797 798 799 800 801 802 803 804 805 806 807 808 809 810 811 812 813 814 815 816 817 818 819 820 821 822 823 824 825 826 827 828 829 830 831 832 833 834 835 836 837 838 839 840 841 842 843 844 845 846 847 848 849 850 851 852 853 854 855 856 857 858 859 860 861 862 863 864 865 866 867 868 869 870 871 872 873 874 875 876 877 878 879 880 881 882 883 884 885 886 887 888 889 890 891 892 893 894 895 896 897 898 899 900 901 902 903 904 905 906 907 908 909 910 911 912 913 914 915 916 917 918 919 920 921 922 923 924 925 926 927 928 929 930 931 932 933 934 935 936 937 938 939 940 941 942 943 944 945 946 947 948 949 950 951 952 953 954 955 956 957 958 959 960 961 962 963 964 965 966 967 968 969 970 971 972 973 974 975 976 977 978 979 980 981 982 983 984 985 986 987 988 989 990 991 992 993 994 995 996 997 998 999 1000

**कविप्रसाद लाल शर्मा**

त्रिमहोदय-विदुः दण्डा, १३ दिनादि धर्माः ॥

नमो भगवते वासुदेवाय । वासुदेवाय नमः । वासुदेवाय नमः । वासुदेवाय नमः ।

[illegible]

सुभाषचन्द्रबोससंगठित -

कलामुग्गसंगोत्तरपणासगदीसाइअमुहमावाणी ।

परिहारोऽप्युपार्जयति वयसाऽप्युपार्जयति ॥ ६६ ॥

[illegible]

परिहारां संतर्गुमि मयहानयेन परिबधिता ॥ ११ ॥

[illegible]

अभिधायिष्यति यथा सामान्यमाह—

विश्वामनाथमनसो विजितेन्द्रियाय ॥

आन्तर्गतान्तरादिपदविचित्रिभक्तयः

भ्रीमन्निनेन्द्रवरणस्रणान्वितस्य ॥

इह वाग्गुप्तिस्वरूपमुक्तम्—

तृतीयाचारमत्तकहादिवयणस्त पावहेउस्त ।

परिहारो वचगुप्ती अलीयादिणियत्तिवयणं वा ॥ ६७ ॥

छीरानचौरमत्तकयादिवचनस्य पापहेतोः ।

परिहारो वाग्गुप्तिरलीकादिनिवृत्तिवचनं वा ॥ ६७ ॥

अतिवृद्धकालः कामुकजनैः स्त्रीणां संयोगविप्रलंभजनितत्रिविधवचनरचना कर्तव्या श्रोतव्या सैव स्त्रीकथा । राज्ञां युद्धहेतूपन्यासो राजकथाप्रपंचः । चौराणां चौरप्रयोगकथनं चौरकथाविधानम् । अतिप्रवृद्धभोजनप्रीत्या विचित्रमण्डकावलीरांडदधिसंडाशीताशनपानप्रशंसा मत्तकथा । आसामपि कथानां परिहारो वाग्गुप्तिः । अलीकनिवृत्तिश्च वाग्गुप्तिः । अन्येषां अप्रशस्तवचनानि निवृत्तिरेव वा वाग्गुप्तिः ।

तथाचोक्तं पूज्यपादस्वामिभिः—

“एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तर्विशिष्यतः

एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः ।”

तथाहि—

त्यक्त्वा वाचं मरमयकरी मध्यप्रीवः समस्ताम्

ध्यात्वा शुद्धं सहगविलसच्चिच्चमत्कारमेकं ।

पद्मान्मुक्तिं सहगमहिमानंदसौख्याकरीं ताम्

प्राप्नोत्युच्चैः प्रहृतत्वं तत्त्वातस्यघातरूप ॥

अत्र कायगुप्तिस्वरूपमुक्तम्—

कतिपयं कालं प्रमादमारणआकुंचण तह पसारणादीया ।  
बंधणं पाण्याणियत्ती णिहिटा कायगुप्ति ॥ ६८ ॥  
कायकिं प्रमादमारणाकुंचनानि तथा प्रमारणादीनि ।  
बन्धनं प्रमादमारणाकुंचनानि तथा प्रमारणादीनि ।  
कायक्रियानि यत्तिः निर्दिष्टा कायगुप्तिरिति ॥ ६८ ॥



कायक्रियानिवृत्तिः कायोत्सर्गः शरीरके गुप्तिः ।

हिंसादिनिवृत्तिर्वा शरीरगुप्तिरिति निर्दिष्टा ॥ ७० ॥

सर्वेषां जनानां कायेषु बद्धाः क्रिया विप्रन्ते तासां निवृत्तिः कायो-  
त्सर्गः स एव गुप्तिर्भवति । पञ्चम्यावगणां व्रसाणां च हिंसानिवृत्तिः  
कायगुप्तिर्वा परमसंयमधरः परमजिनयोगीश्वरः यः स्वर्कष्यं वपुः स्वम्य  
वपुषा विवेकेन तस्याप्यपरमूर्तिं निश्चयकायगुप्तिरिति । तथाचोक्तम्  
तत्त्वानुशासने ।

“ उत्सर्प्य कायकर्माणि भावे च भवकारणम् ।

स्वात्मावस्थानमव्यग्रं कायोत्सर्गः स उच्यते ॥ ”

तथाहि-

अपरिस्पन्दरूपस्य परिस्पन्दान्मिका तनुः ।

ध्यवहाराद्भवेन्मेष्टस्त्यजामि विकृतिं तनोः ॥

भगवतोऽर्हतपरमेश्वरस्य स्वरूपाख्यानमेतत्:-

घणघाटकम्मरहिया केवलणाणाइपरमगुणसहिया ।

चोत्तिसअदिसअजुत्ता अरिहन्ता एरिसा हांति ॥ ७१ ॥

घनघातिकर्मरहिताः केवलज्ञानादिपरमगुणसहिताः ।

चतुस्त्रिंशदतिशययुक्ता अर्हन्त ईदृशा भवन्ति ॥ ७१ ॥

आत्मगुणघातकानि घातिकर्माणि, घनरूपाणि सान्द्राभूतात्मकानि शान-  
दर्शनावरणान्तरायमोहनीयानि तैर्विरहितास्तथोक्ताः । प्रागुक्तघातिचतुष्क-  
प्रध्वंसनासादितत्रैलोक्यप्रक्षोभहेतुभूतसकलविमलकेवलज्ञानकेवलदर्शनकेव-  
लशक्तिकेवलमुखसहिताश्च । निःस्वेदनिर्मलादिचतुस्त्रिंशदतिशयगुणनिलयाः ।  
ईदृशा भवन्ति भगवन्तोऽर्हन्त इति ।

१ कदाचिद् क्रिया भवितव्यम् ।

जयति विदितगात्रः स्मेरनीरेजनेत्रः  
 सुहृत्तनिलयगोत्रः पंडिताम्भोजमित्रः ।  
 मुनिजनवनचैत्रः कर्मवाहिन्यमित्रः  
 सकलहितचरित्रः श्रीमुसीमासुपुत्रः ॥  
 स्मरकरिङ्गिराजः पुण्यकंजादिराजः  
 सकलगुणसमाजः सर्वकल्पावनीजः ।  
 स जयति जितराजः प्रास्तवुःकर्मबीज  
 पदनुतमुराराजस्त्यक्तसंसारभूजः ॥  
 जितरातिपतिचापः सर्वविद्याप्रदीपः  
 परिणतिसुरसरूपः पापकीनाशरूपः ।  
 हतभवपरितापः श्रीपद्मानमभूषः  
 स जयति जितकोपः प्रहविद्वल्कलापः ॥  
 जयति विदितमोक्षः पद्मपद्मायताक्षः  
 प्रक्षितदुरितकभूः प्रास्तकन्दर्पपक्षः ।  
 पद्मगुणतपक्षः तत्त्वविज्ञानदक्षः  
 कृतबुधजनशिक्षः शोननिर्वाणदीक्षः ॥  
 मदननगमुरेशः कान्तकायप्रदेशः  
 पदविनयप्रदेशः प्रास्तकीनाशपक्षः ।  
 दुरपवनहृताशः कीर्तिसंपूरिताशः  
 जयति जगद्वर्धशः चारुवस्त्रभेशः ॥

भगवतां सिद्धिपरंपराहेतुभूतानां स्वरूपमत्रोक्तम्—

ण्डकम्भबंधा अष्टमहागुणसमण्णिषा परमा ।

लोयग्गठिदा णिद्या सिद्धा जे एरिसा होंति ॥ ७१ ॥

नष्टाष्टकर्मबन्धा अष्टमहागुणममन्विताः परमाः

लोकप्रस्थिता नित्याः सिद्धास्ते ईदृशा भवन्ति ॥ ७१ ॥



“पंचाचारपगजकिंचनपतीक्षकपायाभमान्  
चंचलज्ञानबलमपंचितमहो गंचास्तिकापथिनाम् ।  
महागर्भवहयोगचंचुरापियः सूरीनुदंचदूणान्  
अंचामो भवदुःससंचयभिदे मत्तिकियाचंचवः ॥

तथाहि—

सकलकरणयामालंकादिमुक्तमनावुलं  
स्वहितनिरतं शुद्धं निर्वाणकारणकारणं ।  
शमदममाशस्तं मैत्रीदयादममंदिरम्  
निस्पृममिदं वंद्यं श्रीचन्द्रकीर्तिमुनेर्मनः ॥

अध्यापकमिधानपरमगुरुस्वरूपारयानमेतद्—

रणतयसंयुक्ता जिणकहियपयत्थदेसया सूरा ।  
णिक्कंसमावसहिआ उवज्झाया एरिसा होंति ॥ ७४ ॥  
रत्नत्रयसंयुक्ता. निनकथिनपदार्थदेशका सूरा ।  
निःकांशभाक्सहिताः उपाध्याया ईदृशा भवति ॥ ७४ ॥

अविचलताऽनदादितपरमचिदूपश्रद्धानपरिष्ठानानुष्ठानशुद्धनिश्चयस्वभा-  
वात्तत्रयजिनेन्द्रवदनारविंदविनिर्गतजीवादिसमस्तपदार्थसार्थोपदेशशाला .  
निसिलपरिग्रहपरित्यागलक्षणा निरंजननिजपरमात्मतन्त्रभावनोत्पन्नपद्म-  
वीनरागमुक्तामृतपानेनोन्मुक्तास्त एव निष्कांशमावनासनाधाः एवभव-  
लक्षणलक्षितास्ते जनानामुपाध्याया इति ।

रत्नत्रयमयान् शुद्धान् भव्याभोजविवावरान् ।

उपदेष्टृनुपाध्यायान् नित्यं वंदे पुनः पुनः ॥

निगन्तगारसंहितपरमतपश्चरणनिरतसर्वसाधुस्वरूपारयानमेतद्—

वावारविप्पमुक्ता चउव्विहाराहणासपारत्ता ।  
णिग्गंथा णिम्मोहा साह एदेरिसा होंति ॥ ७५ ॥



व्यापारविप्रमुक्ताः चतुर्विधाराधनामदारक्ताः ।

निर्ग्रन्था निर्मोहाः साधवः एतादृशा भवन्ति ॥ ७५ ॥

ये महान्तः परमसंयमिनः त्रिकाञ्जनिरावरणनिरंजनपरमपञ्चमभाव-  
भावनापरिणताः, अत एव समस्तबाह्यव्यापारविप्रमुक्ताः, ज्ञानदर्शन-  
चारित्रपरमतपश्चरणाभिधानचतुर्विधाराधनासंपदानुरक्ताः । बाह्याभ्यन्तर-  
समस्तपरिग्रहविनिर्मुक्तत्वाग्निर्ग्रन्थाः । सदा निर्गंजननिजकारणसमयसार-  
स्वरूपसम्यक्श्रद्धानपरिज्ञानाचरणप्रतिपक्षमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रामावाग्नि-  
र्मोहाः । इत्थंभूतपरमनिर्वाणसीमंतिनीचारुसीमंतसीमाशोभानाममृणरजः  
पुंजर्पिजरितवर्णालंकारावलंबनकौतूहलबुद्धियोपि ते सर्वेपि साधवः इति ।

भावनां भवसुखविमुक्तं त्यक्तं सर्वाभिपंगसम्बन्धात् ।

मंशु विमंश्व निजात्मनि वंद्यं नमनन्मनः साधोः ॥

व्यवहारचारित्राधिकारव्याख्यानोपसंहारनिश्चयचारित्रिसूचनोपन्यासोयद्-

एरिसयभावणाए व्यवहारणयस्स होदि चारित्तं ।

णिच्छयणयस्स चरणं एत्तो उट्ठं पवक्खामि ॥ ७६ ॥

इदम्भावनायां व्यवहारनयस्य भवति चारित्र्यम् ।

निश्चयनयस्य चरणं एतदूर्ध्वं प्रवक्ष्यामि ॥ ७६ ॥

इत्थंभूतायां प्रागुक्तपञ्चमहाव्रतपञ्चसमितिनिश्चयव्यवहारीजगुत्तिपञ्चपर-  
मोष्ठिध्यानसंयुक्तायां अतिप्रशस्तशुभभावनायां व्यवहारनयाभिप्रायेण परम-  
चारित्रं भवति, वक्ष्यमाणपञ्चमाधिकारे परमपञ्चमभावनिर्गतपञ्चमग-  
तिहेतुभूतशुद्धनिश्चयान्मपञ्चमचारित्रं द्रष्टव्यं भवतीति । तथाचोक्तं  
मार्ग्यकारे—

“ कुशीलगर्भम्यनिर्वाजसोदरं  
मवेदिना येन सुहाष्टिषोपनम् ।

तदेव देशसुरमानवस्तुतम्  
नमामि जैनं चरणं पुनः पुनः ॥

तथाहि—

शीलमपवर्गयोषिद्वर्गमुसस्यापि मूलमाचार्याः ।

ग्राह्यव्यवहारात्मकमुत्तमपि तस्य परो हेतुः ॥

इतिमुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपात्रिर्धापद्म-  
प्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायाम् तात्पर्यवृत्तौ  
व्यवहारचारित्र्याधिकारः चतुर्थः श्रुतस्कन्धः ॥ ४ ॥

नमोऽस्तु ते संयमबोधमूर्त्यै  
स्मरेभकुंभस्थलभेदनाय वै ।  
विनैयपंकेरुहविकाशमानवे  
विराजते माधवसेनसुरये ॥

अथ सकलव्यावहारिकचारित्र्यनलकलप्रतिप्रतिपक्षशुद्धनिश्चयनपात्र-  
कपरमचारित्र्यप्रतिपादनपरायणवर्गमार्थप्रतिक्रमणाधिकारः कथ्यते । तथा ।  
पञ्चस्नावतारः । अत्र शुद्धात्मनः सकलकर्तृत्वाभावं दर्शयति—

णाहं मग्गणठाणो णाहं गुणठाण जीयठाणो ण ।  
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ ७७ ॥  
णाहं णारयभावो तिरियत्थो मणुवदेवपज्जाओ ।  
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ ७८ ॥  
णाहं बालो बुद्धो ण चेव तरुणो ण कारणं तेसिं ।  
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ ७९ ॥  
णाहं रागो दोसो ण चेव मोहो ण कारणं तेसिं ।  
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ ८० ॥

णाहं कोहो माणो ण चेव माया ण होमि लोहो हिं ।  
कर्त्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कर्त्तीणं ॥ ८१ ॥

पंचमं

नाहं मार्गणास्थानानि नाहं गुणस्थानानि जीवस्थानानि वा ।  
कर्त्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्त्तृणाम् ॥ ७७ ॥

नाहं नारकभावस्तिर्यङ्मानुषदेवपर्व्यायः ।

कर्त्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्त्तृणाम् ॥ ७८ ॥

नाहं बालो वृद्धो न चैव तरुणो न कारणं तेषाम् ।

कर्त्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्त्तृणाम् ॥ ७९ ॥

नाहं रागो द्वेषो न चैव मोहो न कारणं तेषाम् ।

कर्त्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्त्तृणाम् ॥ ८० ॥

नाहं क्रोधो मानो न चैव माया न भवामि लोभोऽहम् ।

कर्त्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्त्तृणाम् ॥ ८१ ॥

पंचमं

बद्धारम्भपरिमहाभावादहं तावन्नारकपर्व्यायो न भवामि संसाणिो जी-  
वस्य बद्धारम्भपरिमहत्वं व्यवहारतो भवति अत एव तस्य नारका-  
शुक्लेतुभूतानिसिलमोहरागद्वेषा विद्यन्ते, न च मम शुद्धानिश्चय-  
वलेन शुद्धजीवास्तिकायस्य तिर्यक् पर्व्यायः शुद्धानिश्चयतो न सम्-  
स्तीति । देवनामधेयाधारेदेवपर्व्याययोग्यमुरसमुग्धस्वभावात्मक-  
पुद्गलद्रव्यसम्बन्धाभावाच्च मे देवपर्व्यायेः' इति । चतुर्दशमेवभिन्नानि  
मार्गणास्थानानि तथाविधमेवविभिन्नानि जीवस्थानानि गुणस्थानानि वा

शुद्धनिश्चयनयतः परमभावस्वभावस्य न विद्यन्ते । मनुष्यातिर्यक्पर्व्याय-  
कायनिकायवयःकृतविकारसमुपजनितबालयौवनस्थविरबुद्धावस्थायनेकसू-  
लकृशविधिभेदाः शुद्धनिश्चयनयाभिप्रायेण न मे सन्ति । सत्ता-  
वबोधपरमचैतन्यसुसानुभूतिनिरतविशीष्टात्मतत्त्वमाहकशुद्धद्रव्यार्थिकनय-  
बलेन मे सकलमोहरागद्वेषा न विद्यन्ते । सहजनिश्चयनयतः सदा  
निरावरणात्मकस्य शुद्धावबोधरूपस्य सहजचिच्छक्तिमयस्य सहजदृक्स्फु-  
र्तिपरिपूर्णमूर्तेः स्वरूपाविचलस्थितिरूपसहजयथारूपातत्त्वारित्रस्य न मे नि-  
सिलसंभृतिहेतवेतवः शेषमानमायालोभाः स्युः । अथामीषां विविधविकल्पा-  
कुलानां विभावपर्व्यायाणां निश्चयतो नाहं कर्ता, न कारयिता वा भवामि,  
न चानुमंता वा कर्तृणाम् पुद्गलकर्मणामिति । नाहं नारकपर्व्यायं कुर्वे,  
सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचितये नाहं तिर्व्यकृपर्व्यायं कुर्वे, सहज-  
चिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचितये । नाहं मनुष्यपर्व्यायं कुर्वे, सहजचिद्वि-  
लासात्मकमात्मानमेव संचितये । नाहं देवपर्व्यायं कुर्वे, सहजचिद्विला-  
सात्मकमात्मानमेव संचितये । नाहं मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानभेदं कुर्वे,  
सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचितये । नाहमेकेन्द्रियादिजीवस्थान-  
भेदं कुर्वे सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचितये । नाहं शरीरगत-  
बालायवस्थानभेदं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचितये ।  
नाहं रागादिभेदभावकर्मभेदं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव  
संचितये । नाहं भावकर्मात्मकपापचतुष्टयं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्म-  
कमात्मानमेव संचितये । इति पञ्चरत्नांचितोपन्यासप्रपञ्चनसकलविभा-  
वपर्व्यायसंन्यासविधानमुक्तं भवतीति ।

भग्नः समस्तविषयाग्रमुत्तचिन्तः

स्वद्रव्यपर्व्यायगुणात्मनि दत्तचित्तः ।

मुक्तवा विभावमस्तिर्ल निजभावभिन्न

प्राप्नोति मुनिमचिरादिति पञ्चरत्नान् ॥

अत्र भेदविज्ञानात् क्रमेण च निम्नपचारित्रं मवर्तन्त्युक्तं—

एरिसभेदभ्यासे मज्झत्यो होदि तेण चारित्तं ।  
तं दिदकरणणिमित्तं पडिक्कमणादी पवक्खामि ॥८२॥

ईदृग्भेदाभ्यासे मध्यस्यो भवति तेन चारित्रं ।  
तद्वदीकरणनिमित्तं प्रतिक्रमणादि प्रवक्ष्यामि ॥ ८२ ॥

पूर्वोक्तपंचरत्नां चितार्थपरिज्ञानेन पंचमगतिप्राप्तिहेतुमूले जीवक-  
र्मुपद्रवयोर्भेदाभ्यासे सति, तस्मिन्नेव च ये मुमुक्षवः  
सर्वदा संस्थितास्ते ह्यत एव मध्यम्याः तेन कारणेन तेषां परम-  
संयमिनां वा स्तवनं चारित्रं भवति । तस्य चारित्राविचलम्यतिहेतोः प्रति-  
क्रमणादिति निर्दिष्टक्रिया निगद्यते । अनीतदोषपरिहारार्थं यत्प्राप्यश्चित्तं  
क्रियते तत्प्रतिक्रमणम् । आदिशब्देन प्रत्याख्यानादीनां संभवश्चोच्यते  
इति । तथाचोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।  
अस्यैव भावतो वद्धा वद्धा ये किल केचन ॥

तथाहि—

इति सति मुनिनायस्योच्चैर्भदभावे  
स्वयमयमुपयोगाद्राजते मुक्तमोहः ।  
शमजलनिधिपूरक्षालिताहःकलंकः  
स सलु समयसारस्यास्य भेदः क एषः ॥

दैनं दैनं मुमुक्षुजनसंस्तूयमानवाद्भयप्रतिक्रमणनामधेयसमस्तपापक्षय-  
हेतुभूतसूत्रसमुद्यनिरासोपनः—

मोक्षेण ददणायणं रागादीभाषयणं किञ्च ।

अप्याणं जी हायदि तम्म दु होदिति पटिकमणं ॥८३॥

मुक्त्वा वचनरचनां रागादिभावराणं कृत्वा ।

आत्मानं यो ध्यायति तस्य तु भर्तृनि प्रतिबमणं ॥ ८३ ॥

यं हि परमात्मधारणकारणादहमिदमस्मिन्नुनात्म्यं रागादि-  
भेदविनीतस्य अप्रशङ्क्यचनपरिमितोऽपि प्रतिबमणमुच्चविषमवयवरचनां  
मुक्त्वा संसारजन्मदुर्बन्धानां निमित्तमोदरागद्वेषभावानां निराकरणं कृत्वा  
अहंकारेणैव निजकारणपरमात्मानं ध्यायति, तस्य तदु परमात्म-  
वद्भावनावर्त्तमानुष्ठानाभिमुखत्वात्तद्विषयव्यापारविहितनिधायप्रतिबमणं  
भवतीति ।

तथाप्येवं ध्यायन्मुक्तसङ्गतिभिः—

अत्रमलमतिमम्येर्दुर्विकल्पैरन्ये—

एवमिह परमार्थविषयो नित्यमेकः ।

एवमाविसरपुणं ज्ञानविभूतिर्निर्माण—

य एतद् समयमागदुर्न किंचिदस्मि ॥

तथाहि—

अतिर्नवमोदरोभवदूर्जालिवनप्रतिक्रम्य ।

आत्मनि सद्बोधोऽत्मनि नित्यं वर्तेहमात्मना तस्मिन् ॥

अत्राध्यासाधनायां वर्तमानस्य जन्तारेव प्रतिक्रमणस्वरूपमुक्तः—

आराहणाद् पट्टद् मोक्षेण विराहणं विसेसेण ।

सो पटिकमणं उच्यद् पटिकमणमओ हये जम्हा ॥८४॥

आगधनायां वर्तते मुक्त्वा विराधन विरोधेण ।

तन् प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात्

यस्तु परमनन्तजानी जीवः निरन्तराभिमुख्यया ऋषयःपण्डितानाम-  
संतत्या माशान् समाश्रित्याश्रमाश्रयनायां वर्तते अयं निरपराधः  
विगतान्माराधनः सापराधः अन एव निश्चयेण विगधनं मुक्त्या,  
विगताराधो यस्य परिणामस्य स विगधनः यन्मात्रिभयप्रतिक्रमणमयः  
स जीवस्तत एव प्रतिक्रमणव्यवस्थमुच्यते । तथा चोक्तं समयसारे—

“संसिद्धिगधमिद्धीसागतिमाराधनं च पृच्छं ।

अपराधराधय जो राहु चेदा सो राहु होदि अकिराहो ”

उक्तं हि समयसारव्याख्यायाम् च—

अनवरतमनन्तर्वर्च्यते सापराधः

सृशति निरपराधो बंधनं नैव जातु ।

नियतमयमशुद्धं स्यं मजन् सापराधो

भवति निरपराधस्तापु शुद्धात्मसेवी ”

तथाहि—

अपराधपरमात्मध्यानसंभावनात्मा

नियतमिह भवासा ( ? ) सापराध स्मृतः सन् ।

अनवरतमसंढाद्वैतचिद्धावयुक्तो

भवति निरपराधः कर्मसंन्यासदक्षः ॥

अत्र निश्चयचरणात्मकस्य परमोपेक्षासंयमधरस्य निश्चयप्रतिक्रमण-  
स्वरूपं च भवतीत्युक्तम्—

मोक्षूण अणायारं आयारे जो दु कुणदि थिरमावं ।

सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८५॥

मुक्तवानाचारं आचारे यस्तु करोति स्थिरभावम् ।

स प्रतिक्रमणं उच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात् ॥ ८५ ॥

निर्वाणं दत्तं देवतां दत्तं निः १५ दत्तामात्राध्यायनिर्वाणः मन्त्रोपनायासः,  
अपत्यं सर्वमनायासं शुक्ला दत्तायां सहजविद्विगमनभजनोत्थने  
निर्वाणमात्राध्यायभावनानुष्ठाने च साहजदेवायभावनानुष्ठानः निर्वृत्त-  
भावं करोति, स दत्तमन्त्रोपनाय १६ प्रतिब्रजमाचरन् प्राप्नुयते । दत्तमात्रं  
दत्तमन्त्रमन्त्रभावनानुष्ठानं साहजनिश्चयप्रतिब्रजमणमयो भवतीति ।

अथ निजदत्तमानंदैकधीपुत्रताम्—

पुनरितस्तत्तत्संश्रामानमाधानमात्मा ।

निजदत्तमप्यसिद्धिर्निर्वाणैर्दुर्भक्त्या

अपत्यं वदुमि' हि लोकोत्थापनादेः ॥

शुद्धमात्राध्यायमुत्थेननसुनकरं सर्वशेषमात्रं

निश्चयामन्यात्मनामा निश्चयसाहजानेष्टदत्तसिद्धांतौ ।

बाह्याधारमगुणं दत्तमन्त्रनिश्चयविन्दुसंश्लेषतः

सोऽयं पुण्यः पुण्यः क्षयिमन्त्रकरीर्भाति लोकोपसार्क्षी ॥

अथ उन्मार्गपरिपायाः सर्वशरीरगतमात्रमयीकाशधोतः ।

उन्मार्गं परिपत्ता जिणमग्गे ओ दु कुणदि धिरभायं ।

सो पटिकमणं उषइं पटिकमणमओ हवे जम्हा ॥८६॥

उन्मार्गं परिपत्ताय जिणमार्गे यस्तु करोति स्थिरभावं ।

स प्रतिब्रजमणमुच्यते प्रतिब्रजमणमयो भवेयमान् ॥ ८६ ॥

यस्तु संकाशविधिर्विदित्वाऽन्यदृष्टिप्रदोसागत्यमन्त्रकलंकरणं निर्मुक्तः  
हृदनिधयमदराष्टिः शुद्धादिमर्णातमिध्यादर्शनज्ञानचारित्र्यात्मकं मार्गा-  
भासमन्मार्गं परित्यज्य प्यवहारेण महादेवाधिदेवपरमेश्वरसर्वशरीत-  
रागमार्गे पंचमहावतर्पचसमिति त्रिगुणसिद्धिं त्रिपयनिरोधपटावश्यकापटा-  
विशतिमूढगुणात्मके स्थिरपरिणामं करोति, हृदनिधयनयेन सहजबो-  
धादिशुद्धगुणवत्कृते सहजपरमाचित्सामान्यविशेषभासिनि





वपादव निजित्तपयतु विनमुद्धेर्भक्तान्  
भक्तभ्रमणकारणं स्मरशागदिदम् हुटः ।  
स्वाभावनियतं तुमं विविशद्दत्तादादिनम्  
भक्त स्वमतिर्न यत्र प्रचलन्मूर्खेर्भीतिनः ॥

त्रिगुणित्तपयतु भक्तपोधनाय निधयपतिव्रतान् यानमेतन्—

पया द्युगुप्तिमायं त्रिगुप्तिगुप्तो हवेइ जो साह ।  
सो पटिकमणं उच्चइ पटिकमणमओ हवे जम्हा ॥८८॥

त्यक्त्वा द्युगुप्तिमायं त्रिगुप्तिगुप्तो भवेयः साधुः ।  
स प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणमयो भोषम्भान् ॥ ८८ ॥

यः सगुणपञ्चमणमतःसगुणीकृतकरचैदृषदृष्टिमात्रासमभयो मुनीश्वरः  
दादृश्वर्यरूपम् अगुप्तिमायं त्यक्त्वा त्रिगुप्तिगुप्तिनिर्विकल्पपरमसमाधिद्वैत-  
दक्षिणम् अत्यपूर्वमात्मानं ध्यायति, यस्मात् प्रतिक्रमणमयः परमसंयमी  
अत्र एव स य निधयपतिक्रमणारूपो भवतीति ।

अथ तनुमनोवापां त्यक्त्वा सदा विवृतिं मुनिः  
सत्तजपरमो गुर्नि संज्ञानपुंगवमर्थमिमाम् ।  
भक्तनु पारमी भक्त्यः शुद्धात्मभावतया सार्धं  
भवति विशदं दीप्तं तस्य त्रिगुप्तिमपाय तत् ॥

ध्यानविवक्ष्यस्वस्वस्थानमेतन्—

मोक्षूण अहरहं शार्णं जो झादि पम्मसुहं वा ।  
सो पटिकमणं उच्चइ जिणवरणिदिदसुत्तेसु ॥ ८९ ॥

मुक्तवानर्हदं ध्यानं यो ध्यायति धर्मसुहं वा  
स प्रतिक्रमणम् उच्यते त्रिगुप्तिनिर्विकल्पेषु ॥ ८९ ॥

स्वदेशत्यागात् द्रव्यनाशात् मित्रजनविदेशगमनात् कर्मनीयकामिनी-  
वियोगात् अनिष्टसंयोगाद्वा समुपजातमार्तध्यानम् । चौरजाग्रावजन-  
बन्धबंधननिबद्धमहद्देवजनितगौद्रध्यानं च एतद्भक्षितम् अरगिमितस्वर्गा-  
पवर्गसुसमतिपक्षं संसारदुःसमूलत्वं निरवशेषेण त्यक्त्वा स्वर्गापवर्गनि-  
सीमसुसमूलस्यात्मश्रितनिश्चयपरमधर्मध्यानम्, ध्यानध्येयविविश्विकन्य-  
विरहितान्तर्मुक्ताकारसकलकरणग्रामार्तनिर्मेदपरमकलामर्नाथनिश्चयशुद्ध-  
ध्यानं च, ध्यात्वा यः परमभावभावनापरिणतः मध्यवरपुंडरीकः  
निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूपं भवति । परमजिनेन्द्रवदनारविन्दविनिर्गत-  
द्रव्यश्रुतेषु विदितमिति, ध्यानेषु च चतुर्षु हेयमाद्यं ध्यानद्वितयं, त्रिनयं  
तावदुपादेयं, सर्वदोषादेयं च चतुर्थमिति ।

तथा चोक्तं—

“ निष्क्रियं करणार्तितं ध्यानध्येयविवर्जितं ।

अन्तर्मुखं तु यद्ध्यानं तच्छुद्धं योगिनो विदुः ॥ ”

ध्यानावलीमापि च शुद्धनयो न वक्ति

व्यक्तं सदाशिवमये परमात्मतत्त्वे ।

सास्तीत्युवाच सततं व्यवहारमार्ग—

स्तत्त्वं जिनेन्द्र तदहो महदिन्द्रजालम् ॥

सद्गोचमण्डनमिदं परमात्मतत्त्वं

मुक्तं विकल्पनिकरैरसिलैः समन्तात् ।

नास्त्येष सर्वनयजातगतप्रपंचा

ध्यानावलीं कथय सा कथमत्र जाता ॥

आसन्नासन्नमव्यर्जीवे पूर्वपरपरिणामस्वरूपोपन्यासोऽयम्—

मिच्छत्तपहुदिभावा पुर्वं जीवेण भाविषा सुइरं ।

सम्मत्तपहुदिभावा अभाविषा ह्यंति जीवेण ॥ ९० ॥

मिर्यात्वप्रभृतिभावाः पूर्वं जीवेन भाविताः सुचिरं ।

सम्यक्त्वप्रभृतिभावाः अभाविता भवन्ति जीवेन ॥ ९० ॥

मिथ्यात्वावतकषाययोगपरिणामास्सामान्यप्रत्ययाः, तेषां विकल्पा-  
स्त्रयोदश भवन्ति 'मिच्छादिद्विगुणद्वाणादिसयोगिस्स चरित्तं, इति  
वचनात् मिथ्याद्विगुणस्यानादिसयोगिगुणस्यानचरमसमयस्थित इत्यर्थः ।

अत्यासन्नभव्यजीवेन निरंजननिजपरमात्मतत्त्वभ्रदानविकलेन पूर्वं  
सुचिरं भाविताः सल्लु सामान्यप्रत्ययाः, तेन स्वरूपविकलेन बहिरात्मजीवे-  
नानासादितपरमनैष्कर्म्यचारित्र्येण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि न भावितानि  
भवन्तीति अस्य मिथ्याद्वेर्विपरीतगुणनिचयसंपन्नोऽत्यासन्नभव्यजीवः ।  
अस्य सम्यग्ज्ञानभावनाकथमिति चेत्—

तथा चोक्तं श्रीगुणभद्रस्वामिभिः—

“ भावयामि भवावर्ते भावनाः प्रागभाविताः ।

भावयेद्भाविनामेति भवाभावाय भावनाः ” ॥

अथ भवजलराशौ मग्नजीवेन पूर्वं

किमपि वचनमात्रं निर्वृतेः कारणं यत् ।

तदपि भवभवेषु श्रूयते वाच्यते वा

न च न च वन कष्टं सर्वदा ज्ञानमेकम् ॥

अत्र सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणां निरवशेषस्वाकारेण मिथ्यादर्शन-  
ज्ञानचारित्र्याणां निरवशेषत्यागेन च परममुमुक्षोर्निश्चयप्रतिकर्मणं च  
भवति इत्युक्तम्—

मिच्छादंसणणाणचरित्तं चद्दुण णिरवसेसेण ।

सम्मत्तणाणचरणं ज्ञो भावइ सो पडिक्कमणं ॥ ९१ ॥

मिथ्यादर्शनज्ञानचरित्रं त्यक्त्वा निरवशेषेण ।

सम्यक्त्वज्ञानचरणं यो भावयति स प्रतिकर्मणं ॥ ९१ ॥



समै नमः सकलसंयमभूषणाय  
श्रीवीरनन्दिमुनिनामधराय नित्यं ।

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिमहभीषण-  
प्रममहृषारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ  
निधयप्रतिक्रमणाधिकारः पंचमः श्रुतस्कंधः ॥ ५ ॥

अपेक्षानीं सकलप्रव्रज्यासां प्राज्यवैजयन्तीर्युलदंढमंडनायमानसकल-  
कर्मनिर्जराहेतुभूतनिःश्रेयसश्रेणीभूतमुनिभामिनीप्रथमदर्शनोपायनीभूत नि-  
धयप्रत्याख्यानाधिकारः कथ्यते । तपसा—

अत्र सूत्रावतारः ।

निधयनयप्रत्याख्यानमेततः—

मोक्षेण सयत्नजप्प-मणागयसुहृमसुहृवारणं किंचा ।  
अप्पाणं जो ज्ञायदि पचकराणं हृषे तस्स ॥ ९५ ॥

मुक्त्वा सकलमल्पमनागतशुभाशुभनिवारणं कृत्वा ।

आत्मानं यो ध्यायति प्रत्याख्यानं भवेत्तस्य ॥ ९६ ॥

अत्र व्यवहारनपादेष्टात् मुनयो भुक्त्वा देनं देनं पुनर्योग्यकाल-  
पर्यन्तं प्रत्यादिष्टाभ्रपानरागदोषरुचयः, एतद् व्यवहारप्रत्याख्यान-  
स्वरूपं, निधयनयतः—प्रज्ञास्वाप्नज्ञास्तसमस्तवचनवचनाप्रपंचपरिहारेण  
शुद्धज्ञानभावनामेवाप्रसादादभिनवशुभाशुभद्रव्यभावकर्मणा संवरः प्रत्या-  
ख्यानम् । यः सदान्तर्मुक्ते परिणित्या परमकलाधारमपूर्वमात्मानं ध्यायति  
तस्य नित्यं प्रत्याख्यानं भवतीति ।

तथाचोक्तं समयसारे—

“ जाणं सच्छे भावे पचक्खादीपरेति जादूणे ।

तम्हा पचक्खाणं जाणं णियमा मुणेद्व्वा ॥ ”

तथा समयसारव्याख्यायां च

“ प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्मसमस्तं निरस्तसंमोहः ।

आत्मनि चैतन्यात्मनि निःकर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ” ॥

तथाहि—

सम्यग्दृष्टिस्त्यजति सकलं कर्मनोकर्मजातं

प्रत्याख्याने भवति नियतं तस्य संज्ञानमूर्तः ।

सञ्चारिष्यकुलहृणिष्यस्य तानि स्युरुच्यैः

ते वरेहे भाषतिभरुदेशनाशाय नित्यम् ॥

अनन्तगुणमात्मकनिजात्मध्यानोपदेशोपन्यासोपमः—

केवलज्ञानसहायो केवलदंसणसहाय सुहृमदजो ।

केवलसत्तिसहायो सोहं इदि चिंतए णाणी ॥ ९६ ॥

केवलज्ञानस्वभावः केवलदर्शनस्वभावः सुगमगः ।

केवलसत्तिस्वभावः साहमिनि चिंतयेत् ज्ञानी ॥ ९७ ॥

समस्तवाक्यार्थवचनानां निनिर्मुक्तस्य नित्यशेषेणान्तर्मुखाय प  
त्त्यज्ञानिनो दीप्तस्य ज्ञाना प्रोक्ता । कथंकारे अनाद्यनिनामूर्ता निनि  
स्वभावः शुद्धमहत्तत्त्वज्ञानात्मा, शुद्धमार्गसमर्थवर्णा नामाधारभूतशुद्ध  
वचनानां केवलज्ञानं केवलदर्शनं केवलसत्तिसंकेतज्ञानं केवलसत्तिसंकेत  
इति भावना कर्तव्या ज्ञानंतीति, निजयेन सहजज्ञानस्वभावेन  
केवलदर्शनं स्वभावेन, सहजमार्गसमर्थवचनं, सहजविच्छेदित  
वेन, इति भावना कर्तव्या चेति—

तथाचोनमेकत्वसततो—

“ केवलज्ञानदृक्सौख्यस्वभावं तत्परं महः ।  
तत्र ज्ञानेन किं ज्ञाते दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतं ” ॥

तथाहि—

जयति स परमात्मा केवलज्ञानमूर्तिः  
सकलविमलदृष्टिः शाश्वतानंदरूपः ।  
सहजपरमचिच्छक्त्यात्मकः शाश्वतोयं  
निरिदमुनिजनानां चित्तपंकेतहंसः ।

अत्र परमभावनाभिमुख्यस्य ज्ञानिन शिक्षणमुक्तः—

णियमावं णवि मुञ्चइ परमावं णेव गेण्हए केई ।  
जाणदि पस्सदि सव्वं सोहं इदि चिंतए णाणी ॥ ९७ ॥  
निजभावं नापि मुंचति परमावं नैव गृह्णाति किमपि ।  
जानाति पश्यति सर्वं सोहमिति चिंतयेद् ज्ञानी ॥ ९७ ॥

यस्तु कारणपरमात्मा सकलदुरितवीरवेरिसेनाविजयवैजयन्तीलुटाकं  
त्रिकालनिरावरणनिरंजननिजपरमभावं हृदिदपि नापि मुंचति, पंचविध-  
संसारप्रवृद्धिकारणं विभावपुद्गलद्रव्यमेयोज्ञातं रागादिपरभावं नैव  
गृह्णाति, निश्चयेन निजनिरावरणपरमबोधेन निरंजनसहजज्ञानसहज-  
दृष्टिसहजशीलादिस्वभावधर्माणामाधाराधेयविकल्पनिर्मुक्तमपि सदा मुक्तं  
सहजमुक्तिभामिनीसंयोगसंभवपरतानिदर्यं कारणपरमात्मानं जानाति, तथा-  
विधसहजावलोकेन पश्यति च, स च कारणसमयसारोहमिति भावना  
सदा कर्तव्या सम्यग्ज्ञानिभिरिति । तथा श्लोकं श्रीपूज्यपादस्वामिभिः—

“ यद्विषयं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुंचति ।  
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्यहम् ॥ ”





मेशाश्विः सहजपरमानन्दचिद्रूपमेव  
संघातं तैर्निष्पन्नमिदं मुनिगाम्राज्यमृतं ।  
तस्मादुभेः स्वयमपि च तरे मदचस्तारमस्मिन्  
धुर्या शीघ्रं बुरु तव मतिं विश्वमन्त्रागमात्रे ॥

अत्र सङ्कटविभावसंन्यासविधिः प्रोक्तः ।

ममसिं परिव ज्ञामि णिम्ममसिमुपहिदो ।  
आलंघणं च मे आदा अवसेसं च पोसरे ॥ ९९ ॥

ममत्वं परिवञ्जयामि निर्म्ममत्वेप्सुगन्धिनः ।  
आत्मनं च मे आत्मा आरोपं च विनूनामि ॥ ९९ ॥

कर्मनीयकामिनीकाचनप्रभृतिगमनपद्म्यगुणपर्यायेषु ममकारं संत्य-  
जामि । परमोपेक्षादक्ष्णलक्षिते निर्म्ममकारात्मानि आत्मनि स्थित्वा  
आत्मानमवलम्ब्य च संयुतिपुण्ड्रिकासंभोगसंभवमुत्तदुःसाधनेकविभाव-  
परिणतिं परिहरेमि । तथाचोक्तं श्रीमद्भूतचन्द्रसूत्रिभिः—

“ निषिद्धे सर्वेस्मिन् भुवतदुरिते कर्मणि क्लृप्त  
मृते नैष्वर्ग्ये न तदु मुनयः सन्त्यशरणम् ।  
तदा ज्ञाने ज्ञानं चरितमिदमेतं हि शरणम्  
एव विन्दन्त्येने परमममृतं तस्यनिरताः । ”

तथाहि—

अथ नियमनोवाचायवृत्तनेन्द्रियोन्वो  
भववनधिसमुत्थं मोहपादेऽमूर्ह ।  
कनकयुवतिरीच्यामप्यहं सर्वशय्या  
प्रवृत्तगविशुद्धं ध्यानमप्या त्यजामि ॥

तथाहि—

आत्मानमात्मनि निजात्मगुणाद्व्यमात्मा

जानाति पश्यति च पंचमभावमेकं ।

तत्याज नैव सहजं परमावमन्यं

शृङ्गाति नैव सलु पौट्टलिकं विकारं ॥

मत्त्वान्तं मयि लग्नमेतदनिशं चिन्मात्रचिंतामणा-

वन्यद्व्यकृताग्रहोद्भवमिमं मुक्त्वाधुना विमहं ।

तच्चित्रं न विशुद्धिपूर्णसहजज्ञानात्मनो शम्भणे

देवानाममृताशनोद्भवमिदं ज्ञात्वा किमन्याशने ॥

निर्दिन्दं निरुपद्रवं निरुपमं नित्यं निजात्मोद्भवं

नान्यद् द्रव्यविभावनोद्भवमिदं शर्माभृतं निर्मलं ।

पीत्वा यः सुरुतात्मकः सुरुतमप्येतदिहायाधुना

प्राप्नोति स्फुटमद्वितीयमतुलं चिन्मात्रचिंतामणिम् ॥

को नाम वक्ति विद्वान् मम च परद्रव्यमेव स्यात् ।

निजमहिमानं जानन् गुरुचरणसमर्चना समुद्भूतम् ॥

अत्र बन्धनिर्मुक्तमात्मानं भाषयेदिति भव्यस्य शिक्षणमुक्तम्—

पयटिष्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधेहिं यज्जिदो अप्पो ।

सोहं इदि चिंतिज्जो तत्थेय य कुणदि धिरमावै ॥९८॥

प्रवृत्तिस्थित्यनुभागप्रदेशबोधैर्वर्जित आत्मा ।

सोहमिति चिंतयन् तत्रैतच्च करोति धिरभावम् ॥ ९८ ॥

शुभाशुममनीवाकायकर्मभिः प्रवृत्तिप्रदेशबोधो स्यात्, यतुभिः कदापि स्थित्यनुभागबन्धो नाः, एभिश्चतुर्भिर्वन्धोर्निर्मुक्तः सदानिग्राहितव्यो व्याप्ता मंत्रमिति सत्यज्ञानिना निश्चरं भावना कर्तव्येति ।





निरवधिनिजदिभ्यस्तान्दृग्भ्यां समृद्धः

किमिह षट्शिक्ष्ये मे फलं वास्यभावेः ॥

आत्मगन्तव्योपनिर्मुक्त्युपायकथनमिदम्—

जंकिंचि मे दुश्चारितं सद्यं त्रिविहेण योसरे ।

सामाहयं तु त्रिविहं करोमि सद्यं णिरायारं ॥ १०३ ॥

यत्किञ्चित्मे दुश्नरित्रं सर्वं त्रिविधेन विमुञ्चामि ।

सामयिकं तु त्रिविधं करोमि सर्वं निराकारम् ॥ १०४ ॥

भेदविज्ञानिनोपि मम परमतपोधनस्य पूर्वसंचितकर्मोदयवलाद्या-  
स्त्रिमोहोदये सति यत्किञ्चिदपि दुश्चारित्रं भवति चेत् सर्वं मनोवाक्का-  
यशुद्ध्या संत्यजामि, सामायिकशब्देन तावच्चारित्रमुक्तं सामायिकछेदो-  
पस्थापनपरिहारविशुद्धयभिधानभेदाभिधं । अथवा जपन्यरत्नत्रयमुत्कृष्टं  
करोमि नवपदार्थपरद्रव्यभ्रद्धानपरिज्ञानाचरणस्वरूपं रत्नत्रयं साकारं  
तत् स्वस्वरूपभ्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानरूपस्वभावरत्नत्रयस्वीकारेण निराकारं  
शुद्धं करोमि इत्यर्थः । किञ्च भेदोपचारचारित्रं अभेदोपचारं करोमि,  
अभेदोपचारम् अभेदानुपचारं करोमि इति त्रिविधं सामायिकमुत्तरोत्तर-  
स्वीकारेण सहजपरमतस्त्विकमलस्थितिरूपसहजनिश्चयचारित्रं, निराकारतत्त्व-  
निरतत्त्वाभिप्रायचारित्रमिति ।

तथाचोक्तं प्रवचनसागव्याख्यायां—

“द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि

द्रव्यं मिथो द्रव्यमिदं, ननु तत्त्वपेक्षे ।

तस्मान्मुमुक्षुरपिरोहतु मोक्षमार्गं

द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य ॥”

तथाहि—

चित्तस्वभावनाशकमतयो यतयो यमम् ।

“ एकस्त्वमाविशसि जन्मनि संक्षये च  
भोक्तुं स्वयं स्वकृतकर्मफलानुबन्धं ।  
अन्यो न जातु सुरादुःखविधौ सहायः  
स्वाजीवनाय मिलितं नटपेटकं ते ” ॥

तथाहि—

एको याति प्रबलदुरपाजन्म मृत्युं च जीवः  
कर्मबन्धोद्भवफलमयं चारुसौख्यं च दुःखं ।  
भूयो भुङ्क्ते स्वसुखविमुक्तः सन् सदा त्रीविमोहा—  
देकं तत्त्वं किमपि गुरुतः प्राप्य तिष्ठत्यमुष्मिन् ॥  
एकस्त्वमावनापरिणतस्य सम्यग्ज्ञानिनो लक्षणकथनमिदं—

एको मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।

सेसा मे बहिरा माया सद्ये संजोगलक्खणा ॥१०२॥

एको मे शास्वत आत्मा ज्ञानदर्शनरक्षणः ।

शेषा मे बाह्या भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः ॥ १०२ ॥

असिलसंश्रुतिनन्दनतटमृदालयालाभः गूरुपरिपूर्णप्रणालिघावत् संस्थि-  
तकण्ठेवरसंभवहेतुभूतद्रव्यभावकर्मभाशदेकः, स एव निसिलक्रियाको-  
टाष्टंवरमिवधविकल्पकोलाहलनिर्मुक्तसदृशशुद्धज्ञानचेतनामतीन्द्रियं भु-  
जानः सन् शाश्वतो भूत्वा प्रमोषादेयरूपस्तिष्ठति । यद्विकल्पनिवृत्ताधि-  
स्वभावत्वात् निरावगणज्ञानदर्शनलक्षणान्वितः कारणपरमात्मा, ये  
शुभानुमकर्मसंयोगसंभवाः शेषा बाह्याभ्यन्तर्परिमिताः स्वस्वरूपा, बाह्यास्ते  
सौ, इति मम निश्चयः ।

अथ मम परमात्मा शाश्वतः कश्चिदेवम् :

महजदरमधिस्विन्नामगिनिर्गमशब्दः ।

निरवधिनिजदिव्यज्ञानवृग्भ्यां समृद्धः

किमिह बहुविकल्पे मे फलं बाह्यभावेः ॥

आत्मगतदोषनिर्मुक्तयुपायकथनमिदम् —

जर्कचि मे दुश्चरितं सद्यं तिविहेण दोसरे ।

सामाईयं तु तिविहं करोमि सद्यं गिरायारं ॥ १०३ ॥

यत्किञ्चिन्मे दुश्चरित्रं सर्वं त्रिविधेन विमुञ्चामि ।

सामयिकं तु त्रिविधं करोमि सर्वं निराकारम् ॥ १०४ ॥

भेदविज्ञानिनोपि मम परमतपोधनस्य पूर्वसंचितकर्मोद्भयबलाच्चा-  
त्रिमोहोदये सति यत्किञ्चिदपि दुश्चरित्रं भवति चेत् सर्वं मनोवाक्का-  
यशुद्ध्या संत्यजामि, सामायिकशब्देन तावच्चात्रिमुक्तं सामायिकदो-  
षस्थापनपरिहारविशुद्धयभिधानभेदाभिधं । अथवा जपन्यस्तत्र यमुत्सृष्टं  
करोमि नवपदार्थपरद्रव्यभ्रद्धानपज्ञानाचरणस्वरूपं रत्नत्रयं साकारं  
सत् स्वस्वरूपभ्रद्धानपज्ञानानुष्ठानरूपस्यभावस्तनयस्वीकारेण निराकारं  
शुद्धं करोमि इत्यर्थः । किञ्च । भेदोपस्थाचारित्रं अभेदोपचारं करोमि,  
अभेदोपचारम् अभेदानुपचारं करोमि इति त्रिविधं सामायिकमुत्तरोत्तर-  
स्वीकारेण सहजपरमतत्त्वविमर्शस्थितिरूपसहजनिश्चयचारित्र्यं, निराकारतत्त्व-  
निरतस्वाधिराकारचारित्र्यमिति ।

तथाचोक्तं प्रवचनसात्त्व्याख्यायाम् —

“द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि

द्रव्यं मिथो द्रव्यमिदं, ननु सत्त्वपेक्षे ।

तस्मान्मुमुक्षुषिरोरतु मोक्षमार्गं

द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य ॥”

तथाहि —

विनस्वभावनास्तमतपो यतपो धमश् ।



ये ते ते पातनाशीलयमनाशनकारणम् ॥

इहान्तर्मुसस्य परमतपोधनस्य भावशुद्धिरुक्ताः—

सम्मं मे सब्बमूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि ।

आसाए वोसरित्ता णं समाहि पडिवज्जए ॥ १०४ ॥

साम्यं मे सर्वभूतेषु वैरं मह्यं न केनचिन् ।

आशां उत्तमृज्य नूनं समाधिः प्रतिपद्यते ॥ १०४ ॥

विमुक्तसकलेन्द्रियव्यापारस्य मम भेदविज्ञानिज्ञानिषु च समता, मित्रामित्रपरिणतेरभान्न मे केनचिज्जनेन सह वैरं, सहजवेराग्यपरिणतेर्ण मे काप्याशा विद्यते, परमसमरसीभावसनायपरमसमार्धिं प्रपद्येऽहमिति ।

तथा चोक्तं श्रीयोगीन्द्रदेवेः ।

तथाहि—

“मुक्त्यङ्गनालिमपुनर्भवसौरूपमूलं  
दुर्भावनातिमिरसंहतिचन्द्रकीर्तिम् ।

संभावयामि समतामहमुच्चकैस्ताम्  
या संमता भवति संपमिनामजम्बम्” ॥

तथाहि—

जयति समता नित्यं या योगिनामपि दुर्लभा  
निजमुससुसवादिप्रस्कारपूर्णशशिप्रभा ।

परमयमिनां प्रवज्यास्त्रीमनःप्रियमौत्रिका

मुनिवरगणस्योद्येः सालंक्रिया जगतामपि ॥

निधयप्रत्याख्यानयोग्यजीवस्वरूपाख्यानमेतत्—

णिकसायस्स दांतस्स मूरस्स ययसायिणो ।

संसारमयभीदस्स पचक्खणं सुहं हये ॥ १०५ ॥

निःशयायस्य दांतस्य दारस्य त्यक्मायिनः ।

संसारभयभीतस्य प्रत्याख्यानं मुक्त भवेत् ॥ १०९ ॥

सकलकषायकलेवपंक्तिमुक्तस्य निरितिलेन्द्रियध्यापारविजयोपार्जित-  
परमदान्तरूपस्य अतिलपरिहमहाभटविजयोपार्जितनिजशूरगुणस्य  
निश्चयपरमतपश्चरणनिरतशुद्धभावाय संसारदुःखभीतस्य व्यवहारेण  
चतुर्गहाराविजजितप्रत्याख्यानम् । किंच । पुनः व्यवहारप्रत्याख्यानं कुट्टेरेषि  
पुरणस्य चारित्र्यमोहोदयहेतुभूतद्रव्यभावकर्मक्षयोपशमेन कथितं कदाचि-  
त्संभवति । अतएव निश्चयनप्रत्याख्यानं हितम् अत्यासन्नभक्ष्यजी-  
वानाम्, यतः स्वर्णनामधेयधरस्य पापाणाम्योपादेयत्वं न तर्थापपापाण-  
स्येति । सतः संसारद्वाररिभोगनिर्वेगता निश्चयप्रत्याख्यानस्य कारणे,  
पुनर्ज्याविक्राले समाविना निरितिलमोहगागदेपादिविविधविभावानां परिहारः  
परमार्थप्रत्याख्यानं । अथवानागतकालोद्भवविविधान्तर्जन्मपरित्यागः शुद्धं  
निश्चयप्रत्याख्यानम् इति ।

जयति सततं प्रत्याख्यानं जिनेन्द्रमतोद्भवम्

परमयामिनामेतन्निष्ठाणि सौख्यकरं परं ।

सहजसमतादेवी सत्कर्णभूषणमुद्यतेः

मुनिष शृणु ते दीक्षाकान्तातीवयोवनकारणं ॥

निश्चयप्रत्याख्यानाध्यायोपसंहारोपन्यासोपमः—

एवं भेदव्यासं जो कुर्व्यद् जीवकर्मणो निश्चयं ।

पचकखार्ण सक्तादि धरिदं सो सिजदो णियमा ॥ १०९ ॥

एवं भेदव्यासं यः करोति जीवकर्मणोः नित्यम् ।

प्रत्याख्यानं शक्नो धर्तुं स संयतो नियमान् ॥ १०९ ॥

यः श्रीमदहं-मुसाराविन्दविनिर्गतपरमागमार्थविचारक्षणः अशुद्धातस्तत्त्व-

कर्मजुल्लयोरनादिवन्धनसंबन्धनयोर्भेदं भेदाभ्यासबलेन करोति, स परम-  
संपत्नी निश्चयव्यवहारप्रत्याख्यानं स्वीकरोतीति ।

भाविकालभवभावनिवृत्तः सोहमित्यनुदिनं मुनिनाथः ।

भावयेदसिलसोह्यनिधानं स्वस्वरूपममलं मलमुक्त्यै ॥

धोरमंसूतिमहार्णवभास्वशानशानमिदमाह जिनेन्द्रः ।

तत्त्वतः परमतत्त्वमनसं भावयाम्यहमनो जितमोहः ॥

प्रत्याख्यानं भवति सततं शुद्धचारित्र्यभूतेः

भ्रान्तिर्ध्वंसात्मकजपरमानन्दयिज्ञावृद्धेः ।

नाम्यन्येषामपरममये योगिनामास्वदानं

भूयो भूयो भवति भवितां संसृतिर्षोरूपा ॥

महानन्दानन्दो जगति सिद्धिः शाश्वतमयः

स सिद्धात्मन्युत्पत्त्यैर्निपतस्ततिर्निर्जन्मशृंगे ।

जामी सिद्धान्तोपि स्मरेति निशितास्यैरभिज्ञिताः

कथं कथित्येनं वन कथित्वात्मने जदधियः ॥

प्रणयान्यानां भवति यस्मिन् प्रणुष्टं शुद्धशुद्धं

सत्चारित्र्यं दुष्पतकमाद्रुतीवद्विषये ।

तत्त्वं शीघ्रं कुरु तत्र मनो मध्यशार्ङ्गं निष्पन्नं

यत्किमुत महजमुगर्हं शीघ्रमुत मुनीनाम् ॥

जयति सत्जनस्य तत्प्रतिष्ठापनवृद्धेः

हृदयमगमि जाताभ्यन्तः संविषये वन ।

तदपि सत्जनैः प्रसन्नोत्पन्नवृद्धेः

स्वाकर्म्मिणः भास्वशानसिद्धिर्मात्रं ॥

अमर्त्यममममं सुदृढदृष्टदृष्टं वन

मनोवृत्तिर्निष्पन्नं जीवन्निधानाद्येनामम् ।

अथ शब्ददुर्गाती दृष्टाद्विद्विद्विद्वद्वद्व

नमामि सततं पुनः सत्तमेव तस्यै मुदा ॥

मिनश्चभुम्भुसारविन्दविदितं त्वरूपस्थितम्

मुनीश्वरमनोऽहान्तरसुरात्नर्दपप्रभम् ।

नमस्तस्मिन् योगिभिर्वर्जितहृदिमोहादिभिः

नमामि भुवमन्दिनं सहजतत्त्वमुद्येदः ।

मनष्टदुष्टितोत्तरं प्रतपुष्पकर्मवने

प्रभूतमदनादिकं प्रचलबोधसौधालयं ॥

प्रणामकृततत्त्वविन् प्रकरमप्रणाशात्मकम्

प्रबृद्धगुणमन्दिनं प्रकृतमोहरात्रिं नमः ॥

इति शुक्लविजयनपयोऽमित्रपंचेन्द्रियप्रसन्नवर्जितगात्रमात्रपरिमहर्षीपद्म-  
प्रभमलधारिणिवर्षिपवितापी नियमसारध्याख्यायाम् सात्त्वर्ष्यवृत्तौ  
निश्चयप्रत्याख्यानाधिकारः पठः श्रुतस्कन्धः ॥ ६ ॥

आलोचनाधिकार उच्यते—

निश्चयालोचनास्वरूपाल्यानेमतम् —

नोकर्मकर्मरहितं विहावगुणपञ्जएहिं यदिरितं ।

अप्पाणं जो इहायदि समणस्सालोयणं होदि ॥१०७॥

नोकर्मकर्मरहितं विभावगुणपर्य्येयव्यतिरिक्तम् ।

आत्मानं यो ध्यायति श्रमणस्यालोचना भवति ॥ १०७ ॥

औदारिकवैकियिकाहारेजसानि शरीराणि हि नोकर्माणि,  
ज्ञानदर्शनावरणांतरायमोहनीयवेदनीयायुर्नामगोत्राभिधानानि हि द्रव्यक-  
र्माणि, कर्मोपाधिनिरपेक्षसत्ताग्राहकनिश्चयद्रव्यार्थिकनयपेक्षया हि एभि-  
नोकर्मभिर्द्रव्यकर्मभिश्च निर्मुक्तं । मतिज्ञानादयो विभावगुणाः

कर्मपुद्गलयोरनादिवन्धनसंबन्धनयोर्भेदं भेदाभ्यासवलेन करोति, स परम-  
संयमी निश्चयव्यवहारप्रत्याख्यानं स्वीकरोतीति ।

भाविकालभवभावनितृप्तः सोहमित्यनुदिनं मुनिनाथः ।

भावयेद्वसिलसौख्यनिधानं स्वस्वरूपममलं मलमुक्त्यै ॥

घोरसंसृतिमहार्णवमास्वयानपात्रमिदमाह जितेन्द्रः ।

तत्त्वतः परमतत्त्वमजस्रं भावयाम्यहमतो जितमोहः ॥

प्रत्याख्यानं भवति सततं शुद्धचारित्रमूर्तेः

भ्रान्तिध्वंसात्सहजपरमानन्दचिन्नशुद्धेः ।

नास्त्यन्येषामपरसमये योगिनामास्पदानं

भूयो भूयो भवति भविनां संमृतिर्धोररूपा ॥

महानन्दानन्दो जगति विदितः शाश्वतमयः

स सिद्धात्मन्युच्चैर्नियतवसतिनिर्मलगुणे ।

अमी विद्वान्सोपि स्मरन्ति निशितासैरभिहिताः

कथं कांक्षत्येनं वत कलिहतास्ते जट्टधियः ॥

प्रत्याख्यानाद् भवति यमिषु प्रस्फुटं शुद्धशुद्धं

सच्चारित्रं दुरपतरुसांद्राट्बीवद्विरूपं ।

तत्त्वं शीघ्रं कुरु तव मतो मज्ज्यशार्दूल नित्यम्

यत्किंभूतं सहजसुखदं शीलमूलं मुनीनाम् ॥

जयति सहजतत्त्वं तत्त्वनिष्णातशुद्धेः

हृदयसरासि जाताभ्यन्तरे संस्थितं यत् ।

तदपि सहजतेजः प्रातमोहान्धकारं

स्वरसविस्तरमास्वदोषविस्फूर्तिमात्रं ॥

असंहितमनारतं सकलदोषदूरं परं

मन्त्राबुनिधिर्मग्नं जीवततियानपात्रोपमम् ।

अथ प्रबलदुर्गवर्गद्ववद्विक्रीलालकम्

विनिर्माणचतुर्णां दुर्भेगभक्तिपराङ्मन्यादिममातद्वाराकार्यगार्थगार्थवर्धनीभूतधुस-  
निधयगामानोषवापाधत्वारो विकल्पा भवन्ति । ते बह्यमाणगूढचतुष्टयेन  
विप्लव इति ।

आलोचनाभेदस्यै विदित्वा, प्रत्येकानामंगमभूतहेतुः ।

॥ वाग्मिर्निष्ठाति हि भव्यजीव, तस्मै नमः ॥ वाग्मिनि निष्ठिताय ॥

इतिद्वौ चनादीकारमात्रेण दरमगमनाभावनात्—

जो एम्मदि अप्पाणं समभाये संठवित्तु परिणामं ।

आलोचयामिदि जाणह परमजिणंदस्स उचएसं ॥१०९॥

यः पश्यत्यात्मानं समधातै मन्थाप्य परिणामसु ।

आल्लेखनमिति ज्ञानीति पामजिनेन्द्रसंगोपदेशम् ॥ १०९ ॥

यः सारजवेगयमुधासिन्धुनापट्टिर्दीर्घविहसिषादुरमंडनमटलीप्रवृद्धिहेतु-  
भूतगङ्गानिर्दीर्घनिर्नाथः सदान्तर्मुखाकारमत्पद्मं निरंजननिजबोधनिलयं  
कारणपरमात्मानं निरवशेषेणान्तर्मुसं स्वस्वभावनिरतसहजावलोकनेन निर-  
न्तरं पश्यति । किं कृत्वा पूर्वं निजपरिणामं समतावर्तवर्तकृत्वा परमसंयमी-  
भूत्वा तिष्ठति तदेवालोचनास्वरूपमिति हे शिष्य त्वं जानीहि परमजिन-  
नाथस्योपदेशादित्यालोचनाविकल्पेषु प्रथमविकल्पोऽयमिति ।

आत्मा ह्यात्मानमात्मन्यविचरन्निहयान्यात्मना पश्यतीत्यं

यो मुक्तिर्भूविद्यास्थानतनुसप्तम्यान् स्तोकपाठेन याति ।

सोयं वंघः सुगैर्हयमधगततिभिः संचरैर्भुचरैर्वा

चिद्रूपं सर्ववन्द्यं सकलगुणनिधिं तद्रूपापेक्षयाहम् ॥

आत्मा स्पष्टः परमयमिना चित्पदे जगत्पदे

ज्ञानं न्योतिः अहतदुग्धित्वा न्तर्पुञ्जः पुराणः ।

स्रोतिष्यन्तो भवति भविना वाहमनोमार्गमस्मिन्

नारातीये परमपुरुषे को शिधिः को निषेधः ॥

नरनारकादिव्यंजनपर्य्यायाश्चैव विभावपर्य्यायाः । सहमुखो गुणाः  
क्रमभाविनः पर्य्यायाश्च, एभिः समस्तैः व्यतिरिक्तं स्वभावगुणपर्य्यायैः  
संयुक्तं त्रिकालनिरावरणनिरंजनपरमात्मानं, त्रिगुतिगुणपरमसमाधिना यः  
परमश्रमणो नित्यमनुष्ठानसमये वचनरचनापराङ्मुखः सन् ध्यायति तस्य  
भावश्रमणस्य सततं निश्चयालोचना भवतीति ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूक्तिभिः—

“ मोहाविलासविजृम्भितमिदमुदयकर्मसकलमालोच्य ।

आत्मनि चैतन्यात्मनि निःकर्मणि नित्यमावर्ते ॥

उक्तं चोपासकाध्ययने—

“ आलोच्य सर्वमेतः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम् ।

आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्यायि निःशेषम् ॥”

तथाहि ।

आलोच्यालोच्य नित्यं सुकृतमसुकृतं घोरसंसारमूलं

शुद्धात्मानं निरुपधिगुणं चात्मनेवावलम्बे ।

पश्चादुच्चैः प्रकृतिमासिलां द्रव्यकर्मस्वरूपां

नीत्वा नाशं सहजविलसद्बोधलक्ष्मीं व्रजामि ॥

आलोचनालक्षणभेदकथनमेतत्—

आलोयणमालुञ्छण वियडीकरणं च भावसुद्धी यः ।

चउविहमिह परिकहियं आलोयणलक्षणं समष्टि ॥१०८॥

आलोचनमालुञ्जनमविकृतिकरणं च भावसुद्धिश्च ।

चतुर्विधमिह परिकथितं आलोचनलक्षणं समष्टि ॥ १०८ ॥

मगवदेष्टुं नुसारविन्दविनिर्गतसकलजनताश्रुतिमुभगसुन्दरानन्दनिध्य-  
न्दनानक्षयात्मकादि व्यध्वनिपरिज्ञानकुशलचतुर्यज्ञानधरगौतममहर्षिमुखकमल-

विनिर्गन्धचतुरार्यैर्धर्मभीकृतगद्धान्तादिसमस्तशार्त्तार्थसार्थसारमर्वस्वभूतमुद्ध-  
निधयनमालोचनायाधत्वारो विवक्ष्य भवन्ति । ते वक्ष्यमाणसूचयतुष्टयेन  
निगद्यन्त इति ।

आलोचनाभेदममुं विदित्वा, मुस्त्यंगनासगमभूतहेतुं ।

स्वात्मस्थितिं याति हि भव्यजीवः, तस्मै नमः स्वात्मनि निधिताय ॥

इहालोचनास्वीकारमात्रेण परमममताभावोनाः—

जो पस्तदि अप्पाणं समभावे संठवित्तु परिणामं ।

आलोचणमिदि जाणह परमजिणंदस्स उवपसं ॥ १०९ ॥

यः पश्यत्यात्मानं समभावे संस्थाप्य परिणामम् ।

आलोचनमिति जानीहि परमजिनेन्द्रस्योपदेशम् ॥ १०९ ॥

यः सहजवैराग्यमुधामिन्धुनाथटिंदीरपिंदपरिपांदुरमंदनमंडलीप्रसृद्धिहेतु-  
भूतपञ्चानिर्दीपिनीनाथः सदान्तर्मुसाकारमत्यर्द्धं निरंजननिजबोधनिलयं  
कारणपरमात्मानं निरवशेषेणान्तर्मुखं स्वरक्तावनिरतसहजावलोकनेन निर-  
न्तरं पश्यति । किं कृत्वा पूर्वं निजपरिणामं समतावलंचनं कृत्वा परमसंयमी-  
भूत्वा तिष्ठति तदेवालोचनास्वरूपमिति हे शिष्य त्वं जानीहि परमजिन-  
नाथस्योपदेशादित्पालोचनाविकल्पेषु प्रथमविकल्पोऽयमिति ।

आत्मा ह्यात्मानमात्मन्यविचलनिलयान्पात्मना पश्यतीत्यर्थं

यो मुनिश्रीविद्यासानतनुसुसमयान् स्तोक्कालेन याति ।

सोयं वंद्यं हुगेशैर्यमधरततिभिः सेचरैर्भूचरेर्वा

चिद्रूपं सर्ववयं सकलगुणनिधिं तदुणापेक्षयाहम् ॥

आत्मा स्पष्टः परमयमिनां वितपंकेजमभ्ये

शानन्योतिःमहतदुगितध्वान्तपुनः पुराणः ।

सोतिस्कान्तो भवति मविना बाह्यमनोमार्गमस्मिन्

नारातीये परमपुरुषे को विधिः को निषेधः ॥



एवमेव एवेन स्यात्तानोचनार्थं च मुद्रमति द्विष्ट एवमति-  
दोषीभ्यः —

तद्वदनचचिन्मये सहजतन्ममुधेरि  
विमुक्तसङ्गेन्द्रियद्वरगाङ्गेनाद्वय ।  
नयानयनिहायपूरमपि योगिनां गोचरं  
सदा शिष्यस्य परं परमपूरमज्ञानिताम् ॥  
शुद्धमाने निजमुखमुपावादिमज्जन्तमेनं  
बुद्धः भव्यः परमगुणः शासनं दोषप्रणाति ।  
तस्माद्बुधैकमपि सदा भावपारमिपपूर्यम्  
भेदाभावे द्विमपि सहजे भिद्धिभूमीत्युद्धम ॥  
निष्पुङ्गवेगनिष्ठं परमात्मन्यम्  
निर्मातृकगमनं परमावगुणं ।  
मेधावगव्यर्जितं प्रणामानि निजं  
निर्वाणवार्तिद्वन्द्ववर्गमप्युग ॥  
न्यायविभावमपि ते निजभावमिष्टं  
निष्ठावसिक्तममन्दं वर्तिभावमपि ।  
समात्मगतममन्दमप्युग निजं  
निष्ठं समात्ममपि नोभ्यानिन्दमुग ॥  
वेदमनाद्वयव्यवहारमेव —

कश्चिन्मर्त्यात्तमुत्कृष्टेदममर्थो सतीवपणिगामो ।  
मर्त्यागो नममार्तो आस्तुत्यमिदि समुद्रिष्टं ॥ ११० ॥

वर्तमानं नममार्तो नममार्तो नममार्तो ।

वर्तमानं नममार्तो नममार्तो नममार्तो ॥ ११० ॥

मध्यव्यपारिणामिकभावस्वभावेन परमस्वभावः औदयिकादिचतुर्णां विभावस्वभावानामगोचरः स पंचमभावः अतएवोदयोदीरणक्षयक्षयो-  
पशमविविधविकारविवर्जितः अतः कारणादस्यैकस्य परमत्वम्  
इतरेषां चतुर्णां विभावानामपरत्वम् । निसिद्धकर्मविषयभूमिनिर्मूल-  
नसमर्थः, विकालनिरावरणनिजकारणपरमात्मस्वरूपप्रदानप्रतिपक्षता-  
वमिष्यात्वकर्मोदयबलेन कुहटेरयं परमभावः सदा निश्चयतो विद्यमानो-  
प्यविद्यमान एव, नित्यनिगोदक्षेत्रज्ञानामपि शुद्धनिभयनयेन परमभावः  
“अमध्यपरिणामिक” इत्यनेनाभिधानेन न संभवति । यथा मेरोरधोभाग-  
स्थितभुवर्णराशेरपि सुवर्णत्वं, अभव्यानामपि तथा परमभावस्वभावत्वं,  
वस्तुनिष्ठं न व्यवहारयोग्यं । सुहृदामत्यासन्नभव्यजीवानां सफलीभूतोऽयं  
परमभावः सदा निरंजनत्वात् यतः सकलकर्मविषयविषयभूमिनिर्मूलन-  
समर्थत्वात् निश्चयपरमालोचनाविकल्पसंभवाः, तुलनाभिधानम् अनेन परम-  
पंचमभावेन अत्यासन्नभव्यजीवस्य सिद्ध्यति ।

एको भावः स जयति सदा पंचमः शुद्धशुद्धः

कर्मारतिमुकुटितसहजावस्थया संस्थितो यः ।

मूलं मुक्तेर्निसिद्ध्यामिनामात्मनिष्ठापराणाम्

एकाकारः स्वरसविसरापूर्णपुण्यः पुराणः ॥

असंसारादसिद्धजनता तीव्रमोहोदयात्सा

मना नित्यं स्मरवशात्ता स्वात्मकार्यवमुग्धा ।

ज्ञानज्योतिर्भवतिवकुम्भटले शुद्धभावं

मोहाभावात्सुकुटितसहजावस्थमेयां प्रयाति ॥

॥६॥ हि शुद्धोपयोगिनो जीवरय परणतिविशेषः प्रोक्तः ।

कम्मादो अप्पाणं मिण्णं भावेइ विमलगुणणिळयं ।

अत्यन्तभयवशात् विमलीकरणं सि विण्णये ॥११॥

နိဗ္ဗာန် အကျဉ်းချုပ်ကို ဖတ်ရှုရန် အောက်ပါအတိုင်း ဖတ်ရှုပါ။

॥ १११ ॥

॥ गणेशाय नमः ॥ इत्युक्तं तत्रैव ॥ गणेशाय नमः ॥  
॥ गणेशाय नमः ॥ इत्युक्तं तत्रैव ॥ गणेशाय नमः ॥

ਅੰਧਾ ਖਿਜ਼ੋ ਮਰੀਏ ਸਾਧੀ ਤੁਧੁ-ਨੇ-ਛਮੀ-ਗਈ-~

॥२॥ शुद्धं शश्वत्तुगुणभेदिनिः । न त्वरीयः ।

[illegible]

निष्कर्षेणैव समाप्तम् ।

अथ भगवत्पुत्रोत्पत्तिः ॥ १ ॥

मन्त्रो वि-म विभक्तिगते आदि-मन्त्र क-पे-कः ।

शुद्धमा च प्रपञ्चगणयामहेदादशमा

ज्ञानयोगीः वर्तितामोदुत्तिष्कतेभ्यः ॥

मेवाड़स्थः मन्त्रार्थः शुभिनिधेयः गीतः-

सुं भादिभिः वर्गदिने पश्चिज्जमाने ।

मोहे शमामुत्तमपर्यन्तमित ता जिनानी

यायादयं मुनिवति. मनताप्रमादात् ॥

मुक्तः कदापि न हि याति विभावकायं

तदेतुभूतमुकृतामुकृतप्रजाशाः ।

तस्मादहं मुमुक्षुः कृतकर्मजान्

मृत्वा मुमुक्षुस्थमेकमिह व्रजामि ॥

प्रपयेत्तं सदाशुद्धमात्मानं बोधविग्रह ।

भवमूर्तिमिमां त्यक्त्वा पुद्गलः कन्धबन्धुराम् ॥

अनादिमलसमारोगस्यादानमुत्तमम् ।

शुभाशुभविनिमुक्तशुद्धचेतन्यमावना ॥

अथ द्विविधाविकल्प चारससारमूल

तु द्रुपदस्यैवमर्थं प्राप्नुते तद्विरिणा ।  
 भाष्यमाणविद्वत्तं द्रुपदमिति चैव  
 तस्मात्तन्मित्रमात्रं द्रुपदं भाषयामि ॥  
 अथ द्रुपदमित्रवत्त्वं तस्यैवभाषयामि  
 न त्रियमिति तस्मात्तन्मित्रं तदादन्तद्रुपदम् ।  
 तद्विदुः शुभं त्र्यम्भिः द्रुपदं च द्रुपदविरिणः ।  
 न भाषति द्रुपदार्थं कामिनीयावच्छेदः ॥  
 अथानि सत्त्वजनस्य भाष्यमाणान्धकारो  
 मन्त्रमि मुनिवाणां शोचत द्रुपदद्रुपदः ।  
 विदुः द्रुपदतानां दुर्गमं कर्तव्यं  
 द्रुपदद्रुपदमद्रुपदः द्रुपदोपोतनिद्रः ॥

भाष्यद्रुपदमिधानपरमात्रोचनान्धकारमिति भाष्यद्रुपदोचन-  
 नाधिकारोपसंहारोपन्यासोपपत्तिः —

मदमात्रमायलोहविवर्जितमात्रो दु मायसुद्धिति ।  
 परिवाह्यं मय्याणं लोपालोप्यपदरिसीहिं ॥ ११२ ॥  
 मदनानमायलोहविवर्जितमात्रम् भाषयामि ।  
 पञ्चविधो भव्यानां लोकान्धकारप्रदीपः ॥ ११२ ॥

तत्रिधवारिभ्योऽप्यवच्छेदेन पुंस्त्वामिधाननोक्त्यापविष्टासो मदः, अत्र  
 मदशब्देन मदः कामपरिणाम इत्यर्थः । चतुरस्रदर्भगभीकृतवेदर्भक-  
 विभ्वेन ओदयनामकर्मोदये सति सकलजनपूज्यतया मातृपितृसम्बन्ध-  
 कुलजानिबिभृक्ष्या वा इतसहस्रकोटिभट्टाभिधानमद्वयचर्यवनोपार्जितनि-  
 र्यमवच्छेदेन च दानादिशुभकर्मोपार्जितसंपदसुद्धिविलासेन, अथवा बुद्धितपो-  
 वेकृष्टगोपधरसबलाक्षाण्यभिः सप्तभिर्वा, कमनीयकामिनीलोचनानन्देन  
 वपुर्त्तावण्यरसविसरेण वा आत्माहंकारो मानः । गुह्यतमो माया, इत्येते धनव्यया-

भावो लोभः, निश्चयेन निखिलपरिग्रहपरित्यागलक्षणनिरंजननिजपरमात्मतत्त्वपरिग्रहात् अन्यत् परमाणुमात्रद्रव्यस्वीकारो लोभः । एभिश्चतुर्भिर्वाभावैः परिमुक्तः शुद्धभाव एव भावशुद्धिरिति भव्यप्राणिनां लोकाटोकप्रदर्शिभिः परमर्वातरागनुसामृतपानपरितृप्तैर्भगवाद्भिरर्हद्भिरामिहित इति ।

अथ जिनपतिमार्गालोचनामेदजालम्  
परिद्वितपरभावो भव्यलोकः समन्तात् ।

तदसिलमवलोक्य स्वस्वरूपं च बुद्ध्वा  
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥

आलोचना सततशुद्धनयात्मिका या  
निर्मुक्तमार्गफलदा यमिनामजघ्नं ।  
शब्दात्मतत्त्वनियताचरणानुरूपा  
स्यात्संयतस्य मम सा किल कामधेनुः ॥

शुद्धं तत्त्वं बुद्धलोकत्रयं यद्  
बुद्ध्वा बुद्ध्वा निर्विकल्पं मुमुक्षुः ।

तत्सिद्धयर्थं शुद्धशीलं चरित्वा  
सिद्धिं यायात् मिद्धिसीमन्तिनीशः ॥

सानन्दं तत्त्वमज्जजिनमुनिद्वयाम्भोजकिञ्चन्यमप्ये  
निर्व्यावार्थं विशुद्धं स्मरशरगहनार्नाकिदावाप्रिरूपं ।

शुद्धज्ञानप्रदपिग्रहतयमिमनोगेहपोरान्धकारं  
तद्वन्दे साधुरन्धं जननजलनिधौ लंपने दानपात्रं ॥

अभिनवमिदं पार्य यायाः समग्रपियोपि ये  
विदधति परं भूमः किं ते तपस्विन एव हि ।

इदि विडसिनं शुद्धं ज्ञानं च विद्वन्नुत्तमम्  
पदमिदमहे शास्त्रा भूयोपि यागति सगगता ॥

जयति सहजं तत्त्वं तत्त्वेपु नित्यमनाकुलं

सततमुलभं भास्वत्सम्यग्दृशां समतालपम् ।

परमेकलया सार्द्धं वृद्धं प्रवृद्धगुणैर्निजैः

स्फुटितसहजावस्थं लीनं महिम्नि निजेऽनिदां ॥

सहजपरमं तत्त्वं तत्त्वेषु सतसु निर्म्मलं

सकलविमलज्ञानावासं निरावरणं शिवम् ।

विशदविशदं नित्यं बाह्यप्रपंचपराङ्मुखं

किमपि मनसां बाचां दूरं मुनेरपि तपुमः ॥

जयति शांतरसामृतवारिधि-प्रतिदिनोदयचाह्निमधुतिः ।

अतुलबोधदिवाकरदीप्ति-प्रहतमोहतमस्समितिर्जिनः ॥

विजितजन्मजरामृतिसंचयः प्रहतदारुणगगकदम्बकः ।

अधमहातिमिरवज्रभानुमान् जयति यः परमात्मपदस्थितः ॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिमहर्षीप-  
द्यमममलधारिदिवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ पर-  
मालोचनाधिकारः सप्तमः श्रुतस्कन्धः ॥ ७ ॥

अथासिद्धव्यभावनोक्तमसंन्यासहेतुभूतशुद्धानिदचपशयभिताधिकारः  
कथ्यते—

निश्चयप्रापदिचतस्वरूपाख्यानमेतत्—

यदसमिदिसीलसंजमपरिणामो करणणिग्गहो भावो ।

सो ह्यदि पायचित्तं अणवरसं चेय कायव्वो ॥११३॥

प्रताममितिशीलमयमपरिणामः करणनिग्गहो भावः ।

स भवति प्रायश्चित्तम् अनवरतं नैव कर्तव्यः ॥ ११३ ॥

पंचमहावतपंचसमितिशीलसकलेन्द्रियशङ्कमनःकायसंयमपरिणामः, प-  
ञ्चेन्द्रियनिरोधश्च स गच्छति परिणामः,

परणतिविशेषः । प्रायः प्राचुर्येण निर्विघ्नं चिन्तं प्रायश्चित्तं, अनवरतं चान्तर्मुखाकाङ्क्षमसमाधियुक्तेन परमजिनयोगीश्वरेण पापाद्वर्षावक्रेण पञ्चेन्द्रियप्रसङ्गजितगात्रमात्रपरिग्रहेण सहजवैराग्यप्रासादशिरसरशिसाम-  
गिना परमागममकरन्दनिध्यन्दिमुखपद्मप्रभेण कर्तव्य इति ।

प्रायश्चित्तं भवति सततं स्वात्मचिन्ता मुनीनां

मुक्तिं यांति स्वमुत्तरतयस्तेन निर्द्धूतपापाः ।

अन्या चिन्ता यदि च यमिनां ते विमूढाः स्मरार्ताः

पापाः पापं विदधति मुहुः किं पुनश्चित्तमेतत् ॥

इह हि सकलकर्मनिर्मूलनसमर्थनिश्चयप्रायश्चित्तमुक्तम्—

कोहादिसगम्भावखपहुर्दीभावणाए णिग्गहणं ।

यायच्छित्तं भणिदं णियगुणचिन्ता य णिच्छयदो ॥ ११४ ॥

क्रोधादिस्वकीयभावक्षयप्रभृतिभावनायां निर्ग्रहणम् ।

प्रायश्चित्तं भणितं निजगुणचिन्ता च निश्चयतः ॥ ११४ ॥

क्रोधादिनिस्तिलमोहरागद्वेषविभावस्वभावक्षयकारणानिजकारणपरमात्मस्व-  
भावभावनायां सत्यां निसर्गगहनवृत्त्या प्रायश्चित्तमभिहितम्, अथवा  
परमात्मगुणात्मकशुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपसहजज्ञानादिसहजगुणचिन्ता प्राय-  
श्चित्तं भवतीति ।

प्रायश्चित्तमुक्तमुच्चैर्मुनीनां

कामक्रोधाद्यन्यभावक्षये च ।

किं स्वस्य ज्ञानं संभावना वा

सन्तो जानन्त्येतद्व्यामप्रवादे ॥

चतुष्कपायविजयोपायस्वरूपाख्यानमेतत्—

कोहं खमया माणं समद्वेणे ज्जवेणे मायं च ।

संतोसेण य लोहं जयदि खुए चहुविहकसाए ॥ ११५ ॥

कोषं क्षमया मानं स्वमार्दवेन आर्नेवेन मायां च ।

सन्तोषेण च लोभं जयति खलु चतुर्विधरूपायाणां ॥ ११५ ॥

जपन्यमध्यमोत्तमभेदात्ममास्तिषो भवन्ति । अकारणायप्रियवादिनो मिथ्यादृष्टेरकारणेन मां वासयितुमुद्योगो विद्यते अयमपगतो मत्सुण्येनेति प्रथमा क्षमा । अकारणेन संव्रासे करस्य ताडनवाधादि-पण्णामोऽस्ति, अयं स्वापगतो मत्सुहृतेनेति द्वितीया क्षमा । तथा सत्यमूर्नस्य परमब्रह्मरूपिणो ममापहानिरिति परमसमरसीभवस्थितिदत्तमा क्षमा । आभिः क्षमाभिः कोषकषायं जिन्वा, मानकषायं मार्दवेन च, माया-कषायं चार्जवेण, परमतरत्नलाभ सन्तोषेण लोभकषायं चेति ।

तथाचोक्तं श्री गुणभद्रमुरीभिः—

“ विलस्यमप्यनवबुद्धय हरेण जाह्यात्  
कुन्दा वहिः किमपि दग्धमनद्बुद्धया ।  
घोरामवाप स हि तेन कृतामवस्थां  
क्रोधोदयाद्भवति कस्य न कार्यहानिः ” ॥

चक्रं विहाय निजदाक्षिणबाहुसंस्थं  
यन्नावृजन्ननु तदेव स तेन मुच्येत् ।  
क्लेशं तमाप किल बाहुवली चिराय  
मानो मनागपि हति महतीं करोति ॥

भेष मायामहागर्भन्मिथ्याघनतमोमयात् ।  
यस्मिन् टीना न लक्ष्यन्ते क्रोधादिविषमाहयः ॥

“ वनचरभयाद्भावन् देवाहुताकुलबालभिः  
किल जटनया लोलो बालवनेऽविचलं स्थितः ।

वत स चमरस्तेन शार्ङ्गगवि प्रदियोजितः  
पणितगुपां प्रायेणैवविधा हि विपत्तयः ” ॥



तथाहि—

भ्रमया बोधकृतां मानकृतां च मार्गिणैः ।

मायामार्गोन्नामलोभकृतां च जीवतां जगत् ॥

अत्र शुद्धज्ञानमूर्तिहाराय प्रायश्चित्तमित्युक्तम्—

उक्तिहो जो बोहो पापं तम्मेश अप्पणो चित्तं ।

जो घरइ मुणी णिगं पायच्छित्तं हये तम्म ॥११६॥

उक्थो यो बोहो ज्ञानं तम्यैतत्तमनश्चित्तं ।

यो वरति मुनिर्निर्गमं प्रायश्चित्तं भवेत्तम् ॥ ११६ ॥

उक्तं यो विशिष्टधर्मः स हि परमबोध इत्यर्थः, बोधो ज्ञानं चित्त-  
मित्यनर्थान्तरम्, अत एव तम्येव परमधर्मिणो जीवन्त्य प्रायः प्रकर्षेण  
चित्तं परमगोपनीं नित्यं तादृशं चित्तं धत्ते, तस्य गन्तुं निश्चयप्रायश्चित्तं  
भवतीति ।

यः शुद्धात्मज्ञानगर्भावनान्मा

प्रायश्चित्तमत्र चाप्येव तस्य ।

विद्धतांशुःसंहतिं तं मुनीन्द्रं

वन्दे नित्यं तद्वृणोतयेष्टम् ॥

इह हि परमतपश्चरणनिर्गतपरमगिनयोगीश्वराणां निश्चयप्रायश्चित्तं,  
एवं समस्तावरणानां परमाचरणमित्युक्तम्—

किं बहुणा भणिण्णं दु वरतवचरणा महेशिणं सच्चं ।

पायच्छित्तं जाणह अण्येकम्माणं स्वयहेउ ॥ ११७ ॥

किं बहुना भणितेन तु वरतपश्चरणा महर्षीणां सर्वं ।

प्रायश्चित्तं जानीत्यनेककर्मणां स्वयहेतुः ॥ ११७ ॥

बहुभिरसत्प्रलापैरलमलं पुनः सर्वनिश्चयव्यवहारात्मकपरमतपश्चर-

णात्मकं परमजिनयोगिनामासंसारप्रतिबद्धद्रव्यभावकर्मणां निरवशेषेण वि-  
नाशकारणं, शुद्धनिधयप्रायश्चित्तमिति हे शिष्य त्वं जानीहि ।

अनशनादितपध्वरणात्मकं

सहजशुद्धचिदात्मविदामिदम् ।

सहजबोधकलापरिगोचरं

सहजतत्त्वमपश्यकारणम् ॥

प्रायश्चित्तं सुचिन्तयामिदं स्यात्

स्वद्रव्येस्मिन् चिन्तनं धर्मशुद्धं ।

कर्मप्रान्तध्वान्तसद्बोधतेजो—

हीनं स्वस्मिन् निर्विकारे महिम्नः ॥

आत्मज्ञानाद् भवति यमिनामात्मलब्धिः क्रमेण

ज्ञानज्योतिर्निहतकरणमामषोरान्धकारः ।

कर्मरण्याद्भवद्वशिशान्दकानामजस्रम्

प्रध्वसेऽस्मिन् शमजलमयीमाशु घाता धमन्ती ॥

अभ्यात्मशास्त्रामृतवारिराशे—

मयोद्धता संयमरत्नमाला ।

बभूव या तत्त्वविदां सुकण्ठे

सालंकृतिर्मुक्तिवधूधवानाम् ॥

नमामि नित्यं परमात्मतत्त्वं

मुनीन्द्रचित्ताम्बुजगर्भवासं ।

विमुक्तिवाताम्बरसौख्यमूढं

विनष्टसंसारद्रुमूढमेतत् ॥

अत्र प्रसिद्धशुद्धकारणपरमात्मतत्त्वे सदान्तर्मुक्ततया प्रतपनं यत्तत्तपः  
प्रायश्चित्तं भवतीत्युक्तम् —

णंताणंतमवेण समज्जिअसुहअसुहकम्मसंदोहो ।  
तवचरणेण विणस्सदि प्रायच्छित्तं तव तम्हा ॥ ११८ ॥

अनन्तानन्नभवेन ममर्जितशुभाशुभकर्मसंदोहः ।

तपश्चरणेन विनश्यति प्रायश्चित्तं तपस्तस्मात् ॥ ११८ ॥

आ संसारत एव समुपार्जितशुभाशुभकर्मसंदोहो द्रव्यभावान्नक-  
पंचसंसारसंवर्द्धनसमर्थः परमतपश्चरणेन भावशुद्धिलक्षणेन विलयं यानि,  
ततः स्वात्मानुष्ठाननिष्ठं परमतपश्चरणमेव शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्तमित्य-  
भिहितं ।

प्रायश्चित्तं न पुनरपरं कर्म कर्मक्षयार्थं

प्राहुः सन्तस्तप इति चिदानंदर्पापूपपूर्णम् ।

आ संसारादुपचितमहत्कर्मकान्तागवद्धि—

ज्वालाजालं शमसुरमयं प्राभृतं मोक्षलक्ष्म्याः ॥

अत्र सकलभावानामभावं कर्तुं स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मध्यानमेव समर्थ-  
मित्युक्तं—

अप्पसरूवालंवणभावेण दु सच्चभावपरिहाणं ।

सक्कादि कट्ठं जीवो तम्हा ज्ञाणं हवे सच्चं ॥ ११९ ॥

आत्मस्वरूपालम्बनभावेन तु सर्वभावपरिहाणं ।

शक्नोतिः कर्तुं जीवस्तस्माद् ध्यानं भवेत् सर्वम् ॥ ११९ ॥

अविचलपरद्रव्यप्रतियागलक्षणलाक्षिताक्षूणनित्यनिरावरणसहजपरमपारि-  
णामिकभावभावनया भावान्तराणां चतुर्णामौदयिकौपशमिकक्षायिक-  
क्षायोपशमिकानां परिहारं कर्तुमत्यासन्नभयजीवः समर्थो यस्मात् तद्वत्  
ख पापाटवीपावक इत्युक्तम् । अतः पंचमहाव्रतपंचसमितित्रिगुणि-  
यत्याख्यानप्रायश्चित्तालोचनादिकं सर्वं ध्यानमेवेति ।

यः शुद्धात्मन्यविचलमनाः शुद्धमात्मानमेकं  
नित्यन्योतिःप्रतिहततमःपुञ्जमाद्यन्तशून्यम् ।  
ध्यात्वाजघ्ने परमकल्या साद्गर्भमानन्दमूर्ति  
जीवन्मुक्तो भवति तस्मा सोयमाचारराशिः ॥

शुद्धनिश्चयस्वरूपाख्यानमेतत्—

सुहृदसुहृदवयणरयणं रायादीभाववारणं किञ्चा ।  
अप्पाणं जो ज्ञायदि तस्स दुणियमं हवे णियमा ॥१२०॥  
शुभाशुभवचनरचनानां रागादिभाववारणं कृत्वा ।  
आत्मानं यो ध्यायति तस्य तु नियमो भवेन्नियमान् ॥ १२० ॥

यः परमतत्त्वज्ञानी महानपोधना द्वैतद्वैतदर्शनं ( १ ) संचितसूक्ष्मकर्म-  
निर्मूलनमभयनिश्चयप्रायश्चित्तपरायणस्यापि संयमिनो मनोवाक्यायत्ना-  
द्भववर्द्धामूलकदान्मकशुभाशुभस्वरूपप्रशस्तसमस्तवचनरचनानां निवारणं  
करोति, न केवलमासां तिरस्कारं करोति किन्तु निस्तिलमोहरागद्वेषादि-  
परभावानां निवारणं च करोति । पुनरनवरतमसंछाद्वैतमुन्दरानन्द-  
निष्यन्दानुपमनिर्गजननिजकारणपरमात्मतत्त्वं नित्यं शुद्धोपयोगबलेन  
संभवति, तस्य यतः मनुष्यस्य शुद्धनिश्चयनियमो भवतीत्यभिप्रायो  
भवता सूत्रकृतमिति ।

वचनरचनां त्यक्त्वा भयः शुभाशुभलक्षणां  
सरजपरमात्मानं नित्यं सुभावयति स्फुटम् ।  
परमयमिनस्तस्य ज्ञानात्मनो नियमाद्यं  
भवति नियमः शुद्धो मुक्यंगनामुत्तकारणम् ॥  
अनवरतमसंछाद्वैतचिन्निर्विकारे  
निस्तिलनयविद्यासो न स्फुरत्येव किञ्चित् ।

१ मध्ये तु निवारणमिति स्थितिः ।

अपगत इह यस्मिन् भेदवादस्समस्तः

तमहमभिनमामि स्तौमि संभावयामि ॥

इदं ध्यानमिदं ध्येयमयं ध्याता फलं च तत् ।

एभिर्विकल्पजालैर्यन्निर्मुक्तं तन्नमाम्यहम् ॥

भेदवादाः कदाचित्सुर्यस्मिन् योगपरायणे ।

तस्य मुक्तिर्मेवेन्नो वा को जानात्याहते मते ॥

निश्चयकायोत्सर्गस्वरूपास्थानमेतत्—

कायाईपरद्रव्ये स्थिरमावं परिहरतु अप्पाणं ।

तस्स हवे तणुसगं जो झायइ णिव्विअप्पेण ॥१२१॥

कायादिपरद्रव्ये स्थिरमावं परिहरित्वात्मानं ।

तस्य भवेत्तनूत्सर्गो यो ध्यायति निर्विकल्पेन ॥ १२१ ॥

सादिसनिधनमूर्तिविजातीयविभावव्यंजनपर्व्यात्मकः । स्वस्याकार-  
कायः, आदिशब्देन क्षेत्रवाम्बु । कनकरमणीप्रभृतयः एतेषु सर्वेषु स्थिर-  
मावं सनातनभावं परिहृत्य नित्यरमणीयनिरंजननिजकारणपरमात्मानं  
व्यवहारक्रियाकांठाहम्बरविविधाविकल्पकोलाहलविनिर्मुक्तसहजपरमयोगबले-  
न नित्यं ध्यायति । यः सहजतपश्चरणक्षीरवारांराशिनिर्शाधिर्नाशद-  
याधीश्वरः । तपस्विनः सलु सहजवैराग्यप्राप्तादशिस्रशिसामणेनि-  
श्चयकायोत्सर्गो भवतीति ।

कायोत्सर्गो भवति सततं निश्चयात्संयतानां

कायोद्भूतप्रबलतरलसत्कर्ममुक्तेः सकाशात् ।

वाचा जल्पप्रकरवितर्कानसनां निवृत्तेः

स्वात्मध्यानादपि च नियते स्वात्मनिष्ठापराणाम् ॥

जयति सहजतेजःपुंजनिर्मप्रभास्वत्—

सहजपरमवत्त्वं मुक्तमोहान्धकारम् ।

सहजपरमदृष्ट्या निष्ठितम्बोपजातम्  
 भवभवपीरतापैः कल्पनाभिश्च मुक्तम् ॥  
 भवभवसुखमल्पं कल्पनामात्ररम्यं  
 तदसिलमपि नित्यं संत्यजाम्यात्मशक्त्या ।  
 सहजपरमसौख्यं विश्वमत्कारमात्रम्  
 स्फुटितानिजविलासं सर्वदा चेतयेहम् ॥  
 निजात्मगुणमपदं मम इदि स्फुरन्तीमिमां  
 समाधिविषयामहो क्षणमहं न जाने पुरा ।  
 जगन्नितयवेभवप्रलयहेतुदुःकर्मणाम्  
 प्रमुत्त्वगुणशक्तिः खलु हतोस्मि हा संसृतो ॥  
 भवसंभवविषभूहफलमसिलं दुःखकारणं बुद्धा  
 आत्मनि चैतन्यात्मनि संजातविशुद्धसौख्यमनुभुङ्क्ते ॥

इति मुक्तविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवार्जितगात्रमात्रपरिमहश्री पद्म-  
 प्रभमलधारिदेवविगचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ  
 शुद्धनिधयप्रायश्चित्ताधिकारोऽष्टमः श्रुतस्कन्धः ॥ ८ ॥

असिलमोहरागद्वेषादिपरमभावविष्वंसहेतुभूतपरमसमाध्याधिकार उच्यते ।

शुद्धनिधयपरमसमाधित्वरूपाव्यानमेतत्—

वयणोच्चारणकिरियं परिचत्ता वीयरायभावेण ।  
 जो ज्ञायदि अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स ॥ १२२ ॥  
 वचनोच्चारणक्रियां परित्यक्त्वा वीतरागभावेन ।  
 यो ध्यायत्यात्मानं परमसमाधिर्भवेत्तस्य ॥ १२२ ॥

इत्थिदशुभवचनार्थं वचनरचनामात्रप्रपञ्चितपरमवीतरागसर्वशस्तवना-  
 दिकं कर्तव्यम् । परमजिनयोगीश्वरेणापि परमार्थतः प्रशस्ताप्रशस्तवाग्नि-



अत्र समतामन्तरेण द्रव्यलिङ्गधारिणः श्रमणाभासिनः किमपि परलोक-  
कारणं नास्तीत्युक्तम्—

८ किं काहदि वणवासो कायकलेसो विचिचउयवासो ।  
अज्झयणमौणपहुदी समदारहियस्स समणस्स ॥१२४॥  
किं क्रियते वनवासः कायदेशो विचित्रोपवामः ।  
अध्ययनमौनप्रभृतयः समतारहितस्य श्रमणस्य ॥ १२४ ॥

मकलकर्मकलंकपंकविनिर्मुक्तमहानन्दहेतुभूतपरमसमताभावेन विना  
कान्तारवासप्रवासेन प्राशुपि बुभूमले स्थित्वा, च, दीप्तेऽतितीव्रवक्त्रसंतप्त-  
पर्वताग्रशवनिपण्णतया वा, हेमन्ते च रात्रिमध्ये साक्षात्तरदंष्ट्राफलेन  
च, त्वगस्थिभूतसर्वाङ्गह्लेशदायिना महोपवासेन वा, सदाध्ययनपटुतया च  
षाग्विषयव्यापागनिवृत्तिरक्षणोऽनंततमौनव्रतेन वा, किमप्युपादेयं फल-  
मस्ति केवलं द्रव्यलिङ्गधारिणः श्रमणाभामस्येति ।

तथाचोनम् अमृतार्णीतो—

गिरिगिरणमहारण्यान्यशून्यप्रदेश —

स्थितिकरणनिरोधध्याननीर्घोषसंवा

पउनजपहोमैर्बद्धाणो नास्ति सिद्धिः

मृगय तदपरं त्वं भोः प्रकारं स्वमरं १

तथाहि—

अनशनादितपश्चरणोः फलम्

समनया रहितस्य यत्तेर्न हि ।

एत इदं निजतत्त्वमनाकुलं

भज मुने समताकुलमंदिरम् ॥



इह हि सकलसावद्यव्यापाररहितस्य त्रिगुप्तिगुप्तस्य सकलेन्द्रियव्यापार-  
विमुक्तस्य तस्य च मुनेः सामायिकं व्रतं स्थायीत्युक्तं—

विरदी सव्वसावज्जे तिगुत्तीपिहिदिदिओ ।

तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥ १२५ ॥

विरतिः सर्वसावद्ये त्रिगुप्तिपिहितेन्द्रियः ।

तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिसासने ॥ १२५ ॥

अथात्रैकेन्द्रियादिप्राणिनिकुर्वक्रेशहेतुभूतसमस्तसावद्यव्यासंगविनिर्मुक्तः,  
प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तकायवाङ्मनसां व्यापाराभावात् त्रिगुप्तः । स्पर्शन-  
रसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राभिधानपंचेन्द्रियाणां मुक्तेस्तत्तद्योग्यविषयग्रहणाभावात्  
पिहितेन्द्रियः । तस्य सल्लु महामुमुक्षोः परमवीतरागसंयमिनः  
सामायिकं व्रतं शब्दत् स्थायि भवतीति ।

इत्थं मुक्त्वा भवभयकर सर्वसावधराशि

नीत्वा नाश विकृतिमानिशं कायवाङ्मानसानां

अन्तःशुद्ध्या परमकलया साकमात्मानमेकं

बुद्धा जन्तुः स्थिरशममयं शुद्धशीलं प्रयाति ॥

परममाध्यस्थ्यमावाधारूढस्थितस्य परममुमुक्षोः स्वरूपमवोक्तम्—

१ जो समो सव्वभूदेसु थावरेसु तसेसु वा ।

तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥ १२६ ॥

यः समः सर्वभूतेषु स्थावरेषु त्रैसेषु वा ।

तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिसासने ॥ १२६ ॥

यः सहजवैराग्यप्रासादशिरशिरसामणिः विकारकारणनिसिलमोह-

तस्य मेदकल्पनापोदपरमगमरसीभावमनापत्वात्प्रसन्नावरजविनि-

स्य च परमजनयोर्माश्वरस्य सामायिकाभिधानवृत्तं सनातन-

समः, तेनैव समागं सिद्धमिति ।

१ वीतरागस्य

वसहतिपरिमुक्तं स्थावराणां वर्षैर्व्या  
परमाग्निमुनीनां चित्तमुच्चैर्जम्बम् ।  
अपि चरमगतं यन्निर्मलं कर्म मुक्त्ये—  
तदहमभिनमामि स्तौमि संभावयामि ॥

केचिद्दैतमार्गस्थाः केचिद्दैतपथे स्थिताः ।  
दैतादैतविनिर्मुक्तमार्गे वर्तन्ति वयम् ॥  
काक्षन्त्यदैतमन्येपि दैतं काक्षन्ति चापरे ।  
दैतादैतविनिर्मुक्तमात्मानमभिनोम्यहम् ॥

अहमात्मा सुखाकाक्षी स्वात्मानमजमच्युतम् ।  
आन्मनेवात्मनि स्थित्वा भावयामि मुहुर्मुहुः ॥  
विकल्पोपन्यासेरहमहमर्माभिर्भवकरैः  
असंहानन्दात्मा निसिंहनयराशंगविषयः ।

अथ दैतादैतो न भवन्ति ततः कभिद्विरात्  
तमेकं वन्देहं भवभयविनाशाय सततम् ॥  
मुरे दुःखे योनीं मुकुतदुरितवानजनिने  
शुभाभाशे भूयोऽशुभपरिणतिर्वा न च न च ।

यदेकम्याप्युच्चैर्भवपरिचयो षाट्मिह नो  
य एवं गन्त्यस्तो भवगुणगणैः स्तौमि तमहम् ॥  
इदमिदमपसेनाविजयन्ती हरंताम्  
सुरितसहजतेजःपुञ्जदूर्गाकृतांरुः ।

प्रवन्तरतमस्तोमं सदा शुद्धशुद्धं—  
जयति जयति नित्यं चित्तमत्कारमात्रम् ॥  
जयत्यनघमात्मतत्त्वमिदमस्तसंगारकम्  
महामुनिगणाधिनायकद्वयारविन्दस्थितम् ।

विमुक्तभवद्वाग्णं स्फुटितशुद्धमेकान्ततः

सदा निजमहिम्नि लीनमपि मददृशां गोचरम् ॥

अत्राप्यान्मेषोपादेय इत्युक्तः ।

११ जस्स सण्णिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे ।

तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥ १२७ ॥

यस्य सन्निहिते आत्मा संयमे नियमे तपसि ।

तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिसासने ॥ १२७ ॥

तस्य सलु बाधप्रपचपराङ्मुखस्य निर्जितासितेन्द्रियव्यापारस्य मा-  
विजिनस्य पापक्रियानिवृत्तिरूपे बाधसमय कायवाङ्मनोगुतिरूपसकले-  
न्द्रियव्यापारवर्जितेऽभ्यन्तरात्मनि परिमितिकालाचरणमात्रे नियमेन पर-  
ब्रह्मचिन्मयनियतनिश्चयान्तर्गताचारे स्वस्य स्वरूपेऽविचलस्थितिरूपे व्यव-  
हारप्रपचांचितपंचाचारे पचमगतिहेतुभूते किंचन मात्रप्रपचपरिहीणे  
सकलदुराचारनिवृत्तिकारणे परमतपश्चरणे च परमगुरुप्रसादोदितनिर्गजन-  
निजकारणपरमात्मा सदा सन्निहित इति केवलिनां शासने तस्य पद्मव्य-  
पराङ्मुखस्य परमवीतरागसम्यग्दृष्टेर्वीतरागचारित्रिभाजः सामायिकव्रतं-  
स्थायि भवतीति ।

आत्मा नित्यं तपसि नियमे संयमे सच्चरित्रे

तिष्ठत्युच्चैः परमयमिनां शुद्धदृष्टेर्मनश्चेत् ।

तस्मिन् वाटं भवभयहरे भावितीर्थाधिनाये

साक्षादेया सहजसमता प्रास्तरागाधिरामे ॥

इह हि रागद्वेषाभावादपस्तिपंदरूपत्वं भवतीत्युक्तम्—

११ जस्स रागो दु दोसो दु विगडिं ण जणेति दु ।

तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥ १२८ ॥

यस्य रागस्तु द्वेषस्तु विवृतिं न मनयति तु ।

तस्य सामाधिकं स्थायि इति केवलशासने ॥ १२८ ॥

यस्य परमदीनतागमपमिनः पापाटर्वापावकस्य रागो वा द्वेषो वा विवृतिं नावतगति तस्य महानन्दाभिन्नादिणः जीवस्य पञ्चेन्द्रियप्रसरव-  
र्जितगन्धमात्रशक्तिरस्य सामाधिक्यनामवतं शास्वतं भवतीति केवलिनां  
शासने भवतीति ।

रागद्वेषो विवृतमिह तो नैव कर्तुं समर्थो

ज्ञानन्योतिःप्रहतदुर्गितार्जःकषोगन्धकारे ।

आगतायै सहजपद्मानन्दपीयूषपुरे

तस्मिन्नित्ये समस्तसमये को विधिः को निषेधः ॥

आर्तगैर्द्रव्यानपशित्यागात् सनातनसामाधिक्यवतम्बरूपाख्यानमेतत् —

१) जो दु अहं च रुहं च क्षाणं वज्रदि विच्यसो ।

तस्स सामाहगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥ १२९ ॥

यम्बार्त्त च रीद्र च ध्यानं वर्नेयति नित्यशः ।

तस्य सामाधिक स्थायि इति केवलशासने ॥ १२९ ॥

यस्तु नित्यनिर्गजननिजकाग्नसमयमागस्वरूपनियतशुद्धनिश्चयपरमवर्त-  
रागमुसासृतपानपगयणो जीवः तिर्यग्योनिप्रेतावासनारकादिगतिप्रायो-  
ग्यतानिमित्त आर्तगैर्द्रव्यानद्वयं नित्यशः संत्यजति तस्य सलु केवर्त-  
दर्शनसिद्ध शाश्वत सामाधिक्यवतं भवतीति ।

इति जिनशासनसिद्धं सामाधिक्यवतमणुव्रतं भवति ।

यस्त्यजतिमुनिर्निर्व्यं, ध्यानद्वयमार्तगैर्द्राख्यम् ॥

शुभाशुभपरिणामसमुपजनितमुकृतदुरितकर्मसंन्यासविधानाख्यानमेतत् —

॥ जो दु पुण्णं च पारवं च भावं वज्जेदि विच्यसा ।

तस्स सामाहगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥ १३० ॥



११ जो दुर्गंठा भयं वेदं सर्वं वर्जयेदिति शिष्यसा ।

तस्स सामाहिकं ठाई इदि केवलिसासणे ॥ १३२ ॥ जुम्मं

यस्तु हास्य रतिं शोक अरतिं वर्जयति नित्यशः ।

तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिसासने ॥ १३१ ॥

यः जुगुप्सां भयं वेदं सर्वं वर्जयति नित्यशः ।

तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिसासने ॥ १३२ ॥ युम्मं ।

मोहनीयकर्मसमुपजनितस्त्रीपुरुषपुंसकवेदहास्यगत्यरतिशोकभयजुगुप्साभिधाननवनोक्तायकलितकलंकपङ्ककात्मकसमस्तविकाग्राहकं परममाजिबुटेन यस्तु निष्कषरत्नत्रयात्मकपरमतपोधनः संत्यजति, तस्य सलु केवलि-महारकशासनसिद्धपरमसामायिकामिधानव्रतं शाश्वतरूपमनेन सूत्रद्वयेन कथितं भवतीति ।

तत्राप्येतत्सर्वं ननु नवकषायात्मकमाहम्

मुदा संसारर्क्षानितमुत्सदुःखावलिकरं ।

महामोहान्धानां सततमुलभं दुर्लभकम्

समाधीं निहानामनवरतमानन्दमनसां ॥

परमसमाध्यधिकारोपसंहारोपन्यासोऽयम्—

११ जो दु धम्मं च सुखं च ज्ञाणं द्वाएदि शिष्यसा ।

तस्स सामाहिकं ठाई इदि केवलिसासणे ॥ १३३ ॥

यस्तु धर्मं च दुःखं च ध्यानं ध्यायति नित्यशः ।

तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिसासने ॥ १३३ ॥

यस्तु सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनलोलुपः परमजिनयोगीश्वरः स्वात्मा-भ्रयनिष्कषधर्मध्यानेन निस्तिलविकल्पजालनिर्मुक्तः, निष्कषशुक्लध्यानेन च अनङ्गतमर्षहादितसहजचिद्दिशसलक्षणमभयानन्दाम्भोधिमज्जनं सकल-

बाह्यक्रियापराङ्मुक्तं शश्वदंतःक्रियाधिकरणं स्वात्मनिष्ठनिर्विघ्नस्य परमसमा-  
धिसंपत्तिकारणाभ्यां ताभ्यां धर्मशुक्ल्यानाभ्यां सदाशिवस्वत्मात्मकमात्मानं व्या-  
याति हि तस्य सत्तु निनेत्यगशामनं निष्पन्नं नित्यं शुद्धं त्रिगुतिगुनर-  
मसमाधिलक्षणं शाश्वतं मामाधिकृतं भवतीति ।

शुक्ल्याने परिणतिमतिः शुद्धरत्नत्रयात्मा

धर्मध्यानेष्यनथपरमानन्दतत्त्वाश्रितेऽस्मिन् ।

प्राप्तोत्पुञ्चैरपगतमहद्दुःखजालं विशालं

भेदाभावात् किमपि भविनां वाङ्मनोमार्गदूग्म् ।

इति शुक्लविजनपयोजमित्र-यंचेन्द्रियप्रसरवर्जिन-गात्रमात्रपरिग्रहपञ्चम-

मलधारिदेवविरचितायां नियमसारध्यास्यायां तात्पर्यवृत्तौ

परमसमाध्यधिकारो नवमः श्रुतस्कन्धः । ९ ।

अयं संप्रति हि भक्त्यधिकार उच्यते ।

रत्नत्रयस्वरूपाख्यानमेतत्:—

सम्मत्तणार्णचरणे जो भक्तिं कुणइ सावगो समणो ।

तस्स दु णिब्बुदिमत्ती होदित्ति जिणेहि पण्णत्तं ॥ १३४ ॥

सम्यक्त्वज्ञानचरणेषु यो भक्तिं करोति श्रावकः श्रमणः

तस्य तु निर्वृत्तिभक्तिर्भवतीति जिनैः प्रज्ञप्तम् ॥ १३४ ॥

चतुर्गतिसंसारपरिग्रहणश्रमणकारणतीव्रमिथ्यात्वकर्मप्रकृतिप्रतिपक्षनिज-  
परमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानावबोधाचरणात्मकेषु शुद्धरत्नत्रयपरिणामेषु  
मज्जनं भक्तिरासाधनेत्यर्थः । एकादशपदेषु श्रावकेषु जघन्या पट्ट, च  
मध्यमाध्यायः, उत्तमो द्वौ च, एते सर्वे शुद्धरत्नत्रयभक्तिं कुर्वन्ति । अथ  
भवभयभीरवः परमनेष्कर्म्यवृत्तयः परमतपोधनाश्च रत्नत्रयभक्तिं कुर्व-

ति, तेषां परमभावकाणां परमतपोधनानां च गिनोत्तमैः प्रज्ञा निर्वृतिभक्ति-  
स्तुनर्भदपुर्गधिकासेवा मवर्तानि ।

सम्यक्त्वेऽस्मिन् भवभयहरे शुद्धबोधे चरित्रे

भक्तिं कुर्यादनिशमतुष्टी यो भवेद्ब्रह्म दत्ता ।

कामबोधायगिरिदुरधवातनिर्मुक्तचेताः

भक्तो भक्तो भवति सततं श्रावकः संयमी वा ॥

व्यवहारनयप्रधानसिद्धभक्तिस्वरूपान्वयानेमेतत्तः—

मोक्षरंगयपुरिराणं गुणभेदं जाणिऊण तेसिंपि ।

जो कुणदि परमभक्तिं व्यवहारणयेण परिक्रिय ॥१३५॥

मोक्षगतपुरुषाणां गुणभेदं ज्ञात्वा तेषामपि ।

य करोति परमभक्तिः व्यवहारनयेन परिक्रियतम् ॥ १३५ ॥

ये पुराणगुण्याः समस्तकर्मक्षयोपायहेतुभूतं कारणरमात्मानमभेदानु-  
पचारतत्त्वपरिणत्या सम्यगाराध्य सिद्धा ज्ञानान्तेषां केषटज्ञानादि-  
शुद्धगुणभेदं ज्ञात्वा निर्वाणपरंपराहेतुभूतां परमभक्तिमासन्नमय्यः करोति  
तस्य मुमुक्षोर्व्यवहारनयेन निर्वृतिभक्तिर्भवतीति ।

उद्धतकर्मसंदोहान् सिद्धान् सिद्धवधूधवान् ।

संघाताष्टगुणैश्चर्यान् नित्यं वन्दे शिवाल्लवान् ॥

व्यवहारनयस्येत्थं निर्वृतिभक्तिर्गिनोत्तमैः प्रोक्ता ।

निधयनिर्वृतिभक्ती रत्नत्रयभक्तिस्तियुना ।

निःशेषदोषदूरं केषटबोधादिशुद्धगुणनिरयं ।

शुद्धोपयोगफलमिति सिद्धत्वं प्राहुराचार्याः ॥

ये लोकप्रनिवासिनो भवभवद्वेशार्णवान्तं गता

ये निर्वाणवधूटिकास्तनभराद्वेयोत्पन्नैस्त्यक्ताः ।



ये शुद्धात्मविभाजनोद्भूतमहाकैवल्यमपशुणाः

तान् सिद्धानभिर्नोम्यहं प्रतिदिनं पापाद्वीपावहान् ॥

त्रैलोक्याग्रनिकेतान् गुणगुरुन् ज्ञेयाश्चिपारंगतान्

मुक्तिर्भावनितामुष्णाम्बुजगर्धीन् स्वार्थिनमौष्यार्णवान् ।

सिद्धान् सिद्धगुणाष्टकान् भवहरान् नष्टाष्टकमूर्च्छरान्

नित्यान् तान् शरणं व्रजामि मततं पापाद्वीपावहान् ॥

ये मर्त्यदेवनिकुरम्बपरोक्षभक्तिः—

योग्याः सदा शिवमयाः प्रवगाः प्रसिद्धाः ।

सिद्धाः सुसिद्धरमणीसुमनोशिवश्च—

पंकेरुहोरुमकरंदमधुव्रताः स्युः ॥

निजपरमात्मभक्तिस्वरूपात्यानमेतत्—

मोक्षपथे अप्पाणं ठाविऊण य कुणदि णिब्बुदी मत्ती ।

तेण दु जीवो पावइ असहायगुणं णियप्पाणं ॥ १३६ ॥

मोक्षपथे आत्मानं संस्थाप्य च करोति निवृत्तिर्भक्तिः ।

तेन तु जीवः प्राप्नोत्यसहायगुणं निजात्मानम् ॥ १३६ ॥

भेदकल्पनानिरपेक्षनिरुपचाररत्नत्रयात्मके निरुपरागप्रोक्षमार्गे निरंजननि  
जपरमात्मानंदपीयूषपानाभिमुखो जीवः स्वात्मानं संस्थाप्यापि च करोति  
निवृत्तिर्मुक्तिश्चङ्गनायाः चरणनलिने परमां भक्तिं, तेन कारणेन स भव्यो भक्ति  
गुणेन निरावरणसहजज्ञानगुणत्वादसहायगुणात्मकं निजात्मानं प्राप्नोति ।

आत्मा ह्यात्मानमात्मन्यविलितमहाशुद्धरत्नत्रयेऽस्मिन्

नित्ये भीमुक्तिहेतौ निरुपमसहजज्ञानदृक्शीलरूपे ।

संस्थाप्यानंदभास्वान्निरतिशयगृहं चिच्चमत्कारमवकत्या

प्राप्नोत्युच्चैरथं यं विगलितपद्मं सिद्धिर्सीमन्तिनीशः ॥

निधययोगभक्तिस्वरूपात्मानमेतत्—

राधादीपरिहारे अप्पाणां जो हु जुंजदे साहू ॥

सो जोगमत्तिजुत्तो इदरस्त प कहं हये जोगो ॥ ११७ ॥

रागादिपरिहारे आत्मानं यन्तु युनक्ति साधुः ।

स योगभक्तियुक्तः इतरस्य च कथं भवेद्योगः ॥ ११७ ॥

निरवशेषान्तर्मुसाकारपरमममाधिना निरालोहगण्डेपादिपरमा-  
धानां परिहारे सति यन्तु साधुगसक्तभक्त्यः निजेनारांदादेतपरमानंदस्व-  
रूपेण निजकारणपरमात्मानं युनक्ति स परमप्रबोधन एव शुद्धनिध-  
योपयोगभक्तियुक्तः । इतरस्य बाह्यप्रपंचसुखस्य कथं योगभक्तिर्भवति ।

तथाचोक्तम्—

“ आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोमतिः ।

तस्या इदानीं संयोगो योग इत्यभिधीयते ” ॥

तथाहि—

आत्मानमात्मनात्मार्यं युनक्त्येव निरन्तरम् ।

स योगभक्तियुक्तः स्यान्निधयेन मुनीश्वरः ॥

अत्रापि पूर्वसूत्रवन्निधययोगभक्तिस्वरूपमुक्तम्—

सध्ववियप्पामाये अप्पाणं जो हु जुंजदे साहू ।

सो जोगमत्तिजुत्तो इदरस्त प कहं हये जोगो ॥ ११८ ॥

सर्वविकल्पाभावे आत्मानं यन्तु युनक्ति साधुः ।

स योगभक्तियुक्तः इतरस्य च कथं भवेद्योगः ॥ ११८ ॥

अत्यपूर्वविरूपरागाद्व्यात्मनिजविद्विलासलक्षणनिर्विकल्पपरमसमा-  
धिना निरालोहगण्डेपादिविविधविकल्पाभावे परमसमरसीभावेन निःशेष-  
तोऽन्तर्मुसनिजकारणसमयसारस्वरूपमत्यासक्तभक्त्यनारः सदा युक्त एव,  
तस्य शत्रु निधययोगभक्तिर्भान्वेषाम् इति ।

भेदामाये सतीयं स्याद्योगमक्तिरनुत्तमा ।

तयात्मलब्धिरूपा सा मुक्तिर्मवति योगिनाम् ॥

इह हि निखिलगुणधरणधरदेवप्रभृतिजिनमुनिनाथकथिततत्त्वेषु विपरीताभिनिवेशविवर्जितात्मभाव एव निश्चयपरमयोग इत्युक्तः ।

विवरीयामिणिवेसं परिचत्ता जेण्हकहियतच्चेसु ।

जो जुंजदि अप्पाणं णियमावे सो हवे जोगो ॥ १३९॥

विपरीताभिनिवेशं परित्यक्त्वा जैनकथिततत्त्वेषु ।

यो युनक्ति आत्मानं निजभावः स भवेद्योगः ॥ १३९ ॥

अपरसमयतीर्थनाथाभिहिते विपरीते पदार्थे ह्यभिनिवेशो दुराग्रह एव विपरीताभिनिवेशः । अमुं परित्यज्य जैनकथिततत्त्वानि निश्चयव्यवहारं नयाम्याम् बोद्धव्यानि, सकलजिनस्य भगवतस्तार्थीयिनायस्य पादपञ्चोपजीविनो जैनाः, परमार्थतो गणधरदेवादय इत्यर्थः । तेरभिहितानि निखिलजीवादितत्त्वानि तेषु यः परमजिनयोगीश्वरः स्वात्मानं युनक्ति तस्य च निजभाव एव परमयोग इति ।

तत्त्वेषु जैनमुनिनाथमुसारविद—

व्यक्तेषु भव्यजनताभवघातकेषु ।

त्यक्त्वा दुराग्रहममुं जिनयोगिनाथः

साक्षाद्युनक्ति निजभावमयं स योगः ॥

भक्त्याधिकारोपसंहारोपन्यासोयम् :—

उसहादिजिणवरिन्दा एवं काऊण जोगवरमत्तिं ।

णिब्बुदिसुहमावण्णा तम्हा धरु जोगवरमत्तिं ॥ १४०॥

वृषभादिजिनवरेन्द्रा एवं कृत्वा योगवरभक्तिं ।

निर्भृतिमुत्तमापश्चास्तस्माद्धारय योगवरभक्तिं ॥ १४० ॥

अस्मिन् किल मास्तेवेयं पुनः किल श्रीनाभेयादिश्रीवर्द्धमानचरमाः  
चतुर्विंशतिनीर्यकरपरमदेवाः सर्वशरीतरागा त्रिभुवनकर्तृकीर्तयो महा-  
देवाधिदेवाः परमेश्वराः सर्वे एवमुत्प्रकारस्वात्मसंबन्धिनीं शुद्धनिधय-  
योगवरमर्तिं कृत्वा परमनिर्वाणबधूटिकापीवरस्तनभरगाद्वोपगुदनिर्भगनन्द-  
परममुरसपुष्परिदुससर्वात्मप्रदेशा जाताः, ततो पूर्य महाजनाः स्फुटित-  
मज्ज्यन्वगुणास्तां स्वात्मार्थपरमवीनरागमुखप्रदां योगमर्तिः कुप्तेति ।

नाभेयादिजिनेश्वरान् गुणगुरुन् जेतोरयपुण्योत्तरान्  
श्रीदेवेन्द्रकिरीटकोटिविलगन्मणित्रयमाहावितान् ।

पौलोमीप्रभृतिप्रसिद्धदिविजापीशांगनासंहतेः

शक्रेणोद्भवभोगहासविमलान् श्रीकीर्तिनाथान् स्तुवे ॥

बुधभादिवीर्यादिमजिनपतयोर्ध्ववमुक्तमार्गेण ।

कृत्वा तु योगमर्तिः निर्वाणशूटिकासुरां यान्ति ॥

अपुनर्भवसुरासिद्धये कुर्वेहं शुद्धयोगग्रमनिम् ।

संसारघोरभीत्या सर्वे कुर्वन्तु जन्तवो नित्यम् ॥

रागद्वेषपरंपरापरिणतं चेतो विहायाधुना ।

शुद्धध्यानसमाहितेन मनसानंदात्मनस्वास्थिनः ।

धर्मं निर्मलशर्मकारिणमहं हृज्या गुणैः सन्निधौ ।

ज्ञानापास्तसमस्तमोहमाहिमा ह्रीये परमल्लजि ॥

निवृत्तेन्द्रियलौक्यानां तत्त्वलोदुपचेतसां ।

सुन्दरानन्दनिष्यन्दं जायते तत्त्वमुत्तमम् ॥

अत्यपूर्वनिजामोत्यभाषनाज्ञातशर्मणे ।

यतन्ते यतयो ये ते जीवन्मुक्ता हि नापरे ॥

अद्वन्द्वनिष्ठमनसं परमात्मतत्त्वं

सिंहायामि तदहं दुनरेकमेकम् ।

भेदाभावे सतीत्येव योगयोगाभिरनुग्रहा ।

तत्तामसजिह्वाया मा मुदिर्धैर्या मोक्षिन्म ॥

इदं हि निमित्तमुक्तत्वात्तामसोऽयमुनिजिनमुनिनायकश्चित्तभेदं  
ताभिनिवेशाविर्जितामभाय एव निधयत्यमयोग इत्युक्तः ।

चिद्वरीषामभिनिवेशं परिचया जेष्ठकृत्तियतगेनु ।

जो जुनदि अप्याणं णिपभाये सो हयं जोगो ॥ १३३ ॥

तिरिक्ताभिनिवेशं पतित्याया जैनसंनितरोनु ।

यो युनक्ति आत्मानं निजमात्रः स योगी ॥ १३५ ॥

अतस्त्वमप्यतीर्णनायाभिहिते शिष्येने पदार्थे द्यभिनिवेशो दुराग्रह एव  
तिरिक्ताभिनिवेशः । अमुं पतित्याया जैनकृत्तियतस्यानि निधयत्यमयोग-  
नपाभ्याम् बोद्धव्यानि, गच्छन्तिनस्य भगवन्मर्त्यादिनादस्य पाद-  
द्वेषद्विनिशे जेना, परमार्थतो गच्छन्तिनस्य इत्यर्थः । तेनिति-  
तानि निशिलज्जीवादितत्त्वानि तेषु यः परमजिनयोगीश्वरः स्वात्मानं युनक्ति  
तस्य च निजमात्र एव परमयोग इति ।

तत्त्वं तु जैनमुनिनायमुसागविद-

व्यनेषु भव्यजनतामवपातकेषु ।

त्यक्त्वा दुराग्रहममुं जिनयोगिनायः

साक्षाद्युनक्ति निजमात्रमयं स योगी ॥

भक्त्याधिकारोपसंहारोपन्यासोपनः—

उसहादिजिणवरिन्दा एवं काऊण जोगवरमत्तिं ।

णिव्वुदिसुहमावण्णा तम्हा धरु जोगवरमत्तिं ॥ १४० ॥

वृषभादिजिनवरेन्द्रा एवं कृत्वा योगवरमर्कं ।

निर्वृत्तिसुखमापन्नास्तस्माद्धारय योगवरमर्कं ॥ १४० ॥

अस्मिन् किञ्च भारतेवर्षे पुरा किञ्च श्रीनाभेयादिश्रीवर्द्धमानचरमाः  
चतुर्विंशतितीर्थंकरपरमदेवाः सर्वशरीतरागाः त्रिभुवनवर्तिनीर्नपो महा-  
देवाधिदेवाः परमेश्वराः सर्वे एवमुत्तमप्रकारस्वात्मसंवन्धिनीं शुद्धनिधय-  
योगवरमर्क्तिं कृत्वा परमनिर्वाणवधुट्टिकार्पावरस्तनमरणाद्रोपगूढनिर्मरानन्द-  
परममुरसपूरपरिवृतसर्वात्मप्रदेशा जाताः, ततो यूयं महाजनाः स्तुटित-  
मव्यन्वगुणास्तां स्वात्मार्यपगमवीनरागमुषप्रदां योगमर्क्तिं कुरुतेति ।

नाभेयादिजिनेश्वरान् गुणगुह्यन् घ्रेल्लोभयपुण्योत्करान्  
श्रीदेवेन्द्रकिरीटकोटिविलसन्मणिन्यमाटारचितान् ।

पौलोर्माप्रभृतिप्रसिद्धदिविजाधीशांगनामहतेः

शक्रेणोद्भवमोगहासविमलान् श्रीकीर्तिनाथान् स्तुवे ॥

कृपमादिर्वारपद्मिजनिपतयोप्येवमुक्तमार्गेण ।

कृत्वा तु योगमर्क्तिं निर्वाणवधुट्टिकासुगं यान्ति ॥

अपुनर्भवसुरासिद्धये कुर्वन्तं शुद्धयोगवरमनिम् ।

संसारधोर्भात्या सर्वे कुर्वन्तु जन्तवो नित्यम् ॥

रागद्वेषपरंपरापरिणतं चेतो विहायाधुना ।

शुद्धध्यानममाहितेन मनसानेदात्मतत्त्वस्थितः ।

धर्म्म निर्मलशर्मकारिणमहं हृष्या गुरोः सन्निधौ ।

शानापास्तसमस्तमोहमाहिमा लीये परब्रह्मणि ॥

निहृतिन्द्रियल्लोभ्यानां तत्त्वलोलुपचेतसां ।

मुन्दरानन्दनिष्यन्दं जायते तत्त्वमुत्तमम् ॥

अल्पपूर्वनिजाल्मोत्पभावनाजालशर्मणे ।

यतन्ते यनयो ये ते जीवन्मुना हि नापरे ॥

अहन्द्वनिष्टमनर्थं परमात्मतत्त्वं

समावयामि तदहं पुनरेकमेकम् ।

भेदामावे सतीर्यं स्याद्योगभक्तिरनुनमा ।

तयात्मलब्धिरूपा सा मुक्तिर्मवति योगिनाम् ॥

इह हि निस्त्रिलगुणधरगणधरदेवप्रभृतिजिनमुनिनाथकथिततत्त्वेषु विपरीताभिनिवेशविवर्जितात्मभाव एव निश्चयपरमयोग इत्युक्तः ।

विवरीयामिणिवेसं परिचत्ता जेण्हकहियतच्चेसु ।

जो जुंजदि अप्पाणं णियमावे सो हवे जोगो ॥ १३९॥

विपरीताभिनिवेशं परित्यक्त्वा जैनकथिततत्त्वेषु ।

यो युनक्ति आत्मानं निजभावः स भवेद्योगः ॥ १३९ ॥

अपरसमयतीर्यनाथाभिहिते विपरीते पदार्थे ह्यभिनिवेशो दुराग्रह एव विपरीताभिनिवेशः । अमुं परित्यज्य जैनकथिततत्त्वानि निश्चयव्यवहारं नयाम्याम् बोद्धव्यानि, सकलजिनस्य भगवत्स्तीर्थाधिनाथस्य पादपद्मोपजीविनो जैनाः, परमार्थतो गणधरदेवादय इत्यर्थः । तैरभिहितानि निस्त्रिलगुणधरतत्त्वानि तेषु यः परमजिनयोगीश्वरः स्वात्मानं युनक्ति तस्य च निजभाव एव परमयोग इति ।

तत्त्वेषु जैनमुनिनाथमुखारविन्द-

व्यक्तेषु भव्यजनतामवघातकेषु ।

त्यक्त्वा दुराग्रहममुं जिनयोगिनाथः

साक्षाद्युनक्ति निजभावमयं स योगः ॥

भक्त्याधिकारोपसंहारोपन्यासोयम् —

उसहादिजिणवरिन्दा एवं काऊण जोगवरमत्तिं ।

णिब्बुदिमुहमावण्णा तम्हा धरु जोगवरमत्तिं ॥ १४०॥

वृषभादिजिनवरेन्द्रा एवं कृत्वा योगवरभक्तिं ।

निर्भृतिमुत्तमापन्नास्तस्माद्धारय योगवरभक्तिं ॥ १४० ॥

अस्मिन् किल भारतेवर्षे पुरा किल श्रीनाभेयादिश्रीवर्द्धमानचरमाः  
चतुर्विंशतितीर्थंकरपरमदेवाः सर्वज्ञवीतरागाः त्रिभुवनवर्तिर्कीर्तयो महा-  
देवाधिदेवाः परमेश्वराः सर्वे एवमुक्तप्रकारस्वात्मसंबन्धिनीं शुद्धनिधय-  
योगवरभक्तिं कृत्वा परमनिर्वाणवभूटिकापीवरस्तनभरमाद्रोपगूढानिर्मरानन्द-  
परमसुरसपूरपरिवृतसर्वात्मप्रदेशा जाताः, ततो यूयं महाजनाः स्फुटित-  
मन्यत्वगुणास्तां स्वात्मार्षपरमवीतरागसुखमदां योगभक्तिं कुरुतेति ।

नाभेयादिजिनेश्वरान् गुणगुरुन् वेलोकयपुण्योत्करान्  
श्रीदेवेन्द्रकिरीटकोटिविठसन्माणिभ्यमाष्टार्चितान् ।

पाँटोमीप्रभृतिप्रसिद्धदिविजाधीशांगनासंहतेः

शवेणोद्भवभोगहासविमलान् श्रीकीर्तिनाथान् स्तुवे ॥

वृषभादिवीरपाद्भिर्मजिनपतयोप्येवमुक्तमार्गेण ।

कृत्वा तु योगभक्तिं निर्वाणवभूटिकामुखं यान्ति ॥

अपुनर्भवसुरासिद्धये कुर्वेहं शुद्धयोगवरभक्तिम् ।

संसारधोर्भात्या सर्वे कुर्वन्तु जन्तवो नित्यम् ॥

रामदेवपरंपरापरिणतं चेतो विहायाधुना ।

शुद्धध्यानसमाहितेन मनसानंदात्मतत्त्वास्थितः ।

धर्मं निर्मलशर्मकारिणमहं दृष्ट्वा गुरोः सन्निधौ ।

ज्ञानापास्तसमस्तमोहमाहिमा लीये परमद्वयि ॥

निर्वृतेन्द्रियलोल्यानां तत्त्वटोलुपचेतसां ।

सुन्दरानन्दनिष्यन्दं जायने तत्त्वमुत्तमम् ॥

अत्यपूर्वनिजात्मोत्थभावनाजातशर्मणे ।

यतन्ते यनयो ये ते जीवन्मुक्ता हि नापरे ॥

अहन्दानिष्टमनघं परमात्मतत्त्वं

संभावयामि तदहं पुनरेकमेकम् ।



भेदाभावे सतीत्येव व्यायोगमक्तिरनुनमा ।

तथात्मन्यभिपत्ता सा मुक्तिर्मानि मोगितान् ॥

इह हि निमित्तगुणधर्मागमरदेवभूतिजिनमुनिनायकृतिनालेषु रिपि  
ताभिनिवेशाविर्जिताममात्र एव निधयत्तमयोग इत्युक्तः ।

चिखरीयाभिणिषेसं परिचत्ता जेण्हकृहियतयेसु ।

जो जुंजदि अप्पाणं णियमाये सो हये जोगो ॥ १३० ॥

पिपरीताभिनिवेशं परित्यज्त्वा जैनकृतिनत्तेषु ।

यो युनक्ति आत्मानं निजमात्रः स योगोः ॥ १३१ ॥

अपरसमयतीर्थनाथाभिहिते विपरिते पदार्थे व्यभिनिवेशो दुराग्रह ए  
विपरीताभिनिवेशः । अमुं परित्यज्य जैनकृतिनत्त्वानि निधयव्यवशा  
नयाम्याम् बोद्धव्यानि, सकलजिनस्य भगवतस्तीर्थाभिनायस्य पादप  
शोपजीविनो जेनाः, परमार्थतो गणधरदेवादय इत्यर्थः । तैरभिहि  
तानि निषिद्धजीवादितत्त्वानि तेषु यः परमजिनयोगीश्वरः स्वात्मानं युनक्ति  
तस्य च निजमात्र एव परमयोग इति ।

तत्त्वेषु जैनमुनिनाथमुत्सारविन्द-

व्यक्तेषु मय्यजनतामवपातकेषु ।

त्यक्त्वा दुराग्रहममुं जिनयोगिनाथः

साक्षाद्युनक्ति निजमात्रमर्थं स योगः ॥

भक्त्याधिकारोपसंहारोपन्यासोयम् —

उसहादिजिणवरिन्दा एवं काऊण जोगवरमत्तिं ।

णिब्वुदिसुहमावण्णा तम्हा धरु जोगवरमत्तिं ॥ १४० ॥

वृषभादिजिनवरैन्द्रा एवं कृत्वा योगवरभक्तिं ।

निर्वृत्तिसुखमापन्नास्तस्माद्धारय योगवरभक्तिं ॥ १४० ॥

अस्मिन् किल भारतेवर्षे पुरा किल श्रीनाभेयादिश्रीवर्द्धमानचरमाः  
चतुर्विंशतिनीर्यकरपरमदेवाः सर्वज्ञवीतरागाः त्रिभुवनवर्तिर्नीर्तयो महा-  
देवाधिदेवाः परमेश्वराः सर्वे एवमुक्तप्रकारस्वात्मसंवन्धिनीं शुद्धनिधय-  
योगवरभक्तिं कृत्वा परमनिर्वाणवधूटिकापीवरस्तनभरणाद्रोपगूढनिर्भरानन्द-  
परममुरसपूरपरितृप्तसर्वात्मप्रदेशा जाताः, ततो यूयं महाजनाः स्फुटित-  
मव्यवगुणास्तां स्वात्मार्थपरमवीतरागमुत्प्रदां योगभक्तिं कुरुतेति ।

नाभेयादिजिनेश्वरान् गुणगुरुन् ब्रैलोक्यपुण्योत्करान्  
श्रीदेवेन्द्रकिरीटकोटिविलसन्मणिभ्यमाढार्चितान् ।

पौलोमीप्रभृतिप्रसिद्धदिविजाधीशोगनासंहतेः

शकेणोद्भवभोगहासविमलान् श्रीकीर्तिनाथान् स्तुवे ॥

वृषभादिर्वीरपाद्मिचमजिनपनयोप्येवमुक्तमार्गेण ।

कृत्वा तु योगभक्तिं निर्वाणवधूटिकासुरं यान्ति ॥

अपुनर्भवसुरासिद्धये कुर्वेहं शुद्धयोगवरभक्तिम् ।

संसारधोर्भात्या सर्वे कुर्वन्तु जन्तवो नित्यम् ॥

रागद्वेषपरंपरापरिणतं चेतो विहायाधुना ।

शुद्धध्यानसमाहितेन मनसानेदात्मतत्त्वास्थितः ।

धर्मं निर्मलशर्मकारिणमहं लब्ध्वा गुरोः सन्निधौ ।

ज्ञानापास्तसमस्तमोहमाहिमा लीये परब्रह्मणि ॥

निर्द्वैतन्द्रियलोल्यानां तत्त्वलोलुपचेतसां ।

गुन्दरानन्दनिष्यन्दं जायते तत्त्वमुत्तमम् ॥

अत्यपूर्वनिजात्मोत्थभाषनाजानशर्मणे ।

यतन्ते यतयो ये ते जीवन्मुना हि नापरे ॥

अद्भुतनिष्ठमनसं परमात्मतत्त्वं

संभावयामि तदहं पुनरेकमेकम् ।

किं तैश्च मे फलमिहान्यपदार्थसायैः

मुक्तिसृष्टस्य भवशर्मणि निःस्पृहस्य ॥

इति सुकविजनपयोजमित्र-पंचेंद्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रही पद्मप्रभ-  
मलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ  
परममक्त्यधिकारो दशमः श्रुतस्कन्धः ॥ १० ॥

अथ सांप्रतं व्यवहारपट्टावश्यकप्रातिपक्षशुद्धनिश्चयाधिकार उच्यते ।  
अत्रानवरतस्ववशस्य निश्चयावश्यककर्म भवतीत्युक्तम्:—

जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्मं मणंति आवासं॥  
कम्मविणासणजोगो णिव्वहिमग्गोत्ति पिज्जुत्तो॥१४१॥

यो न भवत्यन्यवशः तस्य तु कर्म मणन्त्यावश्यकम् ।

कर्मविनाशनयोगो निवृत्तिमार्ग इति प्रख्यापितः ॥ १४१ ॥

यः खलु यथाविधि परमजिनमार्गाचरणकुशलः सर्वदेवान्तर्मुसत्वादन-  
न्यवशो भवति किन्तु साक्षात्स्ववश इत्यर्थः । तस्य किल व्यवहारिकक्रिया-  
प्रपञ्चपराङ्मुक्तस्य स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मध्यानप्रधानपरमावश्यककर्मास्ती-  
त्यनवरतं परमतपश्चरणनिरतपरमजिनयोगीश्वरा वदन्ति । किं च यस्मिन्नि-  
गुप्तपरमसमाधिदक्षणापरमयोगः सकलकर्मविनाशहेतुः स एव साशान्मोक्ष-  
कारणात्वाच्चिद्वृत्तिमार्ग इति निरुक्तिर्व्युत्पत्तिरिति ।

तथाचोक्तममृतचन्द्रसूरिभिः ।

“आत्मा धर्मः स्वयमितिभवन्प्राप्य शुद्धोपयोगं

नित्यानन्दप्रसरसरसज्ञानतत्त्वे निर्लीनं ।

प्राप्तोत्पुष्टेर्बलितनया निःप्रकम्पयकाशात्

हृद्भग्न्योतिः सद्गजविलसद्गदीपस्य लक्ष्मी ॥”

तथाहि—

आत्मन्युच्चैर्भवति नियतं सच्चिदानन्दमूर्तो  
धर्मः साक्षात् स्ववशजनितावश्यककर्मात्मकोऽयम् ।  
सौख्यं कर्मक्षयकारणदुर्निवृत्तेरेकमार्गः  
तेनैवाहं किमपि तरसा यामि शं निर्विकल्पम् ॥

अवशस्य परमजिनयोगीश्वरस्य परमावश्यककर्मावश्यं भवतीत्यत्रोक्तं—  
ण वसो अवसो अघसस्स कम्म यावस्सयंति बोधध्वा ।  
जुत्तिस्सि उवाअंति य णिरवयवो होदि णिज्जेत्ती ॥१४१॥

न वशो अवशः अवशस्य कर्म बाधवश्यकमिति बोद्धव्यम् ।  
युक्तिरिति उपाय इति च निरवयवो भवति निरुक्तिः ॥१४२॥

यो हि योगी स्वात्मपरिग्रहादन्येषां पदार्थानां वशं न गतः, अत एव  
अवश इत्युक्तः, अवशस्य तस्य परमजिनयोगीश्वरस्य निधयधर्मध्यानान्यकपर-  
मावश्यककर्मावश्यं भवतीति बोद्धव्यम् । निरवयवस्योपायो युक्तिः अव-  
श्यवी कायः अस्याभावात् अवयवाभावः । अवशः परद्रव्याणां निरवयवो  
भवतीति निरुक्तिः व्युत्पत्तिश्चेति ।

योगी कश्चिच्च हितनिरतः शुद्धजीवास्तिष्ठायाद्  
अन्येषां यो न वश इति या संस्थितिः सा निधितिः ।  
तस्मादस्य ग्रहतदुरितध्वान्तपुञ्जस्य नित्यं  
स्फूर्जज्ज्योतिः स्फुटितसहजावस्थया मूर्तता स्यात् ॥

इह हि भेदोपचाररत्नत्रयपरिणतेर्जीवस्यावशस्त्वं न समस्तीत्युक्तम्—  
वहदि जो सो समणो अण्णवसो होदि अनुहमावेण ।  
तम्हा तस्स दु कम्म आवस्सयल्लक्खणं हवे ॥१४३॥

किं तैश्च मे फलमिहान्यपदार्थमार्यैः

मुक्तिरुक्तस्य भवशर्मणि निःस्पृहस्य ॥

इति सुकविजनपयोजमित्र-मंचेंद्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रही पद्मप्रन-  
मलधारिवेद्यविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ  
परममक्त्यधिकारो दशमः श्रुतस्कन्धः ॥ १० ॥

अथ सांप्रतं व्यवहारपट्टावश्यकप्रातिपक्षशुद्धनिश्चयाधिकार उच्यते ।  
अत्रानवरतस्ववशस्य निश्चयावश्यककर्म भवतीत्युक्तम्:—

जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्मं मणंति आवासं॥  
कम्मविणासणजोगो णिव्वहिमग्गोत्ति पिज्जुत्तो॥१४१॥

यो न भवत्यन्यवशः तस्य तु कर्म मणन्त्यावश्यकम् ।

कर्मविनाशनयोगो निवृत्तिमार्ग इति प्ररूपितः ॥ १४१ ॥

यः सलु यथाविधि परमजिनमार्गाचरणकुशलः सर्वदेवान्तर्मुसत्वादन-  
न्यवशो भवति किन्तु साक्षात्स्ववश इत्यर्थः । तस्य किल व्यवहारिकक्रिया-  
प्रपञ्चपराङ्मुखस्य स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मध्यानप्रधानपरमावश्यककर्मास्ती-  
त्यनवरतं परमतपश्चरणनिरतपरमजिनयोगीश्वरा वदन्ति । किं च यन्निगुति-  
गुप्तपरमसमाधिलक्षणपरमयोगः सकलकर्माविनाशहेतुः स एव साक्षान्मोक्ष-  
कारणात्वाभिर्वृत्तिमार्ग इति निरुक्तिर्व्युत्पत्तिरिति ।

तथाचोक्तममृतचन्द्रसूरिभिः ।

“ आत्मा धर्मः स्वयमिति भवत्प्राप्य शुद्धोपयोगं

नित्यानन्दप्रसरसरसज्ज्ञानतत्त्वे निलीनं ।

प्राप्नोत्युच्चैरचलिततया निःप्रकम्पप्रकाशात्

स्फूर्ज्ज्ज्योतिः सहजविलसद्रवदीपस्य लक्ष्मीं ॥ ”

वर्तते यः स श्रमणोऽग्रशो भवत्यशुभभावेन ।

तस्मात्तस्य तु कर्मावश्यकलक्षणं न मेव ॥ १४३ ॥

अग्रशस्तरागाद्यशुभभावेन यः श्रमणाभामो द्रव्यलिङ्गी वर्तते स्वस्व-  
पादन्येषां पद्द्रव्याणां वशो भूत्वा, ततस्तस्य जघन्यरत्नव्यपारिणतेर्जी-  
वस्य स्वात्माश्रयधर्मव्यानलक्षणपरमावश्यककर्म न भवेदिति अज्ञानार्थं द्रव्य-  
लिङ्गं गृहीत्वा स्वात्मकार्यविमुक्तः सन् परमतपश्चरणादिकमप्युदात्त-  
जिनेन्द्रमंदिरं वा तत्क्षेत्रवास्तुधनधान्यादिकं वा सर्वमस्मदीयमिति  
मनश्चकारेति ।

अभिनवमिदमुच्चैर्मोहनीयं मुनीनां

त्रिभुवनभुवनान्तर्ध्वातपुंजायमानम् ।

तृणग्रहमपि मुक्त्वा तीव्रवेराग्यभावाद्

वसतिमनुपमां तामस्मदीयां स्मरन्ति ॥

कोपि कापि मुनिर्वमूव मुकृती काले कलावप्यलम्

मिथ्यात्वादिकलंकपंकरहितः सद्धर्मरक्षामणिः ।

सोयं संग्रति भूतले दिवि पुनर्देवैश्च संपूज्यते

मुक्तानेकपरिग्रहव्यतिकरः पापाटवी पावकः ॥

तपस्या लोकेस्मिन् निश्चिह्नसुधिया प्राणदयिता

नमस्या सा योग्या शतमस्तशतस्यापि सततम् ।

परिप्राप्येतां यः स्मरतिमिरसंसारजनितं

सुखं रेमे कश्चिद्वत् कलहतोऽसौ जहमति ।

अन्यवशः संसारी मुनिवेषधरोपि दुःखभाद्रित्यम् ।

स्ववशो जीवन्मुक्तः किञ्चिन्पूजो जिनेश्वरादेवः ॥

अत एव माति नित्यं स्ववशो जिननाथमार्गमुनिवर्गं ।

अन्यवशो मात्येवं भृत्यप्रकरेषु राजवहुभवत् ॥

अत्राप्यन्यशस्याशुद्धान्तरात्मर्जावस्य लक्षणमभिहितं—

जो चरदि संजदो खलु सुहभावे सो हवेइ अण्णवसो ।  
तम्हा तस्स दु कम्मं आवासयलक्खणं ण हवे ॥ १४४ ॥

यश्चरति संयतः खलु शुभभावे स भवेदन्यवशः ।

तस्मात्तस्य तु कर्मविशेषलक्षणं न भवेत् ॥ १४४ ॥

यः खलु जिनेन्द्रवदनारविन्दविनिर्गतपरमाचारशास्त्रक्रमेण सदा संयतः सन् शुद्धोपयोगे चरति व्यावहारिकधर्मध्यानपरिणतः अत एव चरणकरणप्रधानः स्वाध्यायकालमवलोकयन् स्वाध्यायक्रिया करोति, देनं देनं भुक्त्वा भुक्त्वा चतुर्विधाहारमत्याख्यानं च करोति, तिमृषु संध्यामु भगवदेर्हत्परमेश्वरस्तुतिशतमुरारमुखारविन्दो भवति । त्रिका-  
लेषु च नियमपरायणः इत्यहोरात्रेभ्योकादशक्रियातत्परपाक्षिकमासिक-  
चतुर्मासिकसांवत्सरिणा (?) कर्णनममुपजनितपरितोषरोमाचकंचुकित-  
धर्मशरीरः, अनेशनावमोदप्यरसपरितपागवृत्तिपरिसंख्यानविविधशयनो-  
त्तेजसायुक्तेषामभिधानेषु षट्सु बाह्यतर्पणेषु च संततोत्साहपरायणः स्वाध्याय-  
ध्यानशुभाचरणप्रच्युतप्रतिपत्त्यवस्थापनात्मकप्रायश्चित्तविनिययोयावृत्त्यव्युत्सर्गना-  
मधेयेषु चाभ्यन्तरतपोनुष्ठानेषु च कुशलबुद्धिः, किन्तु स निरपेक्षतपो-  
धनः साक्षान्मोक्षकारणं स्वात्माश्रयावश्यकर्म निश्चयतः परमात्मतत्त्व-  
विभ्रान्तिरूपं निश्चयधर्मध्यानं शुद्धध्यानं च न जानाते अतः परद्वयगत-  
त्वादन्यवश इत्युक्तः । अस्य हि तपश्चरणनिरतचित्तस्यान्यवशस्य नाकलो-  
कादिक्लेशपरंपरया शुभोपयोगफलतात्मभिः प्रशस्तरागागारेः पच्यमानः  
सप्तासन्नभक्ष्यतागुणोदये सति परमगुरुप्रसादसादितपरमतत्त्वभ्रजानपरि-  
ज्ञानानुष्ठानात्मकशुद्धनिश्चयसत्त्वपरिणत्या निर्व्राणमुपयातीति ॥

त्यजतु मुरलोकादिक्लेशे रतिं मुनिपुंगवो

भजतु परमानन्दं निर्व्राणकारणकारणं ।

सकलविमलज्ञानावामं निरावरणात्मकं  
सहजपरमात्मानं दूरं नयानयसंहते ॥

अत्राप्यन्यदशस्य स्वरूपमुक्तम्—

द्वयगुणपर्य्यायानं चित्तं जो कुणइ सोचि अण्णवसो ।  
मोहांधयारवधगयसमणा कहयंति एरिसयम् ॥ १४५ ॥

द्वयगुणपर्य्यायणां चित्तं यः करोति सोऽप्यन्यवशाः ।

मोहान्धकारव्यवगतश्रमणाः कथयन्तीदृशम् ॥ १४५ ॥

य. कश्चिद् द्वयत्रिद्विधारी भगवद्दहन्मुक्तास्त्रिद्विनिर्गन्तुलोत्तर-  
शार्थमार्थ्यतिगानसमर्थः कश्चित् पण्णो द्वयाणां मध्ये चित्तं धत्ते । कस्मि-  
न्नेषां मूर्तामूर्तचेतनाचेतनगुणानां मध्ये मनश्चकार, गुणस्तेषामर्थव्यव-  
पार्य्यायणां मध्ये बुद्धिं करोति । अपि तु त्रिकालनिरावर्णनित्यान्तदुक्त-  
निजकारणसमयनारत्नरूपनिरतसहजज्ञानादिगुणद्वयगुणपर्य्यायानामाराधनद्वय-  
निजात्मतन्त्रे विनो कश्चिदपि न यात्रयति अतएव स ततोऽन्योऽन्य-  
वशा इत्युक्तः ।

अथानुदर्शनव्याप्तिसमाहनीय इमेऽर्थसंघाताः परमात्मवत्स्वभावसंज्ञ-  
वशात्तराजमुन्नामुत्तानोन्मुखाः अरणा दि महाअरणाः परमधुनकं-  
ठिका, ते सन्तु कथयन्तीदृशे अन्यादशस्य स्वरूपमिति ।

तथाचाकम् ।

" अजम हार्वं परिचय्य दृशदुर्लभिदृशा ।

यस्मिन् अज्ञानिजानी किं तथा परिचय्यताम् " ॥

तथा हि—

यस्मात्कल्यस्ति कल्पनीयं तावद्दर्शनं समुत्पद्यते ।

यत्तु तेनानुसृत्य कलहनादस्य वदन्तव्यम् ॥



अत्र हि साक्षात् स्ववशस्य परमजिनयोगीश्वरस्य स्वरूपमुक्तम्.—

परिचत्ता परिभावं अप्पाणं झादि णिम्मलसहावम् ।  
अप्पवसो सो होदि हु तस्स दु कम्मं भणन्ति आवासं १४६

परित्यक्त्वा परभावं आत्मानं ध्यायति निर्मलस्वभावम् ।

आत्मवशः स भवति खलु तस्य तु कर्म भणन्त्यावश्यम् ॥१४६॥

यस्तु निरुपमरामनिरंजनस्वभावत्वाद्बोद्धविकादिपरभावानां समुद्यं  
परित्यज्य कायकरणवाश्यामगेचरं सदा निरावरणत्वाभिर्मलस्वभावं  
निखिलदुरषवीरवौरियाहिनीपताकालुंटाकं निजकारणपरमात्मानं ध्यायति स  
एवात्मवश इत्युक्तः । तस्याभेदानुपचाररत्नत्रयात्मकस्य निखिलबाह्यक्रिया-  
काङ्क्षाद्वेषविविधविकल्पमहाकोलाहलप्रतिपक्षमहानन्दानन्दप्रदनिश्चयधर्मशुद्ध-  
ध्यानात्मपरमावश्यकर्म भवतीति ।

जयत्ययमुदारधीः स्ववशयोगिवुन्दारकः

ग्रहणभवकारणः ग्रहतपूर्वकम्मबलिः ।

स्फुटोत्कटविवेकतः स्फुटितशुद्धबोधात्मिकाम्

सदाशिवमयां मुदा व्रजति सर्वथा निर्वृत्तिम् ॥

प्रध्वस्तपञ्चबाणस्य पञ्चाचार्तचिताकृतेः ।

अवचकगुणैर्वाक्यं कारणं मुनिसंपदः ॥

इत्थं बुद्धा जिनेन्द्रस्य मार्गं निर्वाणकारणम् ।

निर्वाणसंपदं यान्ति यस्तं वन्दे पुनः पुनः ॥

स्ववशयोगिनिकायविशेषक-

ग्रहतचारुवधूकनकसूहः ।

त्वमसि नदशरणं भवकानने

स्मरकिरातशरक्षतचेतसाम् ॥

अनशनादितपश्चरणैः फलं

तनुविशोषणमेव न चापरम् ।

तत्र पदात्रुरुहद्वयचितया

स्ववशजन्म सदा सफलं मम ॥

जयति सहजतेजोराशिनिर्मग्नलोकः

स्वसविसरपूरक्षालिताहः समंतात् ।

सहजसमरसेनापूर्णपुण्यः पुराणः

स्ववशमनसि नित्यं संस्थितः शुद्धसिद्धः ॥

सर्वज्ञवीतरागस्य स्ववशस्यास्य योगिनः ।

न कामपि भिदां क्वापि तां चिन्मोहा जटा वयम् ॥

एक एव सदा धन्यो जन्मन्यास्मिन् महाशुनेः ।

स्ववशः सर्वकर्मभ्यो वहिस्तिष्ठत्यनन्यधीः

शुद्धनिश्चयावश्यकप्राप्त्युपायस्वरूपास्थानमेतत्:-

आवासं जइ इच्छसि अप्ससहावेसु कुणदि थिरमावमा  
तेण दु सामण्णगुणं संपुण्णं होदि जीवस्य ॥ १४७ ॥

आवश्यकं यदीच्छसि आत्मस्वभावेसु करोषि स्थिरभावं ।

तेन तु सामायिकगुणं सम्पूर्णं भवति जीवस्य ॥ १४७ ॥

इह हि बाह्यपटावश्यकप्रपंचकटोलेन फलकटध्वानपराङ्मुक्त हे शिष्य  
शुद्धनिश्चयधर्मशुक्लध्यानात्मकस्वात्माश्रयावश्यकं संसारव्रततिमूढत्वैवं  
यद् इच्छसि, समस्तार्थकल्पजाटविनिर्मुक्तनिरंजनविजपरमात्मभावेषु  
सहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्र्यसहजमुसप्रमुसेषु सततनिश्चलस्थिरभावं  
करोषि, तेन हेतुना निश्चयसामायिकगुणे जाते मुमुक्षोर्जीवस्य बाह्य-  
पटावश्यकक्रियाभिः किं जातम् अप्यनुपादेयं फलमित्यर्थः । अंतः

परमावश्यकेन निष्क्रियेण अपुनर्भवपुरन्धिकासंभोगहासप्रवीणेन जीवस्य सामाधिकचारित्रं सम्पूर्णं भवतीति । तथा चोक्तं श्रीयोगेन्द्रदेवेः—

यदि चलति कथंचिन्मानसं स्वस्वरूपाद्

भ्रमति बहिरतस्ते सर्वदोषप्रसंगः ।

तदनवरतमंतर्ममसंतुष्टमचिनो

भव भवसि भवान्तःस्थादिधामापि यस्त्वम् ॥

तथाहि—

यथेवं चरणं निजात्मनियतं समारदुःसापह

मुक्तिर्भ्रालटनासमुद्भवमुत्तस्योच्चैरिदं कारणम् ।

बुद्धेत्यं समयस्य सारमनघं जानाति यः सर्वदा

सोयं त्यक्तबहिःक्रियो मुनिपतिः पापाटवोपावकः ॥

अत्र शुद्धोपयोगाभिमुखस्य शिक्षणमुक्तम्—

आवासएण हीणो पचढो होदि चरणदो समणो ।

पुच्छुच्चकमेण पुणो तम्हा आवासयं कुज्जा ॥ १४८ ॥

आवश्यकेन हीनः प्रभ्रष्टो भवति चरणतः ध्रमणः ।

पूर्वोक्तक्रमेण पुनः तस्मादावश्यकं कुर्यात् ॥ १४८ ॥

अत्र व्यवहारनयेनापि समतास्तुतिवद्दनाप्रत्याख्यानादिषट्पादवश्यकपरि-  
हीणः भ्रमणभारिज्रपरिभ्रष्ट इति यावत्, शुद्धनिश्चयेन परमाध्यात्मभोष-  
योक्तनिर्विकल्पसमाधिसरूपपरमावश्यकक्रियापरिहीणभ्रमणो निश्चयचारि-  
ज्रभ्रष्ट इत्यर्थः । पूर्वोक्तस्ववशस्य परमजिनयोगीश्वरस्य निश्चया-  
वश्यकक्रमेण स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मशुद्धध्यानस्वरूपेण सदावश्यक  
करोतु परममुनिरिति ।

आत्मावश्ये सहजपरमावश्यकं चक्रमेकम्

कुप्यादुच्चैरपकुटहरं निरुतिर्मूलभूतम् ।

सौम्यं नित्यं स्वरसविस्तरापूर्णगुण्यः पुराणः

वाचां दूरं किमपि सहजं शास्वतं शं प्रयाति ।

स्ववशस्य मुनीन्द्रस्य स्वात्मचिन्तनमुत्तमम् ॥

इदं चावश्यकं कर्म स्यान्मूढं मुक्तिशर्मणः ॥

अत्रावश्यककर्माभावे तपोधनो बहिरात्मा भवतीत्युक्तः ।

आवासएण जुत्तो समणो सो होदि अंतरंगप्पा ।

आवासयपरिहीणो समणो सो होदि बहिरप्पा ॥ १४९ ॥

आवश्यकेन युक्तः श्रमणः स भवत्यंतरंगात्मा ।

आवश्यकपरिहीणः श्रमणः स भवति बहिरात्मा ॥ १४९ ॥

अभेदानुपचाररत्नत्रयात्मकस्यात्मानुष्ठाननियतपरिभावश्यककर्मज्ञानवत्संयुक्तः स्ववशाभिधानपरमश्रमणः सर्वोत्कृष्टोऽन्तरात्मा, षोडशरूपादाननभावादयं क्षीणमोहपद्वीं परिग्राप्य स्थितो महात्मा । असंयतसम्बन्धज्ञेयान्यातरात्मा । अनयोर्मध्यमाः सर्वे मध्यमान्तरात्मानः । निश्चयन्यमहारण्यद्वयप्रणीतपरमावश्यकक्रियाविहीनो बहिरात्मेति ।

उक्तं च मार्गप्रकाशे—

“ बहिरात्मान्तर्गतेति स्यादन्यसमयो दिवा ।

बहिरात्मानयोर्देहकरणायुतितात्मधीः ” ( ? )

“ जपन्यमध्यमोत्कृष्टभेदादरितः सुदृक् ।

प्रथमः क्षीणमोहन्यो मध्यमो मध्यमस्तयोः ”

तथाहि—

योगी नित्यं सहजपरमावश्यककर्मयुक्तः

मसारोस्य प्रबलमुग्धदुःखादगीदूरवर्ती ।

तस्मात्सौम्यं भवति नित्यमन्तरात्मात्मनिष्ठः

स्वात्मभेदा भवति बहिरात्मा बहिरात्मनिष्ठः ॥

बाह्याभ्यन्तरजल्पनिरासोद्यमः—

अंतरवाहिरजप्ते जो बट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा ।

जप्पेसु जो ण बट्टइ सो उच्चइ अंतरंगप्पा ॥ १५० ॥

अन्तरबाह्यनल्पे यो वर्तते स भवति बहिरात्मा ।

नल्पेषु यो न वर्तते स उच्यतेऽन्तरगात्मा ॥ १५० ॥

यस्तु जिनलिंगधारी तपोधनाभासः पुण्यकर्मकांक्षया स्वाध्यायप्रत्या-  
ख्यानस्तवनादिबहिर्जल्पं करोति, अनशनं शयनपानस्थानादिषु सत्कारा-  
दिलाभलोभस्तुल्यजल्पे मनश्चकारंति न बहिरात्मा जीव इति । स्वात्म-  
ध्यानपरायणस्तसन् निर्विशेषेणान्तर्मुखः प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तविकल्पजाल-  
केषु कदाचिदपि न वर्तते अत एव परमतपोधनः साक्षादंतरात्मेति । तथा  
चोक्तं श्रीमद्भूतचंद्रमुरिभिः—

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला—

मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम् ।

अन्तर्बहिः समरसंकरसुखभावम्

स्व भावमेवमुपयात्युनुभूतिमात्रम् ॥

तथाहि—

मुक्त्वा जल्पं भवभयकरं बाह्यमाभ्यन्तरं च

स्मृत्वा नित्यं सारसमयं चिद्धमत्कारमेकम् ।

शनज्योतिःप्रकटितनिजाभ्यन्तरांगतरात्मा

क्षीणे मोहे किमपि परमं तत्त्वमन्तर्ददर्श ॥

अत्र स्वात्माश्रयनिर्भयधर्मशुद्ध्यान्तर्दितयमेवोपादेयमित्युक्तम्—

जो धम्ममुक्कझाणमिह परिणदो सोवि अंतरंगप्पा ।

झाणविहीणो समणो बहिरप्पा इदि विजाणीहि ॥ १५१ ॥

यो धर्मशुक्लध्यानयोः परिणतः सोऽप्यन्तरंगात्मा ।

ध्यानविहीनः श्रमणो बहिरात्मेति विनानीहि ॥ १५१ ॥

इह हि साक्षादन्तरात्मा मगवान् क्षीणकषायः, तस्य सत्तु भगवतः क्षीणकषायस्य षोडशकषायाणामभावात् दर्शनचारित्रमोहनीयकर्मराज्ये विलयं गतं अतएव सहजचिदिष्टासलक्षणामत्यपूर्वमात्मानं शुद्धनिश्चयधर्मशुक्लध्यानद्वयेन नित्यं ध्यायति आभ्यां ध्यानाभ्यान् विहीनो द्रव्यलिंगधारी द्रव्यश्रमणो बहिरात्मेति हे शिष्य त्वं जानीहि ।

कश्चिन्मुनिः सततानिर्मलधर्मशुक्लध्यानामृते समरसे सत्तु वर्ततेऽस्ती ।  
ताभ्यां विहीनमुनिको बहिरात्मकोऽयं पूर्वोक्तयोगिनमह शरणं प्रपद्ये ॥

किञ्च । केवलं शुद्धनिश्चयनयस्वरूपमुच्यते ।

“ बहिरात्मान्तरात्मेति विकल्पः कुषियामयम् ।

सुधियां न समस्त्येष संसारमणीप्रियः ”

परमवीतरागचारित्रस्थितस्य परमतपोधनस्य स्वरूपमुक्तं—

पण्डिकमणपहुदिकिरियं कुट्वन्तो णिच्छयस्स चारितम् ।  
तेण दु विरागचरिए समणो अम्मुडिदो होदि ॥ १५२ ॥

प्रतिक्रमणप्रभृतिक्रियां कुर्वन् निश्चयस्य चारित्रं

तेन तु विरागचरिते श्रमणोऽमुत्थितो भवति ॥ १५२ ॥

यो हि विमुक्तैहिकव्यापारः साक्षादपुनर्भवकांक्षी महामुमुक्षुः परित्यक्त-  
सकलैन्द्रियव्यापारान्वाप्तिधयतिक्रमणादिसत्क्रियां कुर्वन्नास्ते, तेन काग्येन  
स्यस्वरूपविभ्रान्तिरक्षणे परमवीतरागचरित्रे स परमतपोधनस्तिष्ठति ॥ १५३ ॥

आत्मा तिष्ठत्यनुत्तमहिमा नष्टदुःशीलमोहो

यः संसारोद्भवमुत्तरः कर्ममुक्तो विमुक्तः ।

मूले शीले मलविरहिते सोयमाचारराशिः

ते व्रदेहं समरससुधासिन्धुराकाशशोकम् ॥

सकलवाग्विषयव्यापारनिरासोयम्—

वयणमयं पठिकमणं वयणमयं पञ्चस्त्राण णियमं च ।

आलोचय वयणमयं तं सञ्चं जाण सज्झाउं ॥१५३॥

वचनमय प्रतिक्रमणं वचनमयं प्रत्याख्यानं नियमश्च ।

आलोचनं वचनमयं तत्सर्वं जार्नाहि स्वाध्यायम् ॥ १५३ ॥

पाक्षिकादिप्रतिक्रमणक्रियापारणं निर्व्यापकाचार्यमुखोद्भूतं समस्त-  
पापक्षयहेतुभूतं द्रव्यश्रुतमसिद्धं वाग्वर्णनायोग्यं पुद्गलद्रव्यात्मकत्वाच्च  
ग्राह्यं भवति प्रत्याख्याननियमालोचनाच्च पौद्गलिकवचनमयत्वात्तत्सर्वं  
स्वाध्यायमिति रे शिष्य त्वं जार्नाहि इति ।

मुक्त्वा भव्यो वचनरचनां सर्वदातः समस्तां

निर्व्याणश्रीस्वनभरयुगादलेपसौख्यसूहादृचः ।

नित्यानंदाद्यतुलमहिमाधारके स्वस्वरूपे

स्थित्वा सर्वं गूणमिव जगज्जालमेको ददर्श ॥

तथा चोक्तम्—

“ परियट्ठणं च वायणं पुच्छणं अणुपेक्खणा य धम्मकहा ।

शुद्धिमंगलसंजुतो पंचविहो होवि सज्झाउ ” ॥

अत्र शुद्धनिश्चयधर्मध्यानात्मकप्रतिक्रमणादिकमेव कर्तव्यमित्युक्तम्—

जदि सज्जादि काहुं जे पठिकमणादिं करेज्ज ज्ञाणमयम् ।

सत्तिविहीणी जो जइ सहहणं चेव कायव्वम् ॥१५४॥

यदि शक्यते कर्तुम् अहो प्रतिक्रमणादिकं कर्गं च ध्यानमथ ।  
शक्तिविहीनो यावद्गतिं श्रद्धानं नैव कर्तव्यम् ॥ १९४ ॥

मुक्तिमुदगीप्रथमदर्शनप्रभुनात्मकनिश्चयप्रतिक्रमणप्रायश्चिनप्रत्याख्या-  
नप्रमुखशुद्धानिश्चयक्रियाश्चैव कर्तव्या । महानशक्तिप्रादुर्भा-  
सति एवो मुनिशार्दूल परमात्ममकरन्दनिष्पन्निमन्त्रपद्मप्रभमहज-  
रायप्रामादशिवगतिस्वामणे परदृश्य-वराहभृगुम्वदृश्यनिष्पातबुद्धेः पदे-  
न्द्रियप्रसूतवर्जितगात्रमात्रपद्मिहशक्तिर्दाना यदि उग्रकालेऽकाले केचन  
त्वया निजपरमात्मतन्त्रश्रद्धानमेव कर्तव्यमिति ।

अमारे संमारे कलिबिलामिन पाणवहने  
न मुक्तिमार्गं स्मिन्ननयजिननाथस्य भवान्  
अतोऽप्यात्म यान कथमिह भवन्निर्मलश्रियम्  
निजात्मभद्धान भवभयत्त ग्रीकृतामेदम् ।

इह हि साक्षादन्तर्मुखस्य परमाजिनयात्रिण शिष्यगणप्रदमकम्  
जिनेकथितपरममन्त्रे यानस्मरणादपि परा गतिः ।  
स्फुटमौनवनेन योगो नैव हि । १९५ ॥

श्रीमदहंमुसारविन्दविनेश १५ ॥ १९५ ॥ १९५ ॥ १९५ ॥ १९५ ॥ १९५ ॥ १९५ ॥ १९५ ॥  
शुद्धनिश्चयनयात्मकपरमात्म-यानां मकरन्द १५ ॥ १९५ ॥ १९५ ॥ १९५ ॥ १९५ ॥ १९५ ॥ १९५ ॥ १९५ ॥  
कवल स्वकार्यपर परमाजिनयात्रिण १५ ॥ १९५ ॥ १९५ ॥ १९५ ॥ १९५ ॥ १९५ ॥ १९५ ॥ १९५ ॥  
परिचर्य निविलसाद्यामम मकरन्द १५ ॥ १९५ ॥ १९५ ॥ १९५ ॥ १९५ ॥ १९५ ॥ १९५ ॥ १९५ ॥  
समन्तपशुजने निषमानोऽप्यभिन्न मन १५ ॥ १९५ ॥ १९५ ॥ १९५ ॥ १९५ ॥ १९५ ॥ १९५ ॥ १९५ ॥  
सभोगसौख्यमूलमनवात साधयेदिति ।

दित्वा भीतिं पशुजनकृतां लोकिर्भीमात्मवः  
सस्ताशस्ता वैचतुरचनो पोरुंसारकरी ।

अथ साधया भवितव्यम् ।



मुक्त्वा मोहं कनकरमर्णागोचरं चात्मनात्मा  
 स्वात्मन्येव स्थितिमविचला याति मुक्त्यै मुमुक्षुः ॥  
 भीतिं विहाय पशुभिर्मनुजैः कृतां तं  
 मुक्त्वा मुनिः सकललौकिकजल्पजालम् ।  
 आत्मप्रवादकुशलः परमात्मवेदी  
 प्राप्नोति नित्यमुसदं निजतत्त्वमेकम् ॥

वाग्विषयध्यापारनिवृत्तिहेतूपन्यासोऽयम्—

पाणार्जीवा पाणाकर्म पाणाचिह्नं हवे लब्ध्वा ।  
 तस्माद्वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो ॥ १५५ ॥  
 नानार्जीवा नानाकर्म नानाविधा भवेद्विधिः ।  
 तस्माद्वचनविवादः स्वपरसमयैर्वर्जनीयः ॥ १५६ ॥

जीवा हि नानाविधाः मुक्ता अभुक्ताः भव्या अभव्याश्च, संसारिणः ब्रह्माः  
 स्थावरा दीन्द्रियजीन्द्रियचतुरिन्द्रियसंश्लेषभेदात् पञ्च ब्रह्माः, पृथ्व्य-  
 स्तेजोवायुधनस्पतयः स्थावराः भाविकाले स्वभावानन्तचतुष्टयात्मसहज-  
 जानादिगुणैः भवनयोग्या भव्याः एतेषां विपरीता ह्यभव्याः, कर्म नाना-  
 विधम् द्रव्यभावनाकर्मभेदात्, अथवा मूलोत्तरप्रवृत्तिभेदाच्च, अथ तीव्रतरतीव्र-  
 मन्दमन्दतरोदयभेदाद्वा, जीवानां सुखादिप्रोक्तलक्षणैः कालकरणोपदेशो-  
 पदेशमप्रायोग्यताभेदात् पञ्चधा । ततः परमार्थवदिभिः स्वपरसमयेषु वैदो-  
 न कर्तव्य इति ।

विकल्पो जीवानां भवति बहुधा संसृतिकरः  
 तया कर्मनिकविधमपि सदा जन्मजनकम् ।

यदि शक्यते कर्तुम् अहो प्रतिक्रमणादिकं करोषि ध्यानमयम्  
शक्तिविहीनो यावद्यदि श्रद्धानं चैव कर्तव्यम् ॥ १५४ ॥

मुक्तिसुन्दरीप्रथमदर्शनप्राभृतात्मकनिश्चयप्रतिक्रमणप्रायश्चित्तप्रत्याह्वानप्रमुखशुद्धनिश्चयक्रियाश्चैव कर्तव्याः । संहननशक्तिप्राप्त्यसति हंहो मुनिशार्दूल परमागममकरं वनिष्यन्विमुखपद्मप्रभसहस्रराग्यप्रासादशिशिराशिसामणेः परद्रव्य-पराङ्मुखस्वद्रव्यनिष्णातबुद्धेः परेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिप्लुतशक्तिर्हानो यदि वग्धकालेऽकाले काले त्वया निजपरमात्मतत्त्वभ्रद्धानमेव कर्तव्यमिति ।

असारे संसारे कलिविलासिते पापबह्वे

न मुक्तिर्मागैश्चस्मिन्ननघजिननाथस्य भवति ।

अतोऽध्यात्मं ध्याने कथमिह भवोन्निर्मलधियाम्

निजात्मभन्दानं भवभयहरं स्वीकृतमिदम् ॥

इह हि साक्षादन्तर्मुखाय परमजिनयोगिनः शिक्षाभिः मुक्तः—

निर्देशितपरमसूत्रे प्रतिक्रमणादिकं पतीशयित्वा ।

स्फुटमौनव्रतेन योगी निजकार्यं साधयन्भित्तम् ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ श्रीमद्देवमुखाय विन्दुविनिर्गतसमस्तपदार्थगर्भाय स्वास्तुः सन्तर्भे ॥ ३५५ ॥

कृद्वादिभ्यश्च यत्तु कर्षणमात्मभ्यानात्म कर्षतिकर्मण्यप्रभृतिसादिक्रियाः ।

मुक्त्वा मोहं कनकरमणीगोचरं स्वात्मनात्मा  
 स्वात्मन्यत्र स्थितिमविचलतां याति मुक्त्यै मुमुक्षुः ॥  
 भक्तिं विहाय पशुभिर्मनुजैः कृतां तं  
 मुक्त्वा मुनिं सकललोकिं कनकनालम् ।  
 आत्मनश्चादुक्षालः परमात्मवेदी  
 प्राप्नोति नित्यमुरार्द्रं निजतत्त्वमकम् ॥

वाग्बिषयध्यापारनिवृत्तिरेतदध्यासोऽयम्—

पाणार्जीवा पाणाकृमं पाणापिहं हवे लब्धौ ।  
 तन्महा वयणविषादं सगपरसमएहिं वज्रिज्जो ॥ १५५ ॥

नानार्जीवा नानावर्गं नानाविधा भेदलब्धिः ।  
 तस्मादुचनविषादः स्वपरसमयेवर्जनीयः ॥ १५६ ॥

जीवा हि नानाविधाः मुक्ता अमुक्ताः भव्या अभव्याश्च, संसारिणः ब्रह्माः  
 स्थावरा इन्द्रियजीन्द्रियचतुरिन्द्रियसंज्ञिभेदात् पञ्च ब्रह्मा, पृथ्व्य-  
 प्लेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः भाविकाटे स्वभावान्तर्बतुहयात्मसहज-  
 ज्ञानादिगुणैः भवनयोग्या भव्याः एतेषां विपरीता अभव्याः, कर्म नाना-  
 विधम् इन्द्रियभावनोक्तमभेदात्, अथवा मूलोत्तरप्रवृत्तिभेदाच्च, अथ तीव्रतरतीव्र-  
 मंदमंदतरादयभेदाद्वा, जीवानां मुक्तादिप्राप्तैर्लब्धिः कालकरणोपदेशो-  
 पक्षमप्रायोग्यताभेदात् पञ्चधा । ततः परमार्थवेदिभिः स्वपरसमयेषु वेदो  
 न कर्तव्य इति ।

विकल्पो जीवानां भवति बहुधा संसृतिकरः  
 तथा कर्मानेकविधमपि सदा जन्मजनकम् ।

असौ लब्धिर्नाना विमलजिनमार्गे हि विदिता  
ततः कर्तव्यं नो स्वपरसमयैर्वाद्बचनम् ॥

अत्र दृष्टान्तमुखेन सहजतत्त्वाराधनाविधिरुक्तः ।

लब्धुं णिहि एको तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्तं ।  
तह णाणी णाणाणिहिं भुंजेइ चइत्तु परत्तत्तिम् ॥१५॥

लब्ध्वा तु निधिमैकस्तस्य फलमनुभवति सुजनत्वेन ।

तथा ज्ञानी ज्ञाननिधिं भुंक्ते त्यक्त्वा परततिम् ॥ १५॥

कश्चिदेकां इन्द्रिः कचित् कदाचित् सुहृतोदयेन निधिं लब्ध्वा तत्र  
निधेः फलं हि सौजन्यम् जन्मभूमिरिति रहस्ये स्थाने स्थित्वा अतिगूढम्  
नुभवति इति दृष्टान्तपक्षः; दार्ष्टान्तपक्षेऽपि सहजपरमतत्त्वज्ञानी ईदृ  
कश्चिदासन्नभव्योदयस्य गुणोदये सति सहजवैराग्यसम्पत्तौ सत्यम् एव  
गुरुचलननलिनयुगलनिरतिशयभक्त्या मुक्तिं १५  
सहजज्ञाननिधिं परिग्राह्य परोषां जनानां स्वरूपविकलानां तर्ति  
ध्यानवत्पुहकागणमिति त्यजति ॥

अस्मिन् लोके लौकिकः कश्चिदेकः

लब्ध्वा पुण्यात् कंचनानां समूहम् ।

गृह्ये भूत्वा वर्तते त्यक्तसंगो

ज्ञानी तद्वत् ज्ञानगतां करोति ॥

त्यजता संगं जननमरणात्कहेनु समस्तं

कृत्वा बुद्ध्या इदमकमले पूर्णवैराग्यभावम् ।

स्थित्वा शून्या सहजपरमानन्दनिर्व्ययरूपे

शीते मंदि तूष्णमिव सदा लोकमालोकयामः ॥

एवमावश्यकधिकारोपात्तान्वासीदप --

सन्त्ये पुराणपुरिसा एवं आवासयं य काऊण ।

मयमत्तपहुदिठाणं पत्तिवज्ज य केपली जादा ॥ १५७ ॥

सर्वे पुराणपुरिया एवमावश्यकं य कृत्वा ।

भयमत्तपहुदिठाणं पत्तिवज्ज य केपलिनो जाता ॥ १५७ ॥

स्वात्माभयनिधयधर्मदुःखानवरूपम् स्वात्मावश्यकधिकारोपात्तान्वासीदप-  
हकादिदुःखनिधयधर्मदुःखम् साक्षात्पुनर्भवकारिणादुभयकारणं कृत्वा  
तर्हे पुराणपुरियास्तर्हिपरमदेवावश्यः स्वयं बुद्धाः केचिद् बोधितबुद्धा-  
न्वाप्तवतादिमयाभिभूतारकगुणस्थानरतिमध्याह्नाः सन्तः केवटिनः  
सकनमन्यज्ञानधराः परमावश्यकमात्राभनाप्रसादात् जाताश्चेति ।

स्वात्माभयनया पुराणपुरियाः सर्वे पुरा योगिन-  
रुप्यस्तासिद्धकर्मतास्तस्यन्त ये शिष्यवो जिम्ववः ।  
साक्षित्वं मयमन्यनन्यमनसा मुक्तिसूतो निरुहा  
य स्यात् सर्वजनार्थिनः प्रिकमट्ट पापाटरीपावक ॥

मुक्ता मोहं कनकरमणीगोचरं हेयरूपम्  
नित्यानन्दं निरुपमगुणाट्टकृतं दिध्यमोहय ।

धेतः शीघ्रं शक्ति परमात्मानमव्ययम्  
लब्ध्वा धर्म परमगुह्यतः हार्मणे निर्देष्टाय ॥

इतिमुक्तिजनपद्योजनित्वंयेदियसुवर्जितमात्रमावपरिमर्धपिप्रयभ-  
मलधार्मिहयविधितापो नियमसारम्याह्वार्पा तात्पर्यहो  
निधयपरमावश्यकधिकार एकावृत्तमा भुतस्कन्ध ॥ ११ ॥

असौ लब्धिर्नाना विमलजिनमार्गे हि विदिता  
ततः कर्तव्यं नो स्वपरसमयेर्वावचनम् ॥

अत्र दृष्टान्तमुक्तेन सहजतत्त्वाराधनाविधिः ।

लब्धुं णिहि एको तस्स फलं अणुहवेइ मुजणत्तं ।  
तह णाणी णाणणिहिं भुंजेइ चइत्तु परत्तत्तिम् ॥ १५६ ॥

लब्ध्वा तु निधिमैकस्तस्य फलमनुभवति मुजनत्वेन ।

तथा ज्ञानी ज्ञाननिधिं भुंक्ते त्यक्त्वा परतत्तिम् ॥ १५६ ॥

कश्चिदेकां दरिद्रः कश्चित् कदाचित् सुकृतोदयेन निधिं लब्ध्वा तस्य  
निधेः फलं हि सौजन्यम् जन्मभूमिरिति रहस्ये स्थाने स्थित्वा अतिगूढवृत्त्या-  
नुभवति इति दृष्टान्तपक्षः; दार्ष्टान्तपक्षेऽपि सहजपरमतत्त्वज्ञानी जीवः  
कश्चिदासन्नभ्योदयस्य गुणोदये सति सहजवैराग्यसम्पत्तौ सत्यम् पश्य-  
गुरुचलननलिनयुगलनिरतिशयमकथ्यं मुक्तिमुन्दरीमुसमकरन्दायमाने  
सहजज्ञाननिधिं पश्याप्य परेषां जनानां स्वरूपविकलानां तर्ति सन्तुष्टं  
ध्यानप्रत्युहकारणमिति त्यजति ॥

अस्मिन् लोके लौकिकः कश्चिदेकः

लब्ध्वा पुण्यात् कंचनानां समूहम् ।

गृहं भूत्वा वर्तते त्यक्तमगां

ज्ञानी तद्वत् ज्ञानरक्षां करोति ॥

न्यनरा संगं जननमरणातद्धर्तुं समस्तं

कृत्वा बुद्ध्या हृदयकमले पूर्णवैराग्यभाषम् ।

स्थित्वा शूराया सहजपरमानन्दनिर्यमरूपं

धौमे मांते दृग्मिमे सदा लोकमात्रोदयामः ॥

परमावश्यककाधिकारोपसंहारोपन्यासोयम्—

सर्वे पुराणपुरिसा एवं आवासयं य काऊण ।

अपमत्तपहुदिठाणं पडिवज्ज य केवली जादा ॥ १५७ ॥

सर्वे पुराणपुरुषा एवमावश्यकं च कृत्वा ।

अप्रमत्तप्रभृतिस्थानं प्रतिपद्य च केवलिनो जाताः ॥ १५७ ॥

स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मशुद्ध्यानिस्वरूपम् बाह्यावश्यकदिक्रियाप्रतिप-  
क्षकादिशुद्धनिश्चयपरमावश्यकम् साक्षादपुनर्भववागंगनाद्वमुसकारणं कृत्वा  
सर्वे पुराणपुरुषास्तीर्थंकरपरमदेवादयः स्वयं बुद्धाः केचिद् बोधितबुद्धा-  
भ्याप्रमत्तादिमयोगिमटारकगुणस्थानपंक्तिमध्याख्याः सन्तः केवलिनः  
सकलप्रत्यक्षज्ञानधराः परमावश्यककात्मारोपनाप्रसादात् जाताश्चेति ।

स्वात्मारोपनया पुराणपुरुषाः सर्वे पुरा योगिनः  
प्रवृत्तास्तिलकर्मराक्षसगणा ये विष्णवो जिष्णवः ।  
ताभित्यं प्रणमन्त्यनन्यमनसा मुक्तिस्पृहो निस्पृहाः  
स स्यात् सर्वजनार्चितांशिकमलः पापाटर्वापावक ॥

मुक्त्वा मोहं कनकरमणीगोचरं हेयरूपम्  
नित्यानन्दं निस्पृगगुणालंकृतं दिव्यमोहम् ।

चेतः शीघ्रं प्रविश परमात्मानमव्ययरूपं  
लब्ध्वा धर्मं परमगुह्यतः शर्मणे निर्मलाय ॥

इतिमुक्तविजयनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिमहर्षीपद्मप्रभ-  
मलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ  
निश्चयपरमावश्यककाधिकार एकादशमः भुतस्कन्धः ॥ ११ ॥

अथ सकलकर्मफलहेतुभूतशुद्धोपयोगाधिकार उच्यते ।

अत्र ज्ञानिनः स्वपरस्वरूपप्रकाशकत्वं कथंचिदुक्तं:—

जाणदि पस्सदि सच्चं ववहारणएण केवली मगवं ।  
केवल्लणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥१५८॥

जानाति पश्यति सर्वं व्यवहारनयेन केवली भगवान् ।

केवलज्ञानी जानाति पश्यति नियमेन आत्मानम् ॥ १९८ ॥

आत्मगुणपातिर्द्धमध्वंसनेनासादितसकटाविमलकं रत्नज्ञानकं रत्नदर्शनाभ्यान् व्यवहारनयेन जगद्वयकालत्रयवर्तिसचराचरद्रव्यगुणरूप्याणां एकस्मिन् समये जानाति पश्यति च, न भगवान् परमेश्वरः परमभूतः, पराश्रितो व्यवहारः, इति वचनात्, शुद्धनिश्चयतः परमेश्वरस्य महादेवाधिदेवस्य सर्वेश्वरीतरागस्य परद्रव्यमाहकत्वदर्शकत्वज्ञापकत्वादि-विधिधरिद्रव्यवादिनीसमुद्भूतमूलध्यानावादाः, स भगवान् त्रिकालनि-रुपाधिनिरवधिनिर्त्यगुद्भूतसहजज्ञानमहजदर्शनाभ्यो निजकायणपद्मात्मानं स्वयं कार्यपद्मात्मापि जानाति पश्यति च । ईं हृत्मा । ज्ञानधर्मोयं तारव स्वयमकाशकत्वं प्रदीपयत् । घटादिप्रमितेः प्रकाशो दीपस्ताम्रिभोगे स्वयं प्रकाशस्वरूपत्वात् स्त्री परं च प्रकाशयति । आत्मापि व्यवहारेण जगद्वय कालत्रयं च परं ज्योतिःस्वरूपत्वात् स्वयमकाशात्मकमात्मानं च प्रकाशयति । उक्तं च दण्डवर्तितपापेर्दिविजयोपाधिमतविशाऽऽतीतिभिर्महामेन-पण्डितैर्दृष्टः—“यथावद्वस्तुनिर्णीतिः सम्यग्ज्ञानं प्रदीपयत् । तत्सार्थं यस्मादात्मा कथाचिद् प्रमितः पुष्यः ॥” अथ निश्चयपक्षेऽपि स्वयमका-शकत्वमस्येति सत्तत्तन्निश्चयमनिरजनस्वभावनिगतात्वात् स्वाश्रितो निश्च-यवचनात् । सहजज्ञानं तावत् ज्ञाननः सकाशात् मेकादक्षणाप्रयोजनेन निश्चयनिर्णयनाच्च लक्षणलक्षितमपि निश्चयमपि न वस्तुतया चेति अत्र कायगात्



एतदात्मगतदर्शनमुत्तच्छास्त्रादिकं जानाति स्वात्मानं कारणपरमात्मस्वरू-  
पमपि जानातीति । तथाचोक्तम् श्रीमद्भुवनेन्द्रसूत्रिभिः—

बन्धच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेतत्  
नित्योपोतं स्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धं ।  
एकाकारं स्वस्मभरतोत्पन्तगभीरधीरं  
पूर्णज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य टीनं महिम्नि ॥

तथाहि—

आत्मा जानाति विश्वं ह्यनवरतमयं केवलज्ञानमूर्तिः  
मुक्तिश्रीकामिनीकोमलमुसकमले कामपीडां तनोति ।  
शोभां सौभाग्यचिन्तां व्यवहरणनयादेवदेवो जिनस्ते  
तेनोच्चैर्निर्भयेन प्रहतमलकलिः स्वस्वरूपं स वेति ।

इह हि केवलज्ञानकेवलदर्शनयोर्युगपद्वर्तनं दृष्टान्तमुखेनोक्तं—

युगवं घट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दंसणं च तथा ।  
दिणयरपयासतापं जह घट्टइ तह मुणेयव्वम् ॥ १५९ ॥

युगपद् वर्तते ज्ञानं केवलज्ञानिनो दर्शनं च तथा  
दिनकरप्रकाशतापो यथा वर्तते तथा ज्ञानव्यम् ॥ १५९ ॥

अत्र दृष्टान्तपक्षे कचित्काले बलाहकप्रेक्षाभाभावे विद्यमाने नमस्तथलस्य  
मध्यगतस्य सहस्रकिरणस्य प्रकाशतापो यथा युगपद् वर्तते तथैव च मग-  
धतः परमेश्वरस्य तीर्थनाथस्य जगत्प्रवर्तिषु स्थावरजंगमद्रव्यगुणपरम्या-  
त्मकेषु शेषेषु सकलविमलकेवलज्ञानकेवलदर्शने च युगपद् वर्तते । किं च  
संसारिणां दर्शनपूर्वमेव ज्ञानं भवति इति । तथाचोक्तं प्रवचनसार—

“ पाणं अत्यंतगयं लोयालोयमु वित्थडा दिडी ।  
णद्धमणिद्धं सव्वं इद्धं पुण जं तु तं उद्धर ॥ ”

अन्यच्च

“ वंसणपुव्वं पाणं छद्धमत्थाणं पि दोष्णि उवओग्गा ।  
जुगव्वं जम्हा केवल्लिणाहे जुगव्वं तु ते दोवी ॥ ”

तथाहि

वर्तेति ज्ञानदृष्टी भगवति सततं धर्मतीर्थाधिनाथे  
सर्वश्रेष्ठस्मिन् समंतात् युगापदसदृशे विश्वलोकैकनाथे ।  
एतावुष्णप्रकाशौ पुनरपि जगतां लोचनं जायतेऽस्मिन्  
तेजोराशौ दिनेशे हतनिखिलतमस्तोनके ते तथैव ॥

सद्बोधपोतमधिरूढ भवाम्बुराशि—

मुह्यंघ्य शास्वतपुरी सहसा त्वयाप्ता ।  
तामेव तेन जिननाथपयाधुनाहं  
याम्यन्यदास्ति शरणं किमिहोत्तमानां ॥  
एको देवः स जयति जिनः केवलज्ञानभानुः  
कामं कान्तिं वदनकमले संतनोत्येव कांचित् ।  
मुक्तेस्तस्याः समरसमयानंगसौस्त्र्यप्रदायाः  
कोनालं संदिशतुमनिशं प्रेमभूमेः प्रियायाः ॥  
जिनेन्द्रो मुक्तिकामिन्याः मुक्तपद्मे जगाम सः ।  
अलिर्लीलां पुनः काममनद्बुधसमदयन् ॥

आत्मनः स्वपरप्रकाशकत्वविरोधोपन्यासोऽयम्—

पाणं परप्पयासं दिदि अप्पप्पयासया चेव ।  
अप्पा सपरपयासो होदिचि हि मण्णसे जदिहि ॥१६०॥

ज्ञानं परप्रकाशं दृष्टिरात्मप्रकाशिका चैव ।

आत्मा स्वपरप्रकाशो भवतीति हि मन्यसे यदि खलु ॥ १६० ॥

इह हि तावदात्मनः स्वपरप्रकाशकत्वं कथमिति चेत् । ज्ञानदर्शनादि-  
विशेषगुणसमुद्भो ह्यात्मा, तस्य ज्ञानं शुद्धात्मप्रकाशसमर्थत्वात् परप्रका-  
शमेव, एतेवं दृष्टिर्निर्कुशा केवलमभ्यन्तरे ह्यात्मानं प्रकाशयति चेत्  
अनेन विधिना स्वपरप्रकाशको ह्यात्मेति हंहो जटमते प्राथमिकाशिष्य,  
दर्शनशुद्धेरभावात् एवं मन्यसे, न खलु जडस्त्वत्तत्सकाशादपरः कश्चि-  
नः । अथ ह्यविरुद्धा स्यादादविद्यादेवता समभ्यर्चनीया सद्भिरनवरतं  
तत्रैकान्ततो ज्ञानस्य परप्रकाशकत्वं न समस्ति, न केवलं, स्यान्मतं  
दर्शनमपि शुद्धात्मानं पश्यति दर्शनज्ञानप्रभृत्यनैकधर्माणामाधारो ह्यात्मा  
व्यवहारपक्षेऽपि केवलं परप्रकाशकस्य ज्ञानस्य न जात्यसंबन्धः (?)  
सदा बहिरवस्थितत्वात् आत्मशक्तिपत्तेरभावात् स सर्वगतत्वं (?) अतः-  
कारणादिदे ज्ञानं न भवति मृगवृष्णाजलवत्, प्रतिभासमात्रमेव दर्शनपक्षेऽपि  
तथा न केवलमभ्यन्तरप्रतिपत्तिकारणं दर्शनं भवति । सर्वैव सर्वं पश्यति  
हि चक्षुः स्वस्याभ्यन्तरस्थितां कर्त्तृनिकां न पश्यत्येव अतः स्वपरप्रकाश-  
कत्वं ज्ञानदर्शनयोरविरुद्धमेव, ततः स्वपरप्रकाशको ह्यात्मा ज्ञानदर्शन-  
लक्षण इति ।

तथाचोक्तं श्रीमद्भूतचन्द्रसूत्रिभिः—

ज्ञानमन्येष विभवं युगपदपि भवद्भाविभूतं समस्तं  
मोहाभावापदात्मा परममति परं नैव निर्लूनकर्म ॥

तेनास्ते मुक्त एव प्रसभविकसितशक्तिविस्तारनीता  
सेवाकारां त्रिलोकीं शृङ्गारयित्वा योतयन् ज्ञानमूर्तिः ॥

तथाहि—

ज्ञानं तावत् सहजपरमात्मानमेकं विदित्वा  
 ठोकाढोको प्रकटयति वा तद्वत् ज्ञेयजालम् ।  
 दृष्टिः साक्षात् स्वपरविषया क्षायिकी नित्यशुद्धा  
 ताभ्यां देवः स्वपरविषयं बोधति ज्ञेयराशिम् ॥

पूर्वसूत्रोपात्तपूर्वपक्षस्य सिद्धान्तोक्तिरियं—

णाणं परप्पयासं तइया णाणेण दंसणं भिण्णम् ।  
 ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ॥१६॥

ज्ञानं परप्रकाश तदा ज्ञानेन दर्शनं भिन्नम् ।

न च भवति परद्रव्यगतं दर्शनमिति वर्णितं तस्मात् ॥१६॥

केवलं परप्रकाशकं यदि चेत् ज्ञानं तदा परप्रकाशकप्रधानेनानेन ज्ञानेन दर्शनं भिन्नमेव । परप्रकाशकस्य ज्ञानस्य दर्शनस्य च कथं सम्बन्ध इति चेत् सहाविध्ययोरिव अथवा भागीरथीश्रीपर्वतवत्, आत्मानिष्ठं यत् तद् दर्शनमस्त्येव निराधारत्वात् तस्य ज्ञानस्य शून्यतापत्तिरेव, अथवा यत्र तत्र गतं ज्ञानं तत्तद्द्रव्यं सर्वं चेतनत्वमापयते अतस्त्रिभुवने न काश्चिदचेतनः पदार्थः इति महतो दूषणस्यावतारः । तदेव ज्ञानं केवलं न परप्रकाशकम् इत्युच्यते हे शिष्य तर्हि दर्शनमपि न केवलमात्मगतमित्याभिहितम्, ततः स्वत्वमेव समाधानम् सिद्धान्तद्वयं ज्ञानदर्शनयोः कथंचित् स्वपरप्रकाशत्वमस्त्येवेति ।

तथाचोक्तम् श्रीमहासेनपण्डितदेवैः—

ज्ञानाद्भिन्नो न नाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथंचन ।

ज्ञातं पूर्वापरीभूतं सोऽयमारमेति कीर्तितः ।

तथाहि—

आत्मा ज्ञानं भवति न हि वा दर्शनं चेन्न तद्वत्  
ताभ्यां युक्तः स्वपराविषयं वेत्ति पश्यत्यवश्यम् ।  
संशोभेदादृषकुलहरे चात्मनि ज्ञानदृष्टयोः  
भेदो जातो न सत्तु परमार्थेन वाद्गुण्यवत्स ॥

एकान्तेनात्मनः परप्रकाशकत्वनिरासोऽयम्—

अप्या परप्पयासो तद्वया अप्येण दंसणं भिण्णं ।  
ण हवदि परद्रव्यगओ दंसणमिदि वणिणदं तम्हा ॥१६२॥

आत्मा परप्रकाशस्तदात्मना दर्शनं भिन्नम् ।

न भवति परद्रव्यगतं दर्शनमिति वर्णितं तस्मात् ॥ १६२ ॥

यथैकान्तेन ज्ञानस्य परप्रकाशकत्वं पुरा निराकृतं, इदानीमात्मा केवलं  
परप्रकाशश्चेत् तत्तदेव प्रत्यादिष्टं भावाभावेदेतयोरेकास्तित्वनिर्वृत्त्यात् :  
पुरा किञ्च ज्ञानस्य परप्रकाशकत्वे सति तद्दर्शनस्य भिन्नत्वं जातं । अत्रात्मना  
परप्रकाशत्वे सति तेनेव दर्शनं भिन्नमित्यवसेयम् । अपि चात्मनः पर-  
द्रव्यगत इति चेत् तद्दर्शनमप्यभिन्नमित्यवसेयम् । ततः सत्त्वात्मा स्वप्न-  
प्रकाशक इति यावत्, यथाकथंचित्स्वपरप्रकाशकत्वं ज्ञानस्य साधितम् ।  
अस्यापि तथा, धर्मधर्मिणोरेकरूपत्वात् पावकोष्णवदिति ।

आत्मा धर्मी भवति सुतरां ज्ञानद्वधर्मयुक्तः

तस्मिन्नेव स्थितिमविचलां तौ परिग्राप्य नित्यं ।

सम्यग्दृष्टिर्निर्विलक्षणमामनीहारभावनम्

मुक्तिं याति स्फुटितसहजावस्थया सस्थितानो ॥

व्यवहारनयस्य सफलत्वमद्योतनकथनम्—

णार्णं परप्पयासं व्यवहारणयेण दंसणं तम्हा ।  
अप्या परप्पयासो व्यवहारणयेण दंसणं तम्हा ॥१६३॥

तथाहि—

ज्ञानं तावत् महजपरमात्मानमेकं विदित्वा  
लोकालोकौ प्रकटयति वा तद्वत् शेषजालम् ।  
दृष्टिः साक्षात् स्वपरविषया क्षायिकी नित्यशुद्धा  
ताभ्यां देवः स्वपरविषयं बोधति शेषगाशिन् ॥

पूर्वमूत्रोपात्तपूर्वपक्षस्य सिद्धान्तोक्तिरियं—

णाणं परप्पयासं तइया णाणेण दंसणं भिण्णम् ।  
ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ॥१६१॥

ज्ञान परप्रकाश तदा ज्ञानेन दर्शनं भिन्नम् ।

न च भवति परद्रव्यगतं दर्शनमिति वर्णितं तस्मात् ॥१६१॥

केवल परप्रकाशकं यदि चेत् ज्ञानं तदा परप्रकाशकप्रधानेनानेन ज्ञानेन दर्शनं भिन्नमेव । परप्रकाशकस्य ज्ञानस्य दर्शनस्य च कथं सम्बन्ध इति चेत् सहाविध्ययोरिव अथवा भागीरथीश्रीपर्वतवत्, आत्मनिष्ठं च तद् दर्शनमस्त्येव निराधारत्वात् तस्य ज्ञानस्य शून्यतापात्तिरेव, अथ यत्र तत्र गतं ज्ञानं तत्तद्द्रव्यं सर्वं चेतनत्वमापयते अतस्त्रिभुजं न कार्ष्णदचेतनः पदार्थः इति महतो द्रुपणस्यावतारः । तदेव ज्ञानं केवलं न परप्रकाशकम् इत्युच्यते हे शिष्य तर्हि दर्शनमपि न केवलमात्मगतमित्याभिहितम्, ततः सत्त्विदमेव समाधानम् सिद्धान्तद्वयं ज्ञानदर्शनयोः कथंचित् स्वपरप्रकाशत्वमस्त्येवेति ।

तथाचोक्तम् श्रीमहासेनपंडितदेवेः—

ज्ञानाद्भिन्नो न नाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथंचन ।

ज्ञातं पूर्वापरीभूतं सोऽयमात्मेति कीर्तितः ।

ज्ञानमात्मप्रकाशं निश्चयनयेन दर्शनं तस्मात् ।

आत्मा आत्मप्रकाशो निश्चयनयेन दर्शनं तस्मात् ॥ १६४ ॥

निश्चयनयेन स्वप्रकाशकत्वलक्षणं शुद्धज्ञानमिदमभिहितं तथा सकला-  
वरणप्रमुक्तशुद्धदर्शनमपि स्वप्रकाशकपरमेव । आत्मा हि विमुक्तसकलेन्द्रि-  
यव्यापारत्वात् स्वप्रकाशकत्वलक्षणलक्षित इति यावत् । दर्शनमपि विमुक्त-  
बहिर्विषयत्वात् स्वप्रकाशकत्वप्रधानमेव इत्थं स्वरूपप्रत्यक्षलक्षणलक्षिताक्षुण्ण-  
सहजज्ञानशुद्धदर्शनमयत्वात् निश्चयेन जगद्व्यकाशत्रयवर्तिस्थावरजंगमा-  
त्मकसमस्तद्रव्यगुणपर्य्यायविषयेषु आकाशाप्रकाशकादिविकल्पविदूरस्सत्  
स्वस्वरूपे संशालक्षणं प्रकाश्य प्रकाशते, या निरवशेषेणान्तर्मुसत्वादनवरतम्  
असंहर्तृत्वैतच्चिन्मत्कारमूर्तिरात्मा तिष्ठतीति ।

आत्मा ज्ञानं भवति नियतं स्वप्रकाशात्मकं या

दृष्टिः साक्षात् प्रहतबहिरालंबना सापि चेषः ॥

एकाकारस्वरसविसरापूर्णपुण्यः पुराणः

स्वस्मिन्नित्यं नियतवसतिर्निर्विकल्पे महिम्नि ॥

शुद्धनिश्चयनयविवक्षया परदर्शनत्वनिरासोऽयम् —

अप्पसरूवं पेच्छदि लोपालोपं ण केवली भगवं ।

जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ ॥ १६५ ॥

आत्मस्वरूपं पश्यति लोकालोकौ न केवली भगवान् ॥

यदि कोपि भणत्वेव तस्य च किं दूषणं भवति ॥ १६५ ॥

प्यवहारेण पुद्गलाद्विकालविषयद्रव्यगुणपर्य्यायैकसमयपरस्थितिसमर्थन-  
सकलविमलकंबलावबोधमयत्वादिविविधमहिमाधारोऽपि स भगवान् कंबल-  
दर्शनवृत्तीयलोचनोऽपि परमनिरपेक्षतया निःक्षयतोऽन्तर्मुसत्वात् कंबलस्वरूप-

ज्ञानं परप्रकाशं व्यवहारनयेन दर्शनं तस्मात् ।

आत्मा परप्रकाशो व्यवहारनयेन दर्शनं तस्मात् ॥ ११३ ॥

इह सकलकर्मक्षयप्रादुर्भावासादितसकलविमलकेवलज्ञानस्य पुद्ग-  
दिमूर्तामूर्तचेतनाचेतनपरद्रव्यगुणपरार्थप्रकरप्रकाशकत्वं कथमिति चे  
“ पराश्रितत्वे व्यवहारः ” इति वचनात् व्यवहारनयवलेनेति ।  
ततो दर्शनमापि तादृशमेव । त्रैलोक्यप्रज्ञानहेतुनूततीर्थप्रपन्नदेव्य  
शतमसशतप्रत्यक्षबन्धनायोग्यस्य कार्यपरमात्मनश्च तद्वदेव परका-  
शकत्वं । तेन व्यवहारनयवलेन च तस्य खलु भगवतः केवलदर्शनमस्ति  
तादृशमेवेति ॥

तथाचोक्तं श्रुतजन्यो—

“ जयति विजयदोषोऽप्रत्यमत्येन्द्रमौलि-  
प्रविलसदुरुमाटाभ्यर्चितांभिर्जिनिन्द्रः ।

विजगद्जगती यस्येदृशो व्यनुवाते

सममिव विषमेधन्योन्यवृत्तिं निषेदुन् ॥ ”

तथाहि—

व्यवहारनयेन ज्ञानपुंजोऽयमात्मा

प्रकटतरमुदृष्टिः सर्वलोकप्रदर्शी ।

विदितसकलमूर्तामूर्ततत्त्वार्थसार्थः

स भवति परमर्थाङ्गाभिर्नीकामरूपः ॥

निधयस्वरूपाननेनतः—

पापं अप्यप्यासं पिच्छयणयण वंसणं तम्हा ।

अप्या अप्यप्यासो पिच्छयणयण वंसणं तम्हा ॥ ११४ ॥



ज्ञानमात्मप्रकाशं निश्चयनयेन दर्शनं तस्मात् ।

आत्मा आत्मप्रकाशो निश्चयनयेन दर्शनं तस्मात् ॥ १९४ ॥

निश्चयनयेन स्वप्रकाशकत्वलक्षणे शुद्धज्ञानमिदमभिहितं तथा सकला-  
वरणान्मुनः शुद्धदर्शनमपि स्वप्रकाशकपरमेव । आत्मा हि विमुक्तसकलेन्द्रि-  
यव्यापारत्वात् स्वप्रकाशकत्वलक्षणलक्षित इति यावत् । दर्शनमपि विमुक्त-  
बहिर्विषयत्वात् स्वप्रकाशकत्वप्रधानमेवात्र स्वस्वरूपप्रत्यक्षलक्षणलक्षितानु-  
सङ्गज्ञानशुद्धदर्शनमपत्त्वात् निश्चयेन जगद्व्यकाशव्यवर्तिस्थावरजगमा-  
त्मकसमस्तद्रव्यगुणवर्षाविवर्षेषु आकाशाप्रकाशाकादिविकल्पविदूषण-  
स्वस्वरूपं संशालक्षणे प्रकाश्य प्रकाशते, या निरवशेषान्तर्मुक्तत्वादनन्तरम्  
असंदादेतच्चिदमन्कारमूर्तिरात्मा तिष्ठतीति ।

आत्मा ज्ञानं भवति नियतं स्वप्रकाशात्मकं या  
दृष्टिः साक्षात् महत्बहिरालम्बना सापि क्षेपः ॥

एककारस्वरसविसरापूर्णपुण्यः पुराणः  
स्वास्मिन्नित्यं नियतवसतिर्निर्विकल्पे महिम्नि ॥

शुद्धनिश्चयनयविवक्षया परदर्शनत्वनिरासोऽयम्—

अप्पसरूवं पेच्छदि लोयालोयं ण केवलीं भगवं ।  
जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूषणं होइ ॥ १९५ ॥

आत्मस्वरूपं पश्यति लोकात्लेकी न केवली भगवान् ॥  
यदि कोपि भणत्वेवं तस्य च किं दूषणं भवति ॥ १९५ ॥

व्यवहारेण पुद्गलादिविकाशविषयद्रव्यगुणवर्षाविवर्षाविकसमव्यपारस्थितिसमर्थन-  
सकलविमलकेवलावबोधमयत्वादिविविधमहिमाभागेऽपि स भगवान् केवल-  
दर्शनतृतीयलोचनोऽपि परमनिरपेक्षतया निःशेषतोऽन्तर्मुक्तत्वात् केवलस्वरूप-

प्रत्यक्षमात्रव्यापारनिर्गतनिरंजननिजसहजदर्शनेन सच्चिदानन्दमयनाला  
निश्चयतः पश्यतीति शुद्धनिश्चयनयविवक्षया यः कोपि शुद्धान्तस्तत्त्वे  
परमजिनयोगीश्वरो वक्ति तस्य च न रालु दूषणं भवतीति ।

पश्यत्यात्मा सहजपरमात्मानमेकं विशुद्धं  
स्वान्तःशुद्ध्यावसथमहिमाधारमत्यन्तवीरं ।  
स्वात्मन्युच्चैरविचलतया सर्वदान्तर्निमग्नं  
तस्मिन्नेव प्रकृतिमहति व्यावहारप्रपञ्चः ॥

केवलबोधस्वरूपाख्यानमेतत्—

मुत्तममुत्तं द्रव्यं चेयणामियरं सगं च सव्यं च ।  
पच्छंतस्स दु णाणं पच्चक्खमणिंदियं होइ ॥ १६६ ॥

मूर्तममूर्तं द्रव्यं चेतनमितरत् स्वकं च सर्वं च ।  
पश्यतस्तु ज्ञानं प्रत्यक्षमतीन्द्रियं भवति ॥ १६६ ॥

पण्णां द्रव्याणां मध्ये मूर्तत्वं पुद्गलस्य, पञ्चानाम् अमूर्तत्वम् चेतनत्वं जी-  
वस्यैव पञ्चानामचेतनत्वम्, मूर्तामूर्तचेतनाचेतनस्वद्रव्यादिकमशेषम् त्रिकाल-  
विषयम् अनवरतम् पश्यतो भगवतः श्रीमद्ब्रह्मपरमेश्वरस्य क्रमकरणव्यवधाना-  
पोढं चातीन्द्रियं च सकलविमलकेवलं ज्ञानं सकलप्रत्यक्षं भवतीति ।

तथा चोक्तं प्रवचनसारे—

“ नं पच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अइदियं च पच्छण्णम् ।  
सयलं सगं च इदर तण्णाणं हइ पचवरम् ”

तथाहि—

सम्यग्वर्ती त्रिभुवनगुरुः शाश्वतानन्तधामा  
लोकालोकी स्परमसिलं चेतनाचेतनं च ।

तार्थं यच्चयनमपि केवलज्ञानसंशय  
तेनैवायं विदितमहिमा तीर्थनाथो निनेन्द्रः ॥

अत्र केवलद्वैतभावात् सकलज्ञत्वं न समस्तीत्युक्तम्—

पुष्पुत्तसयलद्रव्यं पापागुणपञ्चएण संजुत्तम् ।  
जो ण य पेच्छइ सम्मं परोखदिढी हये तस्स ॥ १६७ ॥

पूर्वोक्तसकलद्रव्यं नानागुणपर्यायेण संयुक्तम् ।  
यो न य पश्यति सम्यक् परोक्षदृष्टिर्भवेत्तस्य ॥ १६७ ॥

पूर्वभूतोपासमूर्तादिद्रव्यं समस्तगुणपर्यायात्मकं, मूर्तस्य मूर्तगुणाः  
अचेतनस्याचेतनगुणाः अमूर्तस्यामूर्तगुणाः चेतनस्य चेतनगुणाः पद्मानि-  
बुद्धिरूपाः सूक्ष्माः, परमागमशामाण्याद्भ्युपगम्याः अर्धपर्यायाः क्षणा  
द्रव्याणां साधारणाः नरनारकादिव्यंजनपर्याया जीवानां पञ्चसत्तरप्रपंचा-  
नो, पुद्गलानां स्फुलस्फुलादिस्कन्धपर्यायाश्च, चतुर्णां धर्मादीनां शुद्धपर्याया-  
भावेति, एभिः संयुक्तं तद्रव्यजालं यः खलु न पश्यति तस्य संसारिणामिदं  
परोक्षदृष्टिरिति ।

यो नैव पश्यति जगद्यमंकदेव, कालत्रयं च तस्मा सकलज्ञमानी ।  
अत्यक्षदृष्टिरतुला न हि तस्य नित्यं, सर्वज्ञता कथमिहास्य जटात्मनः स्यात् ॥

व्यवहारनयमादुर्भोरकधनमिदम्—

लौयालोयं जाणइ अप्पाणं णैव केवली भगवं ।  
जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किल दूषणं होवि॥१६८॥  
लौकालोकौ नानात्यात्मानं नैव केवली भगवान् ।  
यदि कोऽपि भणति एवं तस्य च किल दूषणं भवति ॥१६८॥

महन्मविमलकेन्द्रज्ञानत्रिनयनोग्नौ भगवान् अनुभवंस्त्वन्नीचकान्ति-  
जीवितेशः पदद्वयसंकीर्णलोकत्रयं शुद्धाकाशमात्राद्योऽहं च जानते  
“पराभितो व्यवहारः” इतिमानात् व्यवहारेण व्यवहारमनन्तरं नि-  
परागशुद्धात्मस्वरूपं नेत्र जानाति यदि व्यवहारमयविक्षया कोपि दिन-  
नाथनर्थावधारणः ( वक्षः ) इत्यादिदेव वक्ति चेत् तस्य मनु व-  
द्वरणमिति ॥ तथाचोक्तं श्रीमयन्नभद्रम्यामिभिः—

“स्थितिजननविरोधलक्षणं, चमत्कारं च जगत्प्रतिक्षणम् ।  
इति जनमकलज्ञानोत्थनं, वचनमिदं वदतावरस्य ते ॥”

तथाहि—

जानातिद्वेष्टमासिद्धं सलु तीर्थनाथः  
स्वात्मानमेकमनघं निजसौख्यनिष्ठम् ।  
नो वेति सोयमिति तं व्यवहारमार्गात्  
वर्त्तति कोपि मुनिपो न च तस्य दोषः ॥

अत्र ज्ञानस्वरूपो जीव इति वितर्कणोक्तः ।

णाणं जीवस्वरूपं तम्हा जाणेइ अप्पगं अप्पा ।

अप्पाणं णवि जाणादि अप्पादो होदि विदिरित्तम् ॥६९॥

ज्ञानं जीवस्वरूपं तस्माज्ज्ञानात्यात्मक आत्मा ।

आत्मानं नापि जानात्यात्मनो भवति व्यतिरिक्तम् ॥१६९॥

इह हि ज्ञानं तावज्जीवस्वरूपं भवति ततो हेतोरसंवादे तस्माच्चरितं  
निरतिशयभावनासनायम् मुक्तिमुंदरीनाथम् बहिर्व्यावृत्तकोतुहलम् निज-  
परमात्मानं जानाति कश्चिदात्मा भव्यजीव इति अयं सलु स्वभाववाद-  
अस्य विपरीतो वितर्कः स सलु विभाववादः प्राथमिकशिष्याभिप्रायः ।

कथमिति चेत् । पूर्वोक्तस्वरूपमात्मानं खलु न जानात्यात्मा स्वरूपावस्थितः संतिष्ठति यथोष्णस्वरूपस्याग्नेः स्वरूपमग्निः किं जानाति, तथैव ज्ञानज्ञेय-विकल्पाभावात् सोयमात्मात्मानं तिष्ठति । हंहो प्राथमिकशिष्य अग्निवदय-मात्मा किमचेतनः, किञ्चिदुना तमात्मानं ज्ञानं न जानाति चेद् देवदत्तरहित-परशुवत् । इदं हि नार्थक्रियाकारि अतएव आत्मनः सकाशाद् व्यतिरिक्तं भवति तन्न खलु सम्मतं स्वभाववादिनामिति । तथाचोक्तं श्रीगुणभ-द्रस्वामिभिः ।

“ ज्ञानं तावद्भवति सुतरां शुद्धजीवस्वरूप  
स्वात्मात्मानं नियतमधुना तेन जानाति चेकम् ।  
तच्च ज्ञानं स्फुटितसहजावस्ययात्मानमारात्  
नो जानाति स्फुटमविचलाद्भिन्नमात्मस्वरूपात् ॥ ”

तथाचोक्तम्—

“ णाण अज्झिदिरित्तं जीवादो तेण अप्पग मुणइ ।  
जदि अप्पगं य जाणइ भिण्णं तं होदि जीवादो ”॥

गुणगुणिनो भेदाभावस्वरूपाख्यानमेतत्—

अप्पाणं विणु णाणं णाणं विणु अप्पगो ण सन्देहो ।  
तम्हा सपरपयासं णाणं तह दंसणं होदि ॥ १७० ॥

आत्मानं विद्धि ज्ञानं ज्ञानं विद्वद्वात्मको न मदेहः ।  
तस्मात्स्वपरप्रकाशं ज्ञानं तथा दर्शनं भवति ॥ १७० ॥

सकलपरद्रव्यपराहमुसमात्मानं स्वस्वरूपपरिच्छित्तिसमर्थसहजज्ञान-स्वरूपमिति हे शिष्य स्व विद्धि जानीहि तथा विज्ञानमात्मोति जानीहि तत्त्वं स्वपरप्रकाशज्ञानदर्शनद्वितयमित्येव संदेहो नास्ति ।

आत्मानं ज्ञानद्वारूपं विद्धि हि ज्ञानमात्मकं ।

स्वं परं चेति यत्तत्त्वमात्मा द्योतयति स्फुटम् ॥

सर्वज्ञबीतरागस्य बांछाभावत्वमत्रोक्तम्—

जाणंतो पस्संतो ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो ।

केवलिणाणी तम्हा तेण दुं सोऽबंधगो भणिदो ॥१७१॥

जानन् पश्यन्नीहापूर्वं न भवति केवलिनः ।

केवलज्ञानी तस्मात् तेन तु सोऽबन्धको भणितः ॥ १७१ ॥

भगवानर्हत-परमेष्ठी साधनिधनामूर्च्छातीन्द्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारोऽयं  
केवलज्ञानादिशुद्धगुणानामाधारभूतत्वात् विश्वमश्रान्तं जानन्नपि पश्यन्नपि  
चा मनःप्रवृत्तेरभावादीहापूर्वकं वर्तनं न भवति तस्य केवलिनः परमभूता-  
कस्य, तस्मात् स भगवान् केवलज्ञानीति प्रसिद्धः, पुनस्तेन कारणेन स  
भगवान् अव्यय इति ।

तथा चोक्तम् श्रीप्रवचनसारे—

“जत्रि परिणमइ ण गिण्हइ उप्पज्जइ णेव तेसु अत्थेसु ।

जाणणवि ते आदा अबंधगो तेण पच्छतो ॥”

तथाहि—

जानन् सर्वं भुवनभवनाभ्यन्तरस्थं पदार्थं

पश्यन् तद्वत् सहजमहिमा देवदेवो जिनेश ।

मोहाभावात्परमसिद्धं नैव शृङ्गाति नित्यं

ज्ञानन्योतिर्हृतमलकलिः सर्वलोकेकसाक्षी ॥

इह हि ज्ञानिनो बंधाभावस्वरूपमुक्तम्—

परिणामपुव्ववयणं जीवस्स य बंधकारणं होइ ।

परिणामरहियवयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ॥१७२॥

ईहापुष्पं वयणं जीयस्स य बंधकारणं होई ।

ईहारहिं वयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो १७३ जुम्म ।

परिणामपूर्ववचनं जीवस्य च बंधकारणं भवति ।

परिणामरीहतवचनं तस्मान् ज्ञानिनो न हि बंधः ॥ १७२ ॥

ईहापूर्वं वचनं जीवस्य च बंधकारणं भवति ।

ईहारहितं वचनं तस्माज्ज्ञानिनो न हि बंधः ॥ १७३ ॥ जुम्म ।

सम्यक्ज्ञानी जीवः क्वचित् कदाचिदपि स्वबुद्धिपूर्वकं वचनं न वक्ति स्वमनःपरिणामपूर्वकमिति यावत् । कुतः—“अमनस्का केवलिनः” इति वचनात् । अतः कारणाजीवस्य मनःपरिणतिपूर्वकं वचनं बंधकारणमित्यर्थः, मनःपरिणामपूर्वकं वचनं केवलिनो न भवति, ईहापूर्वं वचनमेव साभिलाषात्मकं जीवस्य बंधकारणं केवलमुत्सारविन्दुविनिर्गतो दिव्यध्वनि-रनीहात्मकः समस्तजनहृदयाद्वाङ्मकारणं, ततः सम्यग्ज्ञानिनो बंधाभाव इति ।

ईहापूर्वं वचनरचनारूपमत्रास्ति नैव

तस्मादेष प्रकटमहिमा विश्वलोकैकभर्ता ।

अस्मिन् बंधः कथमिव भवेद्व्यभावात्मकोऽयं

मोहाभावाच्च खलु निरिच्छं रागद्वेषादिजालं ॥

एकं त्रैलोक्यभुवनगुह्यं कर्माष्टकान्तः

सद्बोधस्थं भुवनमखिलं तद्वत् वस्तुजालम् ।

आरातीये भगवति जिने नैव बंधो न मोक्षः

तस्मिन् काचिन्न भवति पुनर्मूच्छना चेतना च ॥

न ह्येतस्मिन् भगवति जिने कर्म कर्मप्रपञ्चो

रागाभावाद्बुलमहिमा राजते वीतरागः ।

एषः श्रीमान् स्वमुत्तमनिरतः सिद्धिसामन्तिनीशो

ज्ञानन्योतिस्तुलितभुवनाभोगभागः समन्तान् ॥

केचिभूताङ्गम्यामनस्कत्वशयोननमेवतः—

ठाणणिसेज्जविहारा ईहापुञ्चं ण होइ केवळिणो ।  
तद्ग्रा ण होइ बंधो साकटं मोहणीयस्स ॥ १७४ ॥

स्थाननिष्पत्तिहारा ईहापूर्वं न भवति केवलिनः ।

तस्मान्न भवति बंधः साक्षार्थं मोहनीयस्य ॥ १७४ ॥

भगवतः परमार्हन्त्यटर्क्ष्माविजमानस्य केवलिनः परमवैतण्यत्वं  
सस्य ईहापूर्वकं न किमपि वर्तनं अतः स भगवान् न चेहते मनञ्जुजे-  
भावात् अमनस्का केवलिनः इति वचनाद्वा न तिष्ठति नापविशति न चेह-  
पूर्वं श्रीविहारादिकं करोति । ततस्तस्य तीर्थंकरपरमदेवस्य द्रव्यभावत्वं  
चतुर्विधबंधो न भवति । स च बंधः पुनः किमर्थं ज्ञातः कस्य संबन्ध-  
मोहनीयकर्मविलासविजृम्भितः अक्षार्थमिन्द्रियार्थं तेन सह यः वर्तत इति  
साक्षार्थं मोहनीयस्य वशगतानां साक्षार्थप्रयोजनानां संसारिणानेव बंध इति ।

तथाचोक्तं श्रीप्रवचनसारे—

“ ठाणणिसेज्जविहारा धम्मवदेसं च णियदओ नेत्तिं ।

अरहंताण काले मायाचारव्व इत्थीणं ” ॥

देवेन्द्रासनकंपकारणमहत्कैवल्यबोधोदये

मुक्तिश्रीललनामुत्ताम्बुजरवेः सद्धर्मरक्षामणेः

सर्वं वर्तनमस्ति चेन्न च मनः सर्वं पुराणस्य तत्

सोऽयं नन्वपरिप्रमेयमहिमा पापाटवीपावकः ॥

शुद्धजावस्य सभावगतिप्राप्त्युपायोपन्यासोऽयं.—

आउत्त सखेण पुणो णिण्णासो होइ सेसपयड्ढीणं ।

पच्छा पावइ सिग्घं लोयगं समयमेत्तेण ॥ १७५ ॥



आयुः सत्येण पुनः निर्णोसो भवति शेषमृतीनां ।

पञ्चात्मास्मोति दीप्य लोकाग्रं समयमात्रेण ॥ १७५ ॥

स्वभावगतिप्रियापरिणतस्य षट्कापकमविहीनस्य भगवतः सिद्धक्षेत्रा-  
भिपुरास्य ध्यानध्वेयध्यातृत्कलमातिप्रयोजनविकल्पशून्येन स्वस्वरू-  
पाविचलस्थितिरूपेण परमशुद्धध्यानेन आयुःकमक्षये जाते वेदनीयनाम-  
गोत्राभिधानशेषमृतीनां निर्णोसो भवति । शुद्धनिधयनयेन स्वस्वरूपे  
सहजमहिम्नि हीनोऽपि व्यवहारेण स भगवान् क्षणार्धेन लोकाम्रं प्राप्नोतीति  
षट्कापकमयुक्तानां भविनो लक्षणात् पुषश्च सिद्धानां लक्षणं यस्मादूर्ध्व-  
गास्ते सदा शिवाः ।

बन्धच्छेदादनुलमहिमा देवविद्याधराणां

प्रत्यक्षोऽयं स्तवनविषयो नैव सिद्धः प्रसिद्धः ।

लोकस्याग्रं व्यवहरणतः संस्थितो देवदेवः

स्वात्मन्युच्चैरविचलतया निधयेनैवमास्ते ।

पंचसंसारनिमुक्तोऽयं पंचसंसारमुक्तये ।

पंचसिद्धान्तं वंदे पंचमोक्षफलप्रदाय ॥

काण्ठतस्वस्वरूपारूपानमेततः—

जाद्वजरमरणरहितं परमं कम्मदवज्जियं सुद्धं ।

णाणाद्वचउसहावं अक्खयमधिणासमच्छेयं ॥ १७६ ॥

जातिनरामरणरहितं परमं कर्माष्टवर्जितं शुद्धं ।

ज्ञानादिबन्धुस्वभावं अक्षयमविनाशपच्छेयं ॥ १७७ ॥

निर्गन्तः संसृतेरभावाज्जातिजरामरणरहितं परमं पारिणामिकभावेन  
परमस्वभावत्वात् परमं त्रिकाटनिरुपाधिस्वरूपत्वात् कर्माष्टकवर्जितं द्रव्य-

भायकर्मगतित्वात्पुनर्य महजज्ञानमहज इष्टं नमहज नात्रिमहद्विच्छ  
 किमप्यत्र ज्ञानाद्विचक्षुःस्वभावा साद्विमनिधनमूर्तेन्द्रियान्नविचरति  
 भायक्यंजनपण्याय गीतत्वाद्भयं प्रशस्ताप्रशस्तमतिहेतुभूतपुण्यपापान्द्वन्द्व  
 भायद्विनाशं वारं धत्ते द्योग्यमूर्तिमुक्तत्वाद्दृष्टेयमिति ।

अविचलितमम्भज्ञानमद्वन्द्वमिष्टं  
 निसिलदुरितदुर्गमातदागद्विच्छ  
 भज भजसि जिनोत्थं दिव्यशर्मामृतं च  
 सकलविमलबोधस्तं भक्त्येव तस्मात् ॥

अत्रापि निरुपाधिस्वरूपलक्षणपरमात्मतत्त्वमुक्तं—

अव्यावाहमणिन्द्रियमणोवमं पुण्यपापणिम्मुक्तं ।  
 पुनरागमणांवेरहितं णिचं अचलं अणालंबं ॥ १७७ ॥

अव्यावाहमतीन्द्रियमनुपमं पुण्यपापनिर्मुक्तम् ।  
 पुनरागमनविरहितं नित्यमविमलमनालंबम् ॥ १७७ ॥

असिलदुराधर्मावैरिविच्छिन्नासंभ्रमागोचरसहजज्ञानस्वर्गनिलयत्वादव्य  
 बाधं सर्वात्मप्रदेशभरितचिदानन्दमयत्वादतीन्द्रियं त्रिषु तत्त्वेषु विशिष्टत्वा  
 दनोपम्यं संसृतिपुरंधिकासंभोगसंभवसुखदुःसाभावात् पुण्यपापनिर्मुक्तं पुनरा  
 गमनहेतुभूतप्रशस्ताप्रशस्तमोहरागद्वेषाभावात्पुनरागमनविरहितं नित्यमरण  
 न्दवमरणकारणकलेवरसंबन्धाभावाज्जित्यं निजगुणपर्यायप्रच्यवनाभावादव्य  
 षद्व्यावलम्बनाभावादनालम्बाति ।

तथाचोक्तम् श्रीसद्भूतचन्द्रसूरिभिः—

आ संसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः ।  
 सुप्ता यस्मिन्नपपदमपदं तद्विबुध्यध्वमंधाः ॥

एते संतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यशानुः ।

छन्दः शुद्धः स्वरसभगितः स्यादिभावात्मेति ॥

तथाहि—

भावाः पञ्च भवन्ति येषु सततं भावः परः पञ्चमः ।

स्थायी संयुतिनादाकारणमयं सम्यग्दृष्टा गोचरः ॥

तं मुस्तासिलरागरोषनिकरं बुद्ध्या पुनर्बुद्धिमान् ।

एको भाति कठो युगे मुनिपतिः साण्टर्वापायकः ॥

इह हि सांसारिकविकारनिकायाभावाभिर्जां भवतीत्युक्तं—

णवि दुःखं णवि सुखं णवि पीडा जेवीयज्जदे वाहा ।

णवि मरणं णवि जणणं तत्थेव य होइ णिठ्वाणां ॥ १७८ ॥

न च दुःखं न च सौख्यं न च पीडा नैव विद्यते बाधा ।

न च मरणं न च जननं तत्रैव च भवति निर्वाणं ॥ १७८ ॥

निष्परागरत्नत्रयात्मकपरमात्मनः सततान्तमुखाकारपरमाध्यात्मस्वरूपनि-  
रतस्य तस्य बाधुभपरिणतेरभावाच्च बाधुभकर्म अशुभकर्मभावाच्च दुःखं शुभ-  
परिणतेरभावाच्च शुभकर्म शुभकर्मभावाच्च सत्तु संसारमुखं पीडायोग्ययातना-  
हारीणभावाच्च पीडा असातावेदनीयकर्मभावाच्चेव विद्यते बाधा पञ्चविधनो-  
कर्मभावाच्च मरणं पञ्चविधनोक्तकर्महेतुभूतकर्मपुद्गलस्वीकारभावाच्च जननं  
एवं लक्षणलक्षिताक्षुण्विक्षेपणविनिर्मुक्तपरमतत्त्वस्य सदा निर्वाणं भवतीति ।  
अवभवमुत्तदुःखं विद्यते नैव बाधा जननमरणपीडा नास्ति यस्येह नित्यम् ।  
तमहमभिन्नमामि स्तोमि संभावयामिस्मरमुखविमुखस्तन्भक्तिर्सौख्याय नित्यं ॥

आत्मापन्नया हीनः सापराध इति स्मृतः ।

अहमात्मानमानन्दमदिहं नोमि नित्यशः ॥

परमनिर्वाणयोग्यपरमतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत्:-

णवि इंदिय उवसग्गा णिव मोहो विम्हियो ण णिद्वा य  
ण य तिण्हा णेव छुहा तत्थेव हवदि णिव्वाणं ॥ १७९ ॥

नापि इन्द्रियाः उपसर्गाः नापि मोहो विस्मयो न निद्रा च ।

न च तृष्णा नैव क्षुधा तत्रैव भवति निर्वाणं ॥ १७९ ॥

असंख्येकप्रदेशज्ञानस्वरूपत्वात् स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राभिधानरन्ध्रेन्द्रियव्यापाराः । देवमानवतिर्यक्चेतनोपसर्गाश्च न भवन्ति क्षायिकज्ञानयथाख्यातचारित्रमयत्वान्न दर्शनचारित्रभेदविभिन्नमोहर्नायदित्यमपि बाधप्रपञ्चविमुक्तत्वान्न विस्मयः नित्योन्मीलितशुद्धज्ञानस्वरूपत्वान्न निद्रा असती वेदनीयकर्मनिर्मूलनान्न क्षुधा तृषा च तत्र परमब्रह्मणि नित्यं ब्रह्म भवतीति ।

तथा चोक्तमभूतशीतो—

ज्वरजननजराणां वेदना यत्र नास्ति

परिभवति न मृत्युर्नागतिर्ना गतिर्वा ।

तदतिविशदचित्ते लभ्यते नोऽपि तत्त्वं

गुणगुरुगुणादाम्भोजसेवाप्रसादात् ॥

तथाहि—

यस्मिन् ब्रह्मण्यनुपमगुणालंकृते निर्विकल्पेऽ

ज्ञानामुच्चेर्विविधविषमं वर्तनं चैव किञ्चित् ।

नैवान्यैर्वा भविगुणगुणाः संसृतेर्मूलमूता—

स्तस्मिन्नित्यं निजसुखमयं भाति निर्माणमेकं ॥

सकलकर्मविनिर्मुक्तशुभाशुभशुद्धध्यानध्येयविकल्पाविनिर्मुक्तपरमस्वस्वरूपाख्यानमेतत्:-

णवि कम्मं णोकम्मं णवि चिंता णेव अट्ठरुद्वाणि ।

णवि धम्मसुक्कदाणे तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥ १८० ॥

नापि कर्म नोकर्म नापि चिन्ता नैवार्तरीद्रे ।

नापि धर्मशुक्लध्याने तत्रैव च भवति निर्वाणं ॥ १८० ॥

सदा निरंजनत्वाच्च द्रव्यकर्माष्टकं त्रिकाटनिरुपाधिस्वरूपत्वाच्च नोकर्मपचकं च अमनस्कत्वाच्च चिन्ता औदायिकादिविभावभावानामभावादात्तरीद्रे ध्याने न स्तः धर्मशुक्लध्यानयोग्यचरमक्षरीराभावाच्चद्वितयमपि न भवति तत्रैव च महानन्द इति ।

निर्वाणस्थे प्रहतदुरितध्वान्तसंघे विशुद्धे

कर्मशेष न च न च पुनर्ध्यानकं तच्चतुष्कं ।

तस्मिन्सिद्धे भवति हि परं ब्रह्मणि ज्ञानपुञ्जे

आचिन्मुक्तिर्भवति वचसां मानसानां च दूरम् ॥

भगवतः सिद्धस्य स्वभावगुणस्वरूपाख्यानमेतत्—

चिज्जिदि केवलणाणं केवलसोकखं च केवलं विरियं ।

केवलदिदि अमुचं अत्थित्तं सम्पदेसत्तं ॥ १८१ ॥

विद्यते केवलज्ञानं केवलसौख्यं च केवलं वीर्यं ।

केवलदृष्टिर्मूर्तत्वमस्तित्वं सप्रदेशत्वं ॥ १८१ ॥

निरवशेषेणान्तर्मुखाकारस्वात्माभयनिर्भयपरमशुक्लध्यानबलेन ज्ञानावरणावष्टविधकर्मविलये जाते ततो भगवतः सिद्धपरमेश्वरः केवलज्ञानकेवलदर्शनकेवलवीर्यकेवलसौख्यामूर्तत्वास्तित्वसप्रदेशत्वादिस्वभावगुणा भवन्ति इति ।

बन्धच्छेदाद्भगवति पुनर्नित्यशुद्धे प्रसिद्धे

तस्मिन्सिद्धे भवति नित्यं केवलज्ञानमेतत् ।

दृष्टिः साक्षादखिलविषया सौख्यमात्यंतिकं च  
शक्त्याद्यन्यद्वुणमणिगणं शुद्धशुद्धश्च नित्यं ॥

सिद्धासिद्धयोरेकत्वप्रतिपादनपरायणमेतत्—

णिब्बाणमेव सिद्धा सिद्धा णिब्बाणमिदि समुदिहा ।  
कम्मविमुक्को अप्पा गच्छइ लोयग्गपज्जंतं ॥ १८२ ॥

निर्वाणमेव सिद्धा सिद्धा निर्वाणमिति समुदिष्टाः ।

कर्मविमुक्त आत्मा गच्छति लोकाग्रपर्यन्तम् ॥ १८२ ॥

निर्वाणशब्दोऽत्र द्विष्टो भवति । कथमिति चेत् । निर्वाणमेव सिद्धा इति वचनात् । सिद्धा सिद्धक्षेत्रे तिष्ठंतीति व्यवहारः । निश्चयतो भगवंतः स्वस्वरूपे तिष्ठन्ति ततो हेतोर्निर्वाणमेव सिद्धाः सिद्धा निर्वाणम् इत्यनेन क्रमेण निर्वाणशब्दसिद्धशब्दयोरेकत्व सफलं जातं । अपि च यः कश्चिदासन्नभयार्थं परमगुरुप्रसादासादितपरमभावभावनया सकलकर्मफलकंपंकविमुक्तः स परमात्मा भूत्वा लोकाग्रपर्यन्तं गच्छतीति ।

अथ जिनमतमुक्ते मुक्तजीवस्य भेदं

अचिदपि न च विप्रो युक्तिरभ्यागमाच्च ।

यदि पुनरिह भव्यः कर्म्मनिर्मूल्य सर्व

स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥

अत्र सिद्धक्षेत्रेनादुपरि जीवपुद्गलानां गमनं निषिद्धं—

जीवाण पुग्गलाणं गमणं जाणेहि जाय धम्मत्थी ।  
धम्मत्थिकायभावे तत्तो परदो ण गच्छन्ति ॥ १८३ ॥

जीवानां पुद्गलानां गमनं नार्नाहि यावद्धर्मास्तिकः ।

धर्मास्तिक्याभावे तस्मात्परतो न गच्छति ॥ १८३ ॥

जीवानां स्वभावक्रियासिद्धिगमनं विभावक्रियावदुत्पादकमपुत्तत्वं पुद्ग-  
लानां स्वभावक्रियापरमाणुगतिः विभावक्रियामणुकादिस्कन्धगतिः अतोऽ  
मीषां त्रिलोकशिस्ररादुपरिगतिक्रिया नास्ति परतो गतिहेतोर्धर्मास्तिका-  
याभावात् । यथा जलाभावे मत्स्यानां गतिक्रिया नास्ति अत एव यावद्दर्मा-  
स्तिकायास्तिष्ठति तत्क्षेत्रपर्यन्तं स्वभावविभावगतिक्रियापरिणतानां जीव-  
पुद्गलानां गतिरिति ।

त्रिलोकशिस्ररादूर्ध्वं जीवपुद्गलयोर्द्वयोः ।

नैवास्ति गमनं नित्यं गतिहेतोरभावतः ॥

शास्त्रादौ गृहीतस्य नियमशब्दस्य तत्फलस्य चोपसंहारोयः—

णियमं णियमस्स फलं णिद्धिदं पवयणस्स भत्तीए ।

पुच्चावरविरोधो जदि अवणीय पूरयंतु समयग्गा ॥ १८४ ॥

नियमो नियमस्य फलं निर्दिष्टं प्रवचनस्य भक्त्या ।

पूर्वापरविरोधो यद्यपनीय पूरयंतु समयज्ञाः ॥ १८४ ॥

नियमस्तावच्छुद्धरत्नत्रयव्याख्यानस्वरूपेण प्रतिपादितः । तत्फलं  
परमनिर्वाणमिति प्रतिपादितं न कवित्वदर्पात् प्रवचनभक्त्या प्रतिपादित-  
मेतत् सर्वमिति यावत् । यद्यपि पूर्वापरदोषो विद्यते चेतदोपात्मकं ह्रुत्वा  
परमकर्वाश्वरास्तमयविद्भोत्तमं पदं कुर्वन्तिविति ।

जयति नियमसारस्तत्फलं चोत्तमानां

इदयस्यसि जाते निर्दुतेः कारणत्वात् ।

प्रवचनकृतभक्त्या सूत्रवृद्धिः कृतो यः

स तत्तु निरिच्छभक्त्यभेणिनिर्वाणमार्गः ॥

इह वि भगव्य क्षिणमनुकः—

ईसामाद्येण पुणो केइ णिंदन्ति सुंदरं मगं ।

तेसिं वयणं सोचा अमत्तिं मा कृणह जिणमग्गे ॥ १८५ ॥

ईसामागेन पुनः केचिन् निन्दन्ति सुन्दरं मार्गं ।

तेषां वचनं श्रुत्वा अभक्तिं मा कुरुष्व निनमार्गे ॥ १८६ ॥

केचन मत्सुदयः त्रिभालनिरागणनित्यानिदेकलक्षणनिर्विकल्प-  
निजकारणपरमात्मतत्त्वसम्यक्प्रज्ञानपरिज्ञानानुष्ठानरूपशुद्धवचननिर्दि-  
ष्टमिथ्यात्वकमद्वयसामर्थ्येन मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र्यपरायणः ईर्ष्याभावेन  
समत्सरपरिणामेन सुन्दरं मार्गं सर्वज्ञवीतरागस्य मार्गं पापक्रियानिवृत्ति-  
क्षणं भेदोपचारतत्त्वत्रयात्मकमभेदोपचारतत्त्वत्रयात्मकं केचिन्निन्दन्ति तेषां  
स्वरूपविकलानां कुहेतुदृष्टान्तसमन्वितं कुतर्कवचनं श्रुत्वा ह्यभक्तिं जिनेष्वा-  
प्रणीतशुद्धतत्त्वत्रयमार्गं हे भव्य मा कुरुष्व पुनर्भक्तिं कर्तव्येति ।

देहव्यूहमहीजरानिमयदे दुःसावलीश्वापदे  
विश्वासंति करालकालद्रहने शुष्यन्महापावने ।  
नानादुर्णयमार्गवुर्गममते दृडमोहिनां देहिनां  
जने दर्शनमेकमेव शरणं जन्माटवीसंकटे ॥

तथाहि—

लोकालोकनिकेतनं वपुरदो ज्ञानं च यस्य प्रभो-  
स्त शंसध्वनिकं पितासिलभुवं श्रीनेमितीर्थेश्वरं ।  
स्तोतुं के भुवनत्रयेऽपि मनुजाः शक्ताः सुरा वा पुनः  
जने तत्तत्तत्त्वनेककारणमहं भाक्तिर्जगत्पुत्सुका ॥

शास्त्रनामधेयकथनद्वारेण शास्त्रोपसहारोपन्यासोयः—

णियमावणाणिमित्तं मए कइं णियमसारणामसुदं ।

बुद्धा जिणोवदेसं पुच्चावरदोसणिम्मक्कं ॥ १८६ ॥



निजभावनानिमित्तं मया कृतं नियमसारनामधुतं ।

बुद्धा जिनोपदेशं पूर्वापरदोषनिर्मुक्तम् ॥ १८९ ॥

अत्राच्चाध्याः प्रारब्धस्यान्तगमत्वात् नितरां कृतार्थतां परिग्राप्य निज-  
भावनानिमित्तमदुभवंचनार्थं नियमसाराभिधानं श्रुतं परमाध्यात्मशास्त्र-  
शतकुशलेन मया कृतं । किं कृत्वा पूर्वं । ज्ञात्वा अर्वाचकपरमगुरुप्रसादेन  
बुद्धेति । क । जिनोपदेशं कीर्तनसर्वज्ञमुत्सारविन्दविनिर्गतपरमोपदेशं  
तं पुनः किं विशिष्टं । पूर्वापरदोषनिर्मुक्तं पूर्वापरदोषहेतुभूतसकलमोहराग  
द्वेषभावादाप्तमुत्सारविनिर्गत्वाभिर्दोषमिति ।

किञ्च अस्य सलु निखिलगमार्थसार्थप्रतिपादनसमर्थस्य नियमशब्द-  
संसूचितविशुद्धमोक्षमार्गस्य अचितपञ्चास्तिकायपरिसिन्धुस्य सचित-  
पञ्चाचारप्रारब्धस्य षट्द्रव्यविविधस्य सप्ततत्त्वनवपदार्थगर्भोक्तस्य  
पञ्चभावप्रपञ्चप्रतिपादनपरायणस्य निश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानप्राप्यवित्त-  
परमालोचना— नियमध्यात्मसर्गप्रभृतिसकलपरमार्थक्रियाकाण्डाटवरसमुद्भूतस्य  
उपयोगत्रयविशालस्य परमेश्वरस्य शास्त्राय द्विविधं किल तात्पर्यं सूत्रतात्पर्यं  
शास्त्रतात्पर्यं चेति । सूत्रतात्पर्यं पदोपन्यासेन प्रतिसूत्रमेव प्रतिपादितं शास्त्र-  
तात्पर्यं त्विदमुपदर्शनेन भागवतं शास्त्रमिदं निर्वाणसुन्दरीसमुद्भवपरमवी-  
तरागात्मकनिर्व्याधिनिरन्तरानन्दपरमानन्दप्रदं निरतिशयनित्यशुद्धनिरं-  
जननिजकारणपरमात्मभावनाकारणं समस्तनयनिचयाचितं पञ्चमगातिहेतु-  
भूतं पञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहेण निर्मितमिदं ये सलु निश्चयव्यव-  
हारनययोरविरोधेन जानन्ति ते सलु महातः समस्ताध्यात्मशास्त्रद्वयवेदिनः  
परमानन्दवीतरागसुराभिष्टापिणः परित्यक्त्वा ह्याभ्यन्तर्भूतुर्विशतिविग्रहप्रपञ्चाः  
त्रिकालनिरुपाधिस्वरूपनिरतनिजकारणपरमात्मस्वरूपश्च ज्ञानपरिशानाचरण-  
त्मकभेदोपचारकल्पनानिरपेक्षस्वस्थरजत्रयपरायणाः सन्तः शब्दब्रह्म-  
लस्य शाश्वतमुखस्य भोक्तारो भवन्तीति ॥

सुकविजनपयोजानन्दिमित्रेण शुस्तं  
 ललितपद्मिनीकौयैर्निर्मितं शाग्रमेतत् ।  
 निजमनासि विधत्ते यो विशुद्धात्मकांक्षी  
 स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥ १ ॥

प्रपन्नभाभिधाध्वनीसिन्धुनायसमुद्भवाः ।  
 उपन्यासोऽर्मिमालेयं स्थेयाच्चेतसि सा सता ॥ २ ॥  
 आस्मिन् लक्षणशास्त्रस्य विरुद्धं पदमस्ति चेत् ।  
 लुप्त्वा तत्कवयो भद्राः कुर्वन्तु पदमुत्तमं ॥ ३ ॥

यावत्सदागतिपथे रुचिरे विरेजे  
 तारागणैः परिवृतं सकलेन्दुविवं ।  
 तात्पर्यवृत्तिरपश्यस्तितहेयवृत्तिः  
 स्थेयात्सतां विपुलचेतसि तावदेव ॥ ४ ॥

इति सुकविजनपयोजमित्र-यश्चेन्द्रियप्रसरवार्जितगात्रमात्रपरिग्रह-ध्रीपद्मप्रभ-  
 मलधारिद्वयविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ  
 शुद्धोपयोगाधिकारो द्वादशः श्रुतस्कन्धः ॥ १२ ॥

समाप्ता चेयं तात्पर्यवृत्तिः ।



भ्रीपरमात्मने नमः ।

भ्रीकुंदकुंदाचार्यविरचित

# नियमसार ।



वालवोधिनी भाषाटीका सहित ।



मंगलाचरण भाषाकारकी ओरसे ।

बोद्धा ।

समयसार सतगुण प्रणमि, द्रव्य भाव हरपाय ।

‘ गौतम ’ गणधर गाय गुण, जिनयाणी उर ध्याय ॥ १ ॥

‘ कुंदकुंद ’ मुनि धरण नमि, अनुभवके दातार ।

ज्ञानभानु-सम्यक्किरण, मिथ्यातमदरतार ॥ २ ॥

नियमसार गुण-रत्नको, प्रगटायों सुखदाय ।

प्राकृतभाषामय मधुर, निजरसअनुभवदाय ॥ ३ ॥

‘ पद्मप्रभ मलधारि ’ जे, मुनि निर्मन्थस्वरूप ।

पर संस्कृत टीका रची, पद अरु शब्द अनूप ॥ ४ ॥

ताकी छाया छेयकर, तृप्प बुद्धि अनुसार ।

प्राकृतकी भाषा करी, वालवोध दितकार ॥ ५ ॥

निज अनुभवके कारणे, पर अनुभवके काज ।

बादि दाए जग छोड़कर, भजि मन यच्च जिनराज ॥ ६ ॥

## संस्कृत टीकाकारके मंगलाचरणका भावार्थ ।

हे परमात्मन्, आपको होते मैं किस प्रकारसे मेरे ही ऐसे जन्म संसारी जीवोंके सदृश जो मोहमें मुग्ध और कामदेवके आधीन हैं तेरे ब्रह्मा, विष्णु, महेश और बुद्ध देवोंको भज सकता हूँ, इसलिये मैं त्रिनेन्द्रसूर्यको नमस्कार करता हूँ । कैसे हैं प्रभु—जिन्होंने संसारको रीत लिया है, जो मोक्षमार्गके नेता हैं, वाणीके स्वामी हैं तथा आनन्दरूप हैं । तथा मैं जिनवाणीको नमस्कार करता हूँ, जो वाणी श्रीमूर्तियोंके इन्द्र ऐसे श्रीजिनेन्द्रके मुसकमलसे प्रगट हुई है, तथा निधय और व्यवहार नयके द्वारा जिसमें वाच्य जो पदार्थ तिनके पूर्ण स्वरूप कथन किया गया है । तथा मैं सिद्धान्त समुद्रके पारगामी पवित्र सिद्धान्त-रूपी श्रेष्ठ लक्ष्मीके पति श्रीसिद्धसेनको, तर्करूपी कमलके शृङ्खल करनेको सूर्य समान श्रीमद्भट्टाकलकदेवको, शब्द समुद्रकी इडि के लिये चन्द्रमाके समान श्रीपूज्यपादस्वामीको, तथा विषाके पारगामी महाप्रतियोंमें इन्द्रके समान ऐसे श्रीपीरनन्दि आचार्यको नमस्कार करता हूँ । मैं भव्य जीवोंको मोक्षमार्गमें लगानेके लिये तथा अपनी अत्यन्त शुद्धिके लिये इस नियमसार ग्रन्थकी 'तात्पर्यवृत्ति' नाम की वृत्ति कहूँ । यह परमागम गुणके धारी श्रीगणेशदेवोंसे रचा गया है सो ही मुझे धारियोंकी परिपाटी दाग प्रगट किया गया है, ऐसे परमात्मके अर्थ कहनेको मैं मन्त्रुद्धि केम समर्थ हो सकता हूँ । तथापि इस परमात्मके सारकी पुष्ट कवि जो मंत्रमें उत्पन्न हुई है उसीने मेरे मनकी बरतव्य प्रेरणा की है ।

पूर्वमें गुरुकृतोंके पञ्चांगिकाथ, पद द्रव्य, छान तत्त्व, और नौ पद्योंका तथा अत्यन्तानादि सार क्रियाओंका वर्णन किया है । यह अर्थक विस्तार न करके मूल ग्रन्थका विवरण करते हैं ।

## मूल ग्रन्थकर्त्ताका मंगलाचरण ।

णमिऊण जिणं वीरं अणंतवरणाणदंसणसहावं ।

• वोच्छामि णियमसारं केवलिसुदकेवलीमणिदं ॥ १ ॥

शास्त्रकी आदिमें कर्त्ताने असाधारण मंगल किया है। मंगल उसको कहते हैं जो पापको गटावे और सुखकी देवे। असाधारण मंगलसे यह प्रयोजन है कि यह मंगल साधारण नहीं है, किन्तु विशेष है। इस मंगलमें ही यह शक्ति है जो जीवात्माके अनादि कर्ममल पापको धोकर इस जीवको निज स्वरूपानंदी सुख प्राप्त करा सकता है, इसीलिये यह असाधारण मंगल है।

सामान्य अर्थ—मैं कुंदकुंदाचार्य अनंत केवल ज्ञान दर्शन स्वभावके धारी ऐसे श्रीवीर जिनेन्द्रको नमस्कार करके केवली और भुतकंवलियोंसे कहे हुए ऐसे नियमसार परमागमको कहूँगा—यह प्रतिज्ञा करता हूँ।

विशेष अर्थ—अनेक संसारके जन्मरूपी वनमें भ्रमण कर्गनेके कारण ऐसे जो समस्त राग, द्वेष, मोह आदिक विभाव भाव तिनको जो जीतता है उसका नाम 'जिन' है। 'वीरयते' अर्थात् कर्मरूपी दानुओंको जो परास्त करता है वह 'वीर' है। चौबीसवें तीर्थंकरके पाँच नाम प्राप्ति हुई—श्रीवर्द्धमान, सम्मतिनाथ, अतिवीर, महावीर और वीर। ऐसे श्रीवर्द्धमान जिन ही परमेश्वर महा देवाधिदेव हैं। जो अपने निर्मल केवलज्ञान और केवलदर्शनसे पूर्ण होकर तीन लोकके घर अचर पदार्थोंकी समस्त पर्यायोंके जाननेको समर्थ हैं। यही आचार्योंने यह प्रगट किया है कि जो सर्वदर्शी सर्वज्ञ और वीरराग है वही आगमका स्वामी सत्यव्रता आत्मा हो सकता है। उसीको ही आगमकी प्यासरूप कार्यके प्रारम्भमें नमस्कार करना युक्त है। क्योंकि जो अल्पज्ञ और किसी प्रकारके भी राग और द्वेषको धरनेवाला होगा वह कदापि सत्पार्थक्यपाणकारी उपदेस नहीं दे

सकता । परम हितोपदेशीपना उस परमौदारिक शरीरके धारी अरहन्-  
 देवमें ही हो सकता है, जो जीवन्मुक्त अवस्थामें भाव मुक्तिको प्राप्त कर  
 सर्वज्ञ और वीतराग गुणसे विभूषित है, जिसके क्षुधा, तृषा, जरा, रोग,  
 जन्म, मरण, भय, विस्मय, राग, द्वेष, मोह, स्वेद, सेद, मद, चिन्ता,  
 रति, अरति, और निद्रा ऐसे अठारह दोष नहीं हैं । ऐसे आत्मेकनस्कार  
 करनेसे आचार्य्यने यह दर्शाया है कि उपासकोंको योग्य है कि ऐसे  
 अरहन्तको ही आत्म, देव, पूज्य, माननीय, सकल परमात्मा, एव  
 सुखी और दर्शन बंदन योग्य समझें । नियमसारसे प्रयोजन यह है कि  
 सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यरूप जो नियम उसका सार जो शुद्ध रत्नरूप  
 स्वरूप आत्मा तिसका व्याख्यान करूंगा । यह आचार्य्यकी प्रतिज्ञा है ।  
 कैसा है नियमसार जिसको सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञानके धारी और  
 समस्त द्वादशांगरूप द्रव्यश्रुतके पारगामी ऐसे श्रुतकेवली कह चुके  
 हैं । इस वाक्यके कहनेसे आचार्य्यने यह दर्शाया है कि मैं जिस स-  
 मागमको कहूंगा, वह अपनी मनोकृतिसे नहीं कहूंगा, किन्तु जैसा मैं  
 गुरुने प्ररूपण किया है उसी अनुसार कहूंगा । यह नियमसार परमात्म  
 समस्त भव्यजीवोंके समूहोंका हितकारी है । इस तरह श्रीकुंदकुंदाचार्य-  
 देवने अपने इष्ट देवताकी स्तुति करके प्रतिज्ञा की है । टीकाकार  
 कहते हैं कि इस जगमें श्रीमहावीरस्वामी जयवन्त होहु । कैसे हैं स्वामी  
 जिन्होंने अपने शुद्ध भावोंके दाग कामदेवका नाश किया है, जो तीन  
 लोकके मनुष्योंमें पूज्य हैं, जिनके पास पूर्ण ज्ञानका एक गात्र है,  
 जिनका देवोंके सम्राज नमन करते हैं, जिन्होंने समार वृक्षके बीज रूप  
 द्वेषको नष्ट कर दिया है, जो केवलज्ञान दर्शन आदि लक्ष्मीके निद्रम  
 हैं, तथा जो समवधारणमें विराजमान हैं ।

आगे मोक्षमार्ग और उसका फल वर्णन करते हैं—

मग्गो मग्गफलंति य दुयिहं जिणसासणे समकरादं ।  
 मग्गो मोक्खउवापो तस्म फलं होइ जिण्वाणं ॥ २॥

**सामान्य अर्थ**—जिनशासनमें मार्ग और मार्गका फल ऐसे दो भेद हैं, जिनमें मोक्ष प्राप्ति का उपाय सो तो मार्ग है, और निर्वाणकी प्राप्ति उस मार्गके सेवनेका फल है ।

**विशेष अर्थ**—यहाँ पर मार्गसं प्रयोजन शुद्ध रत्नत्रयसे है, जिसका फल मोक्षरूपी स्त्रीके स्थूल भाटपर टीलासहित अलंकाररूप तिलकपनेकी प्राप्ति है, अर्थात् मोक्षका धरना है । जिनशासनसे प्रयोजन उस उपदेशसे है जिसका परम बीतराग सर्वज्ञ भगवानने तथा चार ज्ञानके धारी गणधरादि पूर्वाचार्योंने कहा है । सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्यकी एकता मोक्षमार्ग है । कैसा है मोक्षमार्ग; जो परम निरपेक्ष निश्चयनयके द्वारा निज शुद्ध परमात्म-तत्त्वका यथार्थ श्रद्धान ज्ञान और अनुभव स्वरूप शुद्ध रत्नत्रयमय है । इस मार्गके मनन और सेवनेमें जो निर्वाण फल प्राप्त होता है वह अपने आत्मस्वरूपकी सम्पूर्णतया प्राप्तिरूप है ।

**भावार्थ**—निर्वाणको आत्माकी नाशित तथा शुन्य अवस्थाके बहने-यालोंके निगकरणके अर्थ यह विवेचन है कि निर्वाण प्राप्त होनेसे इस आत्माका अपने सच्च स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है । जब कमोद परद्व द्वार हो जाते हैं, तब वह आत्मा स्वयं ही परमात्मा हो जाता है, और अपनी सनामें कायम रहकरके अपने अतीन्द्रिय परम स्वात्मय स्वभावको अनंतकाल भोगता रहता है । यही टीकाकार कहते हैं कि यह तसार्ग-जन कहीं तो स्त्रीकी रतिसे उत्पन्न जो मुरा उगकी तरह खड़ा जाता है, कहीं द्रव्यकी रक्षामें अपनी बुद्धिको कर लेता है, परन्तु जो बुद्धिमान पुरुष है सो जिनेन्द्रके धर्मका लाभ कर अपने आत्मस्वरूपमें रत होता है । ऐसा ही ज्ञानी इस मुक्ति अवस्थाको प्राप्त होता है ।

आगे नियम सम्यक् साध साधका संबंध क्यों किया है, इसका प्रयोजन कहते हैं —

जियमेण च जं कज्जं तण्णियमं पाणदंसणवरिस्सं ।

विषयीयपरिहरद्धे भणिवं सत्तु मारमिदि वयणं ॥३॥

सामान्य अर्थ—नियम करके जी करने योग्य हो सो नियम है। सम्यग्दर्शनज्ञानचात्रि ही नियम है, इससे विरुद्ध कोई नियम नहीं है। इसी लिये निश्चय करके सार ऐसा वचन कहा गया है।

विशेष अर्थ—इस गायामें नियम शब्दके सारणा दिल्लानेके लिये स्वभाव रत्नत्रयका स्वरूप कहा है। जो सहज स्वभाविक अनंत उत्कृष्ट पारिणामिक भावमें उहरा है, जो स्वभावसे अनंत-दर्शनज्ञान-मुक्त-वीर्यरूप ऐसे अनंत चतुष्टयस्वरूप है, तथा जो शुद्ध चेतनाका परिणाम है, सो नियम है। नियम अर्थात् निश्चय करके जो प्रयोजन भूत करने योग्य कार्य है वह दर्शनज्ञानचात्रि है। इसका निश्चय स्वरूप ऐसा है कि भगवान् परमात्माके अतीन्द्रिय मुक्तकी सचि करने वाले जीवमें शुद्ध अंतरंग आत्मीक तत्त्वके आनन्दके उपजनेका स्थान अपने शुद्ध जीवास्तिकायका जो परम श्रद्धान—दृढ़ प्रतीति, सम्यक् निश्चय, सो ही दर्शन है। परद्रव्यका आलम्बन न करके अंतरंगमें अपना उपयोग रखकरके योग शक्तिकी निकटतासे अपने ही आत्मिक परम तत्त्वका ऐसा ज्ञान कि यही उपादेय—ग्रहण करने योग्य है सो ही ज्ञान है। तथा निश्चय दर्शनज्ञानमय कारण परमात्माके स्वरूपमें अविचल अर्थात् दृढ़ताके साथमें लवलीन या तन्मय हो जाना सो ही चात्रि है। ऐसे निजात्मीक तत्त्वकी सम्यक् सचि उसीका यथार्थ ज्ञान तथा उसीमें एक रूपसे उहर जाना सो ही नियम है। यही नियम निवांग-पदका कारण है। कारण सदृश ही कार्य होता है। स्वरूपमें स्थिर रह जानेका उपाय है। यही सार उत्तम उत्कृष्ट करने योग्य उपाय है। इसके सिवाय सर्व असार है, विपरीत है, हेय (त्यागने योग्य) है। इसने उल्टा स्वरूप असार है, इस बातके बतानेके लिये सार पदको नियमके साथ रखनेका प्रयोजन है। इस प्रकार नियमसार शब्दकी सार्थकता वर्णन की। यहां टीकाकार कहते हैं कि मैं विपरीत स्वरूपसे रहित



अनुसृत्य सर्वभूत रत्नत्रय स्वरूपको प्राप्त करके मुनिरूपी शीश उदय  
जो अतीन्द्रिय आनन्द-विद्याम तिमको प्राप्त करता है ।

आगे कहने है कि रत्नत्रयका भेद करके लक्षण करना युक्त है -

**णियमं मोक्षाय उपायो, तत्सफलं दृषति परमणिध्याणं ।  
एदेमि तिष्ठं पिय, पञ्चय परूषणा होइ ॥ ४ ॥**

सामान्य अर्थ—मोक्षका जो उपाय है सो नियम है और इस  
नियम धारणका फल परम निर्वाण अर्थात् मोक्ष है। नियम सम्यग्दर्शन-  
ज्ञान चरित्ररूप है, इस लिये इन तीनोंका भी प्रगट अलग अलग वर्णन  
आगेके सूत्रोंमें किया जायगा ।

विशेषार्थ—अनादि तथा सादि कालसे संचरित आत्माके लगे हुए  
समस्त कर्मोंके फल जानेमें जो महा निरूपम, अविनाशी, अतीन्द्रिय  
आनन्दकी प्राप्ति होती है वही सदा आनन्दस्वरूप परम निर्वाण अर्थात्  
मोक्ष है । तथा आत्माकी अभेद रत्नत्रयरूप जो परिणति है सो ही इस  
महानन्दके प्राप्तिका उपाय है । परन्तु इस अभेद रत्नत्रयका स्वरूप भेद-  
रत्नत्रयके जाने बिना अपने अनुभवमें नहीं आसकता, इसी लिये आचार्य  
दर्शन ज्ञान चरित्रको भिन्न भिन्न प्रतिपादन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं ।

आगे व्यवहारसम्यग्दर्शनको कहते हैं—

**अत्तागमतद्याणं, सद्वहणादो हवेइ सम्मत्तं ।  
ववगयअसेसदोसो, सयलगुणप्पा हवे अत्तो ॥ ५ ॥**

सामान्य अर्थ—आत अर्थात् आगमके ईश देव, आगम अर्थात् जिन-  
बाणी, तथा आगममें वर्णन किये हुए तत्त्व इन तीनोंके श्रद्धाजन करनेमें  
व्यवहार सम्यग्दर्शन होता है । तथा आत वही है सो सम्पूर्ण दोषोंसे  
रहित और सम्पूर्ण गुणमय है ।

यहां टीकाकार कहते हैं कि मुनियोंके लिये शुद्ध एतद्वत्स्वप्न अपने ही आत्माका होना मोक्षका उपाय है, अन्य न तो कोई दर्शन है न ज्ञान है और न चारित्र्य है। ऐसा ही संसारसे मुक्त श्रीअरहंत भगवाने कहा है। ऐसा जानकर भव्यजीव फिर कभी किसी माताके उद्गम नहीं जाता है, अर्थात् गर्भ जन्मके संकटोंसे छूट जाता है।

**विशेष अर्थ—**आप्त अर्थात् पूजने योग्य देव अथवा आगमका वक्ता सम्पूर्ण मोह राग द्वेषादिक दोषोंसे निर्मुक्त है और सर्वज्ञ वीतराग और आत्मिक गुणोंसे विभूषित है। ऐसा गुणवान् वक्ता ही परके हितरूप उपदेशको यथार्थ दे सकता है। इसके अतिरिक्त जो राग और द्वेष तथा स्नेह, भय, काम, निद्रा, जगत्कर्तृत्व, जगतके जीवोंको दंड देनेका गुण इत्यादि दोषोंमें लिप्त है उनके वचन यथार्थ वीतरागरूप नहीं हो सकते। वीतरागीहके वचन वीतरागरूप हो सकते हैं। इसलिये सत्यार्थ आप्त श्री अरहंत भगवान् हैं; जिनकी शांत प्रतिमाको देख कर तथा पूजन कर परम वीतरागरूप निमित्तका सम्बन्ध मिलनेमें भव्यजीव अपने भागोंको उज्ज्वल विशुद्ध और वैराग्यमय करते हैं। ऐसे सत्यार्थ आप्तके मुक्तक मलसे प्रगट होनेवाली जो हितोपदेशमय दिव्य छवि, सां ही समस्त पदार्थोंके विस्तारके समर्थनमें प्रवीण सच्चा आगम है। अंतरंग तात्पर्य परमात्मा तथा वाच्य तत्त्व परमाण्वस्वरूपसे भिन्न पदार्थ, ऐसे दो तत्त्व हैं; अथवा जीव, अजीव, आश्रय, बंध, सत्त्व, निर्जरा और मोक्ष ये मात्र तत्त्व हैं। इन तत्त्वोंके प्रदर्शन करानेवाले आगम है। आगमके द्वारा इन तत्त्वोंका स्वरूप जानना बहुत कार्यकारी है। इसी लिये सत्यार्थ आप्त और तत्त्वोंके यथार्थ भ्रूयान् करनेमें सम्यग्दर्शन होता है। सर्वत्र उपलब्ध यही उपाय है कि वीतराग सर्वज्ञको भले प्रकार अपना हितु माने। यह करने अनुरागे आतछा निश्चय हो जायगा तब सद्बुद्ध हो आगम और तत्त्वोंका निश्चय तब जायगा। इसी लिये निश्चित जानने के लिये

करना ही सम्भवका प्रबल उपाय है । यही टीकाकार कहते हैं कि मेरे संसारके भयकी निटानकारी जिनबाणीकय भगवती ' जो इस लोकमें मेरी भविष्यी नहीं करता है वह संसार समुद्रके मध्यमें जो वृत्तरूपी भाह है उसके मध्यमें खड़ा जाता है ।

आगे आगे अठारहशेषोंसे रहित होता है, इसलिये १८ शेषोंके नाम कहते हैं—

पुष्टतण्डभीयरसो, रागो मांही पिता जरा रुजा मिष्टम् ।  
स्वेदं खेदं मदं रद, विस्त्रियणिहा जणुप्येगो ॥ ६ ॥

सामान्य अर्थ—उपर गाथामें वर्णन किया हुआ आठ १८ शेषोंसे रहित होता है, उस आठके क्षुधा, गुषा, भय, मोह, राग, मोह, जिता, जरा, गम, मृत्यु, पसीना, मेद, मद, रति, आश्चर्य, निद्रा, जन्म आकु-  
टना ऐसे १८ महादोष नहीं होते हैं ।

पिरोष अर्थ—अज्ञाता बेदनी कर्मके तीव्र तथा मन्द उदयसे जिनमें क्लेशका होना सो क्षुधा अर्थात् भूखकी पीड़ा है । केवली आहतके मोहनी कर्मके अभाव होनेसे बेदनी कर्म क्षुधा उपजानेका समर्थ नहीं है । बेदनी कर्म मोहकर्मकी प्रगति रति तथा अरतिके साथ ही परद्रव्यसम्बन्ध-जनित मुख तथा गुस्से वेदन करानेको समर्थ है । मोहके नाशसे जब वीतरागी प्रभु अपने आनन्दमय स्वरूपमें टूटतीन हो गये और अतीन्द्रिय अनंत सुखका स्वाद लेने लग गये तब उस अनुभवस्वादाके उपयोगको हटाकर क्षुधाकी वेदना कराना और फिर क्षुधाका गुस्से मिटकर साताका होना यह बात संभव नहीं है । अंतरायके नाशसे अनन्त बलके धनीको क्षुधासम्बन्धी निर्बलता नहीं पैदा हो सकती है ।

इसी कारण साधारण मनुष्योंके समान आहार अर्थात् चार प्रकारके भोजनमें से किसीका भी ग्रहण केवली आठके नहीं है । उनकी वेह परमोद्धारिक हो जाती है, जिसकी स्थिति शुद्ध नोकर्मवर्णाओंके

ग्रहणसे ही हो जाती है। अनन्त चतुष्टयके स्वामीको छुड़का देना कहना उनके अनन्त चतुष्टयमें बाधाका देना है। इसलिये रस्तीसे स्वामृत भोजन ही है, जो उनकी अनावि कालकी गंभीर कृपाको हम समय में रह रहा है। असाता पेदनी कर्मके तीव्र, तीव्रतर, मंद और मंदतर उदयके वशसे पीड़ाका पेड़ा होना सो तृप्ता अर्थात् प्यास है, सो भी प्रभुके सम्भर नहीं है। आत्मीक रसके पीनेवालेको क्षणिक प्यासको बुझाने वाले जलकी इच्छा कैसे हो सकती है? इस लोक, परलोक, अर्थात् अगुप्ति, मरण, वेदना, आकस्मिक ऐसे सात प्रकारके भयका नाम यह है, सो प्रभुके शरीर, भोग, इन्द्रियजनित मुरा तथा धन, धान्य, कुम्भ, पर, जमीन, चांदी, सुवर्ण आदिसे किसी प्रकारकी भूर्त्ता नहीं है। क्योंकि प्रभुने चारित्रमोहनी और दर्शनमोहनी दोनोंका संघा सह हर डाला है, इसमें श्रीजिनेन्द्र सर्व भयमे रहित अत्यन्त निर्भय हैं। कोप कृपायुक्त उदयसे तीव्र परिणामका होना सो रोष अर्थात् क्रोध है। यह भी क्षमाशील शक्ति प्रभुके नहीं हो सकती। क्योंकि प्रभुने हर कोप कृपायुक्त सनाहा ही नाश अपनी पूर्ण अवस्थामें अर्थात् अनेक पुनिकरण नरमें गुणस्थानमें कर दिया है। राग दो प्रकारका है एक प्रसन्न अर्थात् शुभ, दूसरा अप्रसन्न अर्थात् अशुभ। राग, ईर्ष्या, श्रद्धा, गुरुजनकी वैष्याल्य मरा आदि शुभ कार्योंमें प्रतीना ना उपयोग मो प्रसन्न राग है और भो, राज, चार, मानन इन चार मोक्ष कार्याओं के मुननेमें कोतूहलक्य पांगणाम अर्थात् इनकी के सारी कर्ममें निरम कोतूहल क्य ही मानन्दका मानना मो मनने गने है। यह भी राग ही प्रकार का राग प्रभुके नहीं है। क्योंकि प्रभुने राज निरनन्दक साधन अपना कर्ममें हायुक्त है। चार प्रकार के लोभों में लोभ, धर्म, मुनि, मनसाइ इनकी लोभ साधन भावकी है। यह लोभ है। यह लोभ लोभकी प्रसन्न कृत्य भावका संनिरा नहीं है। चक्रवर्त्ति शुभ विचार कर्मों में प्रसन्न विचार है। यह चक्रवर्त्ति

शुद्धध्यानरूप है। अशुभ विचार करना सो अशुभ चिन्ता है, यह मार्शध्यान और रौद्रध्यानरूप है। सो प्रभुके स्वरूपनिश्चलताके होनेसे इस चिन्ताका प्रवेश नहीं है। यद्यपि शुद्धध्यान कहा जाता है, परन्तु यह कथन मात्र उपचारसे है। श्रीबीतरागी अनंत मुरारीके चिन्ता होनेसे इसमें विशेष पढ़ सकता है। सो प्रभुके चिन्ता नहीं है, इसी लिये मुक्तमें ब्रह्म नहीं है। तिर्यच और मनुष्योंके औदारिक शरीरोंका आयुक्रमके इतनेके निमित्तसे जर्जर हो जाना अर्थात् बूढ़ा हो जाना सो जरा है। मनतबलके धारी कोटिसूर्यसे अधिक प्रभाधारीके शरीरमें जराका स्वप्नमें ही प्रवेश नहीं हो सकता। प्रभुके नख केस ही बढ़ते नहीं हैं। वायु, पित्त कफकी विषमतासे पैदा हुई शरीरमें दाँदा उर्तीका नाम रोग है। सो परमौदारिक महामुन्दर निश्चल शांत ध्यानाकार शरीरमें किसी तरह भी नहीं उत्पन्न हो सकता। आदि और अंतसहित, मूर्तीक, इन्द्रियोंकरके चिद्धित, आत्मीक जातिसे विलक्षण विजातीय नर, नारक, तिर्यच, देवगतिसम्बन्धी विभाव व्यंजनपर्याय अर्थात् औदारिक और शक्तियक शरीरका ही नाश अर्थात् आत्माके सूक्ष्म कार्माण शरीरसे अलग हो जाना सो मरण है। सो प्रभुके परमौदारिक देहका टूटना कार्माण देहके साथ साथ होता है, इससे उनके संसारी जीवोंके समान मरण नहीं है। संसारियोंकी पर्यायका टूटना एक नवीन विभाव व्यंजनपर्यायके जन्म लेनेके लिये होता है। मरण जन्म करके सहित है। तथा स्वाधीन आत्माका अब किसी भी देहमें उपजना नहीं है, इसी कारण प्रभुके मरण अथवा मरणसम्बन्धी वेदना व्यापती नहीं। अशुभ कर्मके उदयसे शरीरमें परिधिमके होनेसे दुर्गंधरूप जलबिन्दुओंका प्रगट होना सो स्वेद अर्थात् पसीना है। सो स्वरूपानन्दी परम शुद्ध शरीरधारीके सम्भव नहीं है। जो वस्तु अपनेको अग्रिय है उसके लाभमें जो रज करना सो सेव है, सो परिग्रह तथा मूर्तारहित स्वरूपानन्दी स्वामीके सेवका प्रकाश कभी सम्भव नहीं है। सहज कविताकी धनुरार्थ, सम्पूर्ण मनुष्योंको सुननेसे आनन्द

हो ऐसी उचनड़ी पट्टना, मनाज शरीर, उनम कुल, अनुउ वन, अनुज  
 ऐश्वर्य आदिक होनेम आत्माके भावमें अहंकार होना मो मद है ।  
 ऐसा मद सायकमम्यनरभारी, शरीरादिवद्रव्यपरिमहत्यागी तथा निज  
 आत्माके उत्कृष्ट मार्दवगुणमें आशक्तके द्विनी भी प्रकारसे नहीं हो  
 सकता । मन हो प्यारी वस्तुओंमें माद प्रीति होना मो रति है । द्वि-  
 नारीमें रति करनेगले, परम वीतरागी, संकल्पविकल्पम्याराकाय  
 मनके अभावको रसनेगले प्रभुके अपनी निज अनुभूतिसे तो रति है,  
 परन्तु उसके सिवाय अन्य किसी भी परद्रव्य, परगुण व परमार्थमें  
 प्रीति नहीं है । परम समरसी भावनासे दूरवती पुण्यांको कर्मी द्विने  
 अपूर्व वस्तुको जिनको पहले नहीं देखा है देखनेसे विस्मय अर्थात्  
 अचम्भेका हो जाना सो विस्मय अर्थात् आश्चर्य है । तीन लोक तथा  
 अलोककी भूत, वर्तमान, और भविष्य सर्व द्रव्योंकी सर्व अवस्थाओंको  
 अपने केवल दर्शन और ज्ञानसे एकही कालमें देखने जाननेवालेके ऐसा  
 कोई पदार्थ व उसकी कोई ऐसी पर्याय ही नहीं है जिसको कि अपूर्व  
 कहा जाय । जब प्रभुके लिये कोई अपूर्व वस्तु ही नहीं है तब प्रभुके  
 विस्मय दाप नहीं हो सकता । केवल शुभ कर्मोंके वशसे देवगतिमें, केवल  
 अशुभ कर्मोंके निमित्तसे नरकगतिमें, मायाचार करके तिर्यचगतिमें, शुभ  
 अशुभ मिश्रकर्मके वशसे मनुष्यगतिमें जाकर जीवका शरीरको प्र-  
 करना सो जन्म है । प्रभुने चारंगतिमें जानेके कारणरूप भावोंका ही ना-  
 कर दिया है । न प्रभुके देवआयुके बंधके कारण सराग संयम, असंयम  
 अकामनिर्जरा, बालतप आदिके भाव है, न जिनेन्द्रश्रेणीके नीचे  
 स्थिति है, जहां ही देवायुका बंध होता है, न स्वर्गके मोह कर्म  
 अत्यन्ताभावसे नरकायुबन्धके कारण बहु आरम्भ और बहुपरिग्रह स-  
 म्वन्धी भाव हैं, न वीतरागीके तिर्यचायु बंधका कारण माया है और  
 अटल मुरा भोक्ताके अल्प आरम्भ, अल्प परिग्रहके भाव हैं और  
 साधारण मार्दव न साधारण सम्यक्त्व है, इसी लिये प्रभु जन्म अथ

अवतारसम्बन्धी क्लेशसे मुक्त है। दर्शनावरणीय कर्मके उदयसे ज्ञान-ज्योतिका अचेत हो जाना ही निद्रा है। श्रीअर्हत परमेष्ठीने पहले ही दर्शनावरणीय कर्मका नाश कर डाला है, इस लिये निरन्तर निज स्वरूपावलोकनमें जागृत हैं, एक समय भी अचेतताको भजते नहीं। इष्ट चेतन तथा अचेतन अथवा मिश्र पदार्थोंसे वियोग प्राप्त करनेपर चित्तमें घबड़ाहटके भावका होना सो उद्देग अर्थात् आकुलता है, सो प्रभुने समस्त पदार्थोंमें समरसी भावका आलम्बन किया है, इससे यह आकुलता संभव नहीं है। इत्यादि १८ महादोष हैं, जिन दोषों करके समस्त तीन लोक व्याप्त हो रहा है, अर्थात् तीन लोकके सर्व ही जीव इन दोषोंसे ग्रसित हैं। इन्द्र, धरणिन्द्र, नवग्रह, भवनवासी, व्यन्तर यज्ञ, यक्षिणी, चाँदिका, आम्बिका, कालिका, चक्रवर्ती, महलेश्वर, महाराजा, राजा, सेठ, धनी, पंडित, मूर्ख, दरिद्री, रोमी, कार्मी, सिंह, व्याघ्र, हाथी, मोर, मूषक तथा समस्त नारकी इत्यादि समस्त संसारी जीव १८ दोषोंसे पीडित हैं। इन महादोषोंसे सर्वथा रहित श्रीबीतगम सर्वज्ञदेव ही है; इसी लिये वही सच्चे आत्मा, देव, पूजनीय माननीय और भजने योग्य हैं। ऐसा ही आत्मका क्षरण हमको मोक्षमार्गका देनेवाला है। जैसा एक आचार्यने कहा है—“धर्म वही है जहा दया है, तप वही है जहाँ विषयोंका निग्रह है, तथा देव वही है जो १८ दोष करके रहित है। इस विषयमें शका नहीं करनी”। ऐसा ही श्रीविद्यानाथ स्वामीने भी कहा है कि “अर्नाष्ट फल जो मुक्ति तिसकी सिद्धिका उपाय आत्मज्ञान है। आत्मबोध मुद्राध्रसे होता है और मुद्राध्रकी उत्पत्ति आत्मसे होती है, इसी कारण बुद्धिमानोंके द्वारा वही पूजने योग्य होता है। क्यों कि मज्जन पुरुष अपने ऊपर किये हुए किसीके उपकारको भुक्त नहीं है।” अमि-

जी वंद्या

दान बाने

॥ श्री गणेशाय नमः ॥ श्री गुरुभ्यो नमः ॥ श्री गुरुदेवे नमः ॥ श्री गुरुदेवे नमः ॥ श्री गुरुदेवे नमः ॥

मृग काट। केने हैं भामी जो भी इन्द्रनिहारी पूज्य हैं, अतिमुक्त सम्पत्तिज्ञानका पाया है तन्व्य जिन्होंने, कामविनयी देव ऐसे औदार्यिक देवोंके नाथ हैं, कुछ अष्टकर्मके समूहका जिन्होंने शिष्य किपरे, जिनके वरणांको नागयज्ञ चतुर्भुज नमस्कार करते हैं, जो भव्यतः कमलोंके प्रकृति करनेके लिये सूर्यके समान हैं, तथा जो अन्तर्द्वारे स्थान हैं ॥ ६ ॥

आगे तीर्थहर परम देवका स्वरूप और भी कहते हैं:-

णिस्सेसदोसरहिआं, केवलणाणाइपरमधिभवजुदो ।

सो परमप्पा उच्चइ, तद्विचरीआं ण परमप्पा ॥ ७ ॥

सामान्य अर्थ- जो सम्पूर्ण दोषोंमें रहित है और जो केवल ज्ञान आदि परम ऐश्वर्यसे संयुक्त है वही परमात्मा कहा जाता है। इससे जो विपरीत अर्थात् विन्दु है वह परमात्मा नहीं है।

विशेषार्थ:- आत्माके गुणको घात करनेवाले ज्ञानावरणी दर्शन-वरणी अंतराय मोहनी ऐसे चार घातिया कर्म हैं। इनका सर्वथा नाश कर देनेसे वह परमात्मा सर्वदोषरहित है, अथवा पूर्वगाथाके १८ महादोषोंके निर्मूलन कर देनेसे वह परमात्मा निर्दोष है। सम्पूर्ण प्रकारसे निर्मल ऐसे केवल ज्ञान, केवल दर्शन, परम वीतरागता परमानन्द आदि अनेक अंतरंग विभव और अष्टमातिहार्यादि बहिरंग विभूतिसे वह परमात्मा अतिशयकरके सुशोभित है। तथा जो निर्दोष और विभवयुक्त होने पर भी कार्यपरमात्मा है, अर्थात् तीन कालमें सम्पूर्ण आवरणों करके रहित, नित्य, आनन्दमय, एकस्वरूप, निजकारण परमात्माकी भावनासे उत्पन्न हुआ ऐसा कार्यपरमात्मा वही भगवान् अर्हत् परमेश्वर हैं। इस भगवान् परमेश्वरसे विपरीत गुणके धारी सर्व ही देवाभास जो देवपुत्रके अभिमानसे दग्ध हैं; परन्तु देव नहीं वे सब ही संसारी हैं। श्रीकुंदकुंड-चार्य दूसरे ग्रन्थकी एक गाथामें कहते हैं:- “जिस देवका तेज अन्तः



दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख, ईश्वरपना तथा तीन लोकमें प्रधानपना है ऐसी महिमाका धारी ही अरहंत होता है ।” श्रीअमृतचंद्रमूरि कहते हैं:—“ जो अपनी कांतिसे दशों दिशाओंको उजला करते हैं, जो अपने तेजसे बड़े बड़े तेजधारियोंके तेजको रोकते हैं, जो अपने रूपसे मनुष्योंके मनको हरते हैं, जिनकी दिव्यध्वनिसे कानोंमें मानो साक्षात् अमृत वर्षता है ऐसा सुख होता है, वे ही १००८ लक्षणके धारी तीर्थ-कर भगवान् बन्दना करने योग्य हैं । भावार्थ यह कि श्री अरहंत परमात्माको अपना परोपकारी समझके उनको ही आत्म-मानके पूजना बन्दना योग्य है ।” यहाँ टीकाकार कहते हैं कि जिस अरहंतके ज्ञानरूपी कमलमें भ्रमरके समान यह लोक और अलोक नित्य स्पष्टपने प्रतिभासमान हैं ऐसे श्रीनेमिनाथ भगवान्को मैं निश्चय करके यजन करता हूँ । उसी प्रभुके प्रसादसे मैं तीव्र तरंगवाले ससार समुद्रको अपनी दोनों भुजाओंसे तर सकूंगा ।

आगे परमागमका स्वरूप कहते हैं:—

तस्स मुहग्गहवयणं, पुब्बावरदोसविरहियं मुद्धं ।

आगममिदि परिकहियं, तेण दुक्कहिया हवन्ति तच्चत्था ॥

सामान्य अर्थ:—ऊपर गाथामें कथित श्री अरहंत परमात्माके मुख-स निकले हुए वचन पूर्वापर दांप करके रहित हैं, और शुद्ध हैं, उसीको आगम कहते हैं । इसी आगममें तत्वाद्योंका वर्णन किया गया है ।

विशेष अर्थ:—निश्चय करके उसी परमेश्वरके द्वारा परमागमका उद्योत हुआ है । कैसा है परमागम, जो श्रीअरहंतके मुखकमलसे निकले चतुर वचनरचनाका समूहरूप पूर्वापरदोषसे रहित है । श्रीअरहंत आत्मा सर्वज्ञ वीतराग हैं, इसी दिये उनके वचनोंके कथनमें ऐसा दांप नहीं है कि पूर्वका कथन आगेके कथनसे छद्दीपी हो जाय । जो अल्पज्ञ हाथके यत्ना होते हैं उनके शास्त्रोंमें यह दोष दृष्टि पड़ता है कि एक स्थानमें

जिसको पुत्र किया है, उसीको दूसरे स्थानमें बिना किसी विवेक भेद-  
 क्षाके सिथिल कर दिया है अथवा निराकरण कर दिया है, एतद्  
 सर्वज्ञ वीतरागकथित परमागममें यह दोष नहीं है। तथा जो दाम्भिक  
 हिंसादि पापक्रियाकी पुष्टिके अभावसे शुद्ध है, क्यों कि निर्मल वीतराग  
 भगवान्‌के द्वारा प्रगट है। वे भगवान्‌ कदापि भी हिंसाका समर्थन नहीं  
 कर सकते। इसी परमागममें जीवादि सात तत्त्व और नव पदार्थों  
 कथन है। केसा है परमागम, अमृतरूप है, जिसके रसको भव्य जीव  
 कर्णरूपी अंजलीसे पीते हैं, फिर केसा है, मुक्तिरूप मुंजरीके मुँह-  
 का वर्पण है अर्थात् जिसको देवनेसे मुक्तिका स्वरूप प्रगट होता है।  
 यही परमागम संसाररूपी महासमुद्रमें डूब रहे जो समस्त भव्यजन उनसे  
 हस्ताउपवन देनेका समर्थ है। यही सत्त्व वेराग्यरूपी घटवड़े शिखर  
 शिखामणि है, अर्थात् वेराग्यकी शोभा परमागमके ज्ञानसे ही है। निर-  
 मोक्षरूपी मङ्गलमें चढ़नेके लिये यह प्रथम सीढ़ी है, अर्थात् परमागम  
 ज्ञान बिना जीव मोक्षार्थपर गमन नहीं कर सकता। तथा कामभारके  
 तुष्णामें उत्पन्न अक्षुभ रागके भ्रमार्थसे जलते हुए समस्त दुखी जीवों  
 मङ्गल केजांझा नाशनका समर्थ जलसे भरे मेधाके समान परमा-  
 गम है।

भावार्थ — इस संग्रहके केशवे पांडित्य जीसे के लिये परमागम  
 अभ्यास परम श्रेष्ठ है—परमागममें जीव अजीव तत्त्वोंको क्या है तत्  
 ज्ञाने अनादि अज्ञानको छोड़कर आत्मज्ञानको कर सकता है। तत्  
 अज्ञानमें अज्ञानसे ही होनेकी वीरकी विभाव भावोंमें मुक्ति है। तत्  
 ज्ञानसे जीवोंको ज्ञानको पदने पादने अज्ञान भवन विनाश नश्वर  
 ज्ञान के ज्ञान निरन्तर करण है। यथाह छोड़कर ही अज्ञान  
 ज्ञान के ज्ञान है। अज्ञानभवन का भवन है। तत् ज्ञान  
 ज्ञान के ज्ञान है। तत् ज्ञान के ज्ञान है। तत् ज्ञान के ज्ञान है।



[illegible]

आगे जीवके उपयोगका लक्षण कहते हैं—

जीवो उवओगमओ, उवओगो णाणदंसणी होई ।

पाण्डुवओगो दुविहो, सहावणाणं विहावणाणंति ॥ १० ॥

सामान्यार्थ—जीव उपयोगमय है, उपयोग ज्ञान दर्शनके भेदसे प्रचार है। ज्ञानोपयोग दो प्रकारका है, एक स्वभाव ज्ञान, दूसरा लिये ज्ञान।

तथा व्याख्या—आत्माके चैतन्य गुणके साथ वर्तनेवाला जो परिणाम प्रवर्तना योग्य वह धर्म है। आत्मा उसका धर्मी है। दीप और प्रकाशके

समान इन दोनोंका सम्बन्ध है । यह उपयोग दो प्रकार है । एक शानोप-  
योग, दूसरा दर्शनोपयोग, शानोपयोग स्वभाव ज्ञान और विभाव ज्ञान  
ऐसे दो भेद रूप है । अमूर्तीक, अभ्यासाध, अतीन्द्रिय और अविनिश्चर  
ऐसा स्वभाव ज्ञान है सो आत्माका निज ज्ञान है । यह शानोपयोग  
स्वभाव ज्ञान भी दो प्रकार है । एक कार्य स्वभाव ज्ञान, दूसरा कारण  
ज्ञान है । इसी केवलज्ञानका कारणरूप परम पारिणामिकभावमें स्थित  
तीन काल सम्बन्धी सर्व उपाधि अर्थात् विभावहित ऐसा जो आत्माका  
सहज ज्ञान अर्थात् स्वरूपरूप ज्ञान सो कारण स्वभाव ज्ञान है । कारण  
स्वभाव ज्ञानके द्वारा ही कार्य स्वभाव ज्ञान प्राप्त होता है । विभाव ज्ञान  
तीन प्रकार है—कुमति कुभुत और विभंग अवधि । यहाँ टीकाकार  
कहते हैं कि जो कोई जिनेन्द्रकथित सम्पूर्ण ज्ञानके भेदोंको जानकर  
परमात्माको त्यागता है और अपने आत्मीक स्वरूपमें स्थिर होता है तथा  
चेतन्यके चमत्कारमात्र स्वभावमें प्रवेश करता है वही जीव मुक्तिरूपी  
रक्षा पति होता है ।

आगे इसी शानोपयोगके भेदोंको आगेकी दो गथाओंमें कहते हैं—  
केवलमिद्विपरहियं, असहायं तं सहायणाणं चि ।  
सण्णाणिदरविपप्पे, विहायणाणं हवे दुविहं ॥ ११ ॥  
सण्णाणं चउभेयं, मदिगुदओही तहेव मणपज्जं ।  
अण्णाणं तिपियप्पं, मदिपाई भेदो चंच ॥ १२ ॥

सामान्यार्थ—अतीन्द्रिय असहाय जो केवलज्ञान है सो स्व-  
ज्ञान है । संज्ञान और विभाव ज्ञान ऐसे दो भेद और हैं । संज्ञानके  
भेद हैं—मति, भुत, अवधि तथा मनः पथ्यदज्ञान । विभाव ज्ञान  
अज्ञानके तीन भेद हैं, कुमति, कुभुत और कुअवधि ।

ऐसे आत्माकी भावना करनी योग्य है । कैसा है आत्मा, जिसका अंत कोई नाथ नहीं है, तथा जो मुक्तिरूप सुंदरीका पति है । इस संसारकर्तृ-लताके मूलको काटनेवाले संक्षेप कथनसे यह ब्रह्ममय उपदेश किया गया ।

**भावार्थः**—श्रीगुरुने ज्ञानके भेद कहकर यह प्रतिपादन किया है कि इस भव्यजीवको अपने आत्माका निश्चय परमात्मस्वरूप अपने उपयोगमें जमाकर ध्यान करना चाहिये । स्वरूप ज्ञानको ही आत्मज्ञान कहते हैं । परी निराकुल आनन्दका साक्षात् देनेवाला है । जब यह अंतरात्मा पुण्य पाप, सुख दुःख परिग्रह आदि भावोंसे दूरवर्ती निजभावका मनन करता है तब इस भेदज्ञानका सुन्दर फल जगतको मंगलदायक आनन्दस्वरूप पान पवित्र ज्ञान ज्योतिको प्रगट कर दिखाता है । मैं सर्वथा प्रकार शुद्ध चैतन्यमय हूँ, यह जानकर निर्विकल्प होता हूँ । यही दशा मेरे सब ज्ञानका साम्राज्य है और मैं इसका धनी स्वामी हूँ । यही भावना इस जीवके गुप्त शुद्ध स्वभावको प्रगट करती जाती है । इस कारण सर्व कार्य त्याग इस स्वरूपभावनारूपी रमणीक वनमें रमनेका उपाय करना योग्य है ।

यहां टीकाकार कहते हैं कि जो भव्य जीव ऊपर लिखित भेदज्ञानको प्राप्तकरके भयानक संसारका मूल समस्त पुण्य पाप सुख दुःखको अनि-शयकरके त्यागता है सो भव्यजीव सर्व सुखोंमें श्रेष्ठ ऐसे अविनाशी आनन्दको प्राप्त करता है । जो बुद्धिमान शर्णा है सो परिग्रहके आग्रह अर्थात् हठको त्यागकरके तथा देहमें उपेक्षा अर्थात् देह नह छोड़कर निराकुल चैतन्यमात्र शरीरहीनकी भावना करता है । शुभ तथा अशुभ, रागके दूर होनेसे मोहका विध्वंस होता है । मोहके जड़ मूलसे चने तथा द्वेषरूपी जड़से भरे मनरूपी घटके फूट जानेसे पवित्र और . . . ज्योति सर्व उपाधिरहित और नित्य उदयरूप प्रगट होगी

है। किसी है ज्ञानज्योति, जो भेदज्ञानरूप वृक्षका सच्चा फल है—जगतमें मंगलरूप इस ज्ञानज्योतिको मैं बन्दना करता हूँ। यह आत्माका स्वाभाविक सहज ज्ञान जो आनन्दके विस्तारसे पूर्ण है सो मोक्ष अवस्थामें प्रगट रहता है। ऐसे सहज ज्ञानकी सदा जय हो। कैसा है यह सहज ज्ञान, जो सर्व बाधाओंसे रहित है, प्रगट आत्माकी सहज अवस्था है, आत्माके अंतरंगमें प्रगट है, अपने स्वाभाविक विलासरूप चैतन्यके चमत्कारमात्र स्वरूपमें लीन है। तथा जिसने अपनी आत्म ज्योतिसे अज्ञान अधकारको दूर करदिया है। तथा अपने चारित्र्यकरके नित्य ही अभिराम अर्थात् सुन्दर है। मेरा आत्मा स्वाभाविक सहज ज्ञानका राज्य है सर्व प्रकार शुद्ध चैतन्य रूप है, ऐसा जानकर मैं विकल्म रहित होता हूँ।

अब दर्शनोपयोगके भेदोंका प्रतिपादन करते हैं:—

तह दंसणउवओगो, ससहावेदरवियप्पदो दुविहो ।  
केवलमिंदियरहियं, असहायं तं सहायमिदि मणिदं॥१२॥

सामान्य अर्थ—तैसे ही दर्शनोपयोग दो प्रकारका है एक स्वभाव दर्शनोपयोग, दूसरा विभाव दर्शनोपयोग। जो केवल दर्शन इन्द्रियोंके व्यापाररहित असहाय है वह स्वभाव दर्शनोपयोग है।

विशेषार्थ—इस गायामें दर्शनोपयोगका स्वरूप कथन है। जैसे ज्ञानोपयोग अनंक विकल्पोंका धनी है ऐसे ही दर्शनोपयोग भी है। स्वभाव और विभाव इस तरह दो भेदरूप है। स्वभाव दर्शनोपयोग भी दो प्रकारका है, एक कारण स्वभाव दूसरा कार्य स्वभाव। अब कारण स्वभावको कहते हैं—कारण स्वभाव दृष्टि अपने स्वरूपकी श्रद्धा मात्र ही है, निजरूप है, सदा पवित्ररूप है, औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायक ऐसे चार विभाव स्वभावरूप भावोंसे अगोचर हैं, सहज परम पारिणामिक भाव स्वभावरूप हैं, कारण समदसार अर्थात् कारण शुद्धात्म-स्वरूप है, आवरणरहित स्वभाव है निज स्वभावका सत्ताभाव भाव है;

ऐसे भात्माकी भावना करनी योग्य है । केसा है आत्मा, जिसका मैं कोई नाथ नहीं है, तथा जो मुक्तिरूप सुन्दरीका पति है । इस संसाररूप-तत्ताके मूटको काटनेवाले संक्षेप कथनसे यह ब्रह्ममय उपदेश किया गया ।

**भावार्थ**—श्रीगुरुने ज्ञानके भेद कहकर यह प्रतिपादन किया है कि इस भव्यजीवको अपने आत्माका निभय परमात्मस्वरूप अपने उपदेशने जमाकर ध्यान करना चाहिये । स्वरूप ज्ञानको ही आत्मज्ञान कहते हैं । यही निराकुल आनन्दका साक्षात् देनेवाला है । जब यह अंतर्गन्ता पुन्य ना मुक्त दुःख परिग्रह आदि भावोंसे दूरवर्ती निजभावका मनन करता है तब इस भेदज्ञानका सुन्दर फल जगतको मंगलदायक आनन्दस्वरूप पवन पवित्र ज्ञान ज्योतिको प्रगट कर दिखाता है । मैं सर्वथा प्रकार शुद्ध चैतन्यमय हूं, यह जानकर निर्विकल्प होता हूं । यही दशा मेरे सर्व ज्ञानका सांप्राप्त्य है और मैं इसका धनी स्वामी हूं । यही भावना इस जीवके गुप्त शुद्ध स्वभावको प्रगट करती जाती है । इस कारण सर्व कार्य त्याग इस स्वरूपभावनारूपी रमणीक वनमें रमनेका उपाय करना योग्य है ।

यहां टीकाकार कहते हैं कि जो भव्य जीव ऊपर लिखित भेदज्ञानको प्राप्तकरके भयानक संसारका मूल समस्त पुण्य पाप मुक्त दुःखको अविनाशकरके त्यागता है सो भव्यजीव सर्व मुक्तोंमें श्रेष्ठ ऐसे अविनाश आनन्दको प्राप्त करता है । जो बुद्धिमान प्राणी है सो परिग्रहके जग्रह अर्थात् हठको त्यागकरके तथा देहमें उपेक्षा अर्थात् देह नेह छोड़कर निराकुल चैतन्यमात्र शरीरहीकी भावना करता है । शुभ तथा अशुभ समस्त रागके दूर होनेसे मोहका विध्वंस होता है । मोहके जड़ मूलसे चले जानेसे तथा द्वेषरूपी जलसे भरे मनरूपी घटके फूट जानेसे पवित्र और श्रेष्ठ ज्ञानरूपी ज्योति सर्व उपाधिरहित और नित्य उदयरूप प्रगट होती



है। कैसी है ज्ञानज्योति, जो भेदज्ञानरूप वृक्षका सच्चा फल है—जगतमें मंगलरूप इस ज्ञानज्योतिको मैं बन्दना करता हूँ। यह आत्माका स्वाभाविक सहज ज्ञान जो आनन्दके विस्तारसे पूर्ण है सो मोक्ष अवस्थामें प्रगट रहता है। ऐसे सहज ज्ञानकी सदा गय हो। कैसा है यह सहज ज्ञान, जो सर्व बाधाओंसे रहित है, प्रगट आत्माकी सहज अवस्था है, आत्माके अंतरगममें प्रगट है, अपने स्वाभाविक विलासरूप चैतन्यके चमत्कारमात्र स्वरूपमें लीन है। तथा जिसने अपनी आत्म ज्योतिसे अज्ञान अधकारको दूर कर दिया है। तथा अपने चारित्रिकरके नित्य ही अभिराम अर्थात् सुन्दर है। मेरा आत्मा स्वाभाविक सहज ज्ञानका राज्य है सर्व प्रकार शुद्ध चैतन्य रूप है, ऐसा जानकर मैं विकल्प रहित होता हूँ।

अब दर्शनोपयोगके भेदोंका प्रतिपादन करते हैं:—

तह दंसणउवओगो, ससहावेदरवियप्पदो दुचिहो ।  
केवलमिंदियरहियं, असहार्यं तं सहायमिदि भणिदं॥१३॥

सामान्य अर्थ—तैसे ही दर्शनोपयोग दो प्रकारका है एक स्वभाव दर्शनोपयोग, दूसरा विभाव दर्शनोपयोग। जो केवल दर्शन इन्द्रियोंके व्यापाररहित असहाय है वह स्वभाव दर्शनोपयोग है।

विशेषार्थ—इस गायामें दर्शनोपयोगका स्वरूप कथन है। जैसे ज्ञानोपयोग अनेक विकल्पोंका धनी है ऐसे ही दर्शनोपयोग भी है। स्वभाव और विभाव इस तरह दो भेदरूप है। स्वभाव दर्शनोपयोग भी दो प्रकारका है, एक कारण स्वभाव दूसरा कार्य स्वभाव। अब कारण स्वभावको कहते हैं:—कारण स्वभाव दृष्टि अपने स्वरूपकी श्रद्धा मात्र ही है, निजरूप है, सदा पवित्ररूप है, औदयिक, ओपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायक ऐसे चार विभाव स्वभावरूप भावोंसे अगोचर है, सहज परम परिणामिक भाव स्वभावरूप है, कारण समयसार अर्थात् कारण शुद्धात्म-स्वरूप है, आवरणरहित स्वभाव है निज स्वभावका सत्तामात्र भाव है;

परम चैतन्य स्वरूप है, अकृत्रिम परम स्वरूपमें निश्चल स्थितिमें शुद्ध चारित्ररूप है, नित्य शुद्ध कर्माजनरहित ज्ञानरूप है तथा अज्ञानके वैरी राग द्वेषादि सेनाकी ध्वजाको विध्वंस कर्ता है ऐसे आत्मस्वरूपका निश्चयकरके स्वरूपश्रद्धान मात्र ही कारण स्वभाव दर्शन है। दूसरी कार्य स्वभाव दृष्टि है जो दर्शनावरणीय ज्ञानावरणीय आदि पातिया कर्मोंके नाश होनेसे उत्पन्न हो जाती है। यह दृष्टि भी श्री तीर्थंकर परमदेवके केवल ज्ञानके समान एक ही समयमें लोक और अलोकके सामान्य अवलोकन करनेवाली है। कैसे हैं श्री तीर्थंकर परमदेव, वे पातिया कर्मोंके क्षय होनेसे क्षायकलञ्चिधारी हैं, सम्पूर्ण रूपसे निर्जड केवलज्ञानके द्वारा तीन लोकके ज्ञाता हैं, अपने आत्मस्वरूपसे उत्पन्न परम वीतरागरूप जो सुप्त अमृत उत्तके समुद्र हैं, यथाख्यात नन्दके कार्यरूप शुद्ध चारित्रिके धारी हैं, आदिरूप परन्तु अनन्त ऐसा अनूर्तक अतीन्द्रिय स्वभावकी प्रगटतासे शुद्ध सदभूतव्यवहारनयात्मक हैं, अर्थात् शुद्ध सदभूतव्यवहारनयसे अनूर्तक अतीन्द्रिय स्वभावकी प्रगटता से ऐसा कहनेमें आता है, तीन लोकके मध्य जीवोंके द्वारा प्रत्यक्ष बदनाम योग्य हैं। इस तरह कारण और कार्यरूप दर्शनापयोगका स्वरूप करा। भावार्थ—शुद्ध परमात्म तत्त्वकी सामान्य निश्चल श्रद्धा ही आत्मके स्वाभाविक गुण केवल दर्शनकी व्यक्तताका साधन है, इसलिये कारण स्वभाव दृष्टिको उपादेय जान प्रीति करना योग्य है। यहाँ टीकाकार श्रद्धा हैं कि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप ही एक चैतन्य सामान्यका जन्म आत्मीकृतत्व है। यह तत्त्व अतिशयसे मुक्तिकी इच्छा करनेवालोंके लिये दर्पणके समान है। इस मार्गके धारेबिना मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

आम विभाव दर्शनोपयोगको कहते हैं—

चक्षु अचक्षु आँही, तिण्णिचि माणिवं विभावदिच्छति।  
दुधियप्पो, सपरावंस्सो य णिरवेस्सो ॥ १४ ॥

सामान्यअर्थ—चक्षु, अचक्षु, और अवधि ये तीनही विभाव दर्शन कहे गये हैं । पर्याय दो प्रकारकी होती हैं, एक स्वप्रापेक्ष और दूसरी निरपेक्ष ।

विशेष अर्थ—इस माध्यामे अशुद्ध दर्शन और शुद्ध अशुद्ध पर्यायकी सूचना है । जैसे मतिज्ञानावरणी कर्मके क्षयोपशमसे मतिज्ञान मूर्तीक पदार्थको जानता है वैसे चक्षुदर्शनावरणी कर्मके क्षयोपशमसे चक्षुदर्शन मूर्तीक पदार्थको देखता है । जैसे श्रुतज्ञान श्रुतज्ञानावरणी कर्मके क्षयोपशमसे श्रुतद्वारा द्रव्यश्रुत अर्थात् श्राव्यशामरूप जिनवचनमें कहे हुए मूर्तीक और अमूर्तीक समस्त वस्तुओंको परोक्षरूपसे जानता है ऐसे ही अचक्षुदर्शनावरणी कर्मके क्षयोपशमसे अचक्षुदर्शन स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्रके द्वारा अपनी अपनी इन्द्रियके विषयको सामान्य रूपसे देखता है, अर्थात् मालूम करता है । जैसे अधिगिरान अवधिज्ञानावरणी कर्मके क्षयोपशमसे समस्त मूर्तीक पदार्थोंको जानता है ऐसे ही अवधिदर्शन अवधि दर्शनावरणी कर्मके क्षयोपशमसे मूर्तीक पदार्थोंको देखता है । इसप्रकार उपयोगका व्याख्यान किया । अब पर्यायका स्वरूप कहते हैं । “ परि समंतात् भेदश्च एति गच्छति इति पर्याय ” जो सर्व तरफसे भेदको प्राप्त हो अर्थात् जो एणिमन करे सो पर्याय है । प्रथम स्वभाव पर्याय है, यह उहाँ द्रव्योंमें साधारण है, अर्धपर्यायरूप है, वचन और मनके अगोचर है, अत्यन्त सूक्ष्म है । आगम प्रमाणसे अनुभव करने योग्य है, तथा छ. प्रकारकी बुद्धि और छ. प्रकारकी हानिकरके सहित है । अनंत भागबुद्धि, असंख्यात भाग बुद्धि, पर्यायत भागबुद्धि, संख्यात गुणबुद्धि, असंख्यात गुणबुद्धि, अनंत गुणबुद्धि, इसीतरहसे छः भेदरूप हानि है । यह बुद्धि हानि अगुणलुपु गुणमें होती है । इसका दृष्टान्त ऐसा है कि जैसे समुद्रमें जल उतना ही है उसमें जो तरंगे उठती है फिर वेड जाती है उनसे समुद्रके अंठमें हानि नहीं होती । जैसे निर्मल दुग्धमें

प्रभामें चमककी चंचलता है, कभी हीन कभी तीव्र है उसीप्रकार इस आगमोक्त वृद्धि और हानिको समझना । दूसरी अशुद्ध पर्याय है जो नारक तिर्यच और देवरूप है । इसको व्यञ्जनपर्याय भी कहते हैं । यही टीकाकार कहते हैं कि जो मनुष्य उत्कृष्ट भावके होनेपर निर्मलवृद्धि होता हुआ स्वाभाविक गुणरत्नोंकी सान पूर्ण ज्ञानमय एक अपने शुद्ध आत्माका भजन करता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टी जीव मोक्षरूपी रत्नाकार होता है । इस प्रकार उत्कृष्ट गुण और पर्यायके होनेपर उत्तम पुरुषोंके इदम्-रूपी सरोवरमें जो कारणरूप आत्मा शोभायमान होता है, हे मन्थरूपी सिंह, तू उसी परब्रह्मरूप समयसार आत्माको भजन कर, जो अपने ही स्वभावमें उदयमान है । यही आत्मा कहीं अपने सत्यगुणोंसे शोभता है, कहीं अशुद्ध गुणोंसे विराजता है, कहीं अपनी स्वाभाविक पर्यायोंसे, तथा कहीं अशुद्ध पर्यायोंसे शोभता है । ऐसा होनेपर भी यह जीव तत्त्व समस्त विभाव गुण पर्यायोंसे रहित है, मैं सदा ही अपने सर्व प्रयोजनोंकी सिद्धिकेलिये उसी तत्त्वको नमन करता हूँ और उसीकी चार चार भावना करता हूँ ।

आगे स्वभाव विभाव पर्यायका विस्तार कहते हैं—

णरणारयतिरियसुरा, पज्जाया ते विभावमिदि भाणिदा ।  
कम्मोपाधिविवाज्जिय, पज्जाया ते सहावमिदि भाणिदा १५

सामान्य अर्थ—नर, नारक, पशु और देव ये चार मुख्य विभाव पर्याय कही गई हैं । जो पर्याय कर्मोंकी उपाधिसे रहित हैं वे स्वभाव पर्याय हैं ।

विशेष अर्थ—इस गाथामें स्वभाव और विभाव पर्यायका संक्षेप कथन है । स्वभाव पर्यायोंके मध्यमें स्वभाव पर्याय दो भेदरूप की जाती है । पहली कारण शुद्ध पर्याय दूसरी कार्य शुद्ध

पर्याय । इस लोकमें शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षासे आदि और अंत दोनोंसे रहित अमूर्तीक अतीन्द्रिय स्वभावसे शुद्ध स्वाभाविक ज्ञान, स्वाभाविक दर्शन और स्वाभाविक चारित्र तथा स्वाभाविक परम वीतराग सुखमय शुद्ध अंतरंग तत्त्वरूप स्वभावमय अनंत चतुष्टय जो निज-स्वरूप है उसके साथ विराजमान जो पंचम पारिणामिक भावकी परिणति है वही कारण शुद्ध पर्याय है । कारण शुद्ध पर्यायका मनन कार्य्य शुद्ध पर्यायकी उत्पात्तिका साधन है । आदिसहित और अंतरहित जो अमूर्तीक अतीन्द्रिय स्वभावसे शुद्ध ऐसे सद्भूत व्यवहार-नयके द्वारा केवल ज्ञान केवल दर्शन केवल सुख और केवल वीर्य्यकरके सहित फलरूप अनंत चतुष्टयके साथमें परम उत्कृष्ट क्षायिक भावकी जो शुद्ध परिणति है वही कार्य्य शुद्ध पर्याय है । भावार्थ-शुद्ध आत्माके शुद्ध निश्चय स्वरूपके साधनेसे ४ धातियाक्रमोंका नाश होता है, जब क्षायिक भावकी प्राप्ति होकर अरहत अवस्था प्राप्त होती है । अथवा पूर्व सूत्रमें कहें हुए सूक्ष्म ऋजुगूत्र नयके अभिप्रायसे वह द्रव्योंमें साधारण सूक्ष्म जो अर्थ पर्याय है, वे भी शुद्ध पर्याय है, ऐसा जानना योग्य है । इस तरह संक्षेपसे शुद्ध पर्यायके भेद कहे । अब व्यञ्जन पर्यायको कहते हैं । जिसकरके पदार्थ प्रगट हो सो व्यञ्जनपर्याय है । जैसे रसट आदिकी पर्याय अपने नेत्र गोचर है, अथवा आदि और अंत सहित मूर्तीक निज जाति सिद्धाप विजातीय विभाव स्वभावको जो धार तथा जो दिसलाई पड़े और नाश होजाय सो व्यञ्जन पर्याय है । संसारी जीवोंके आत्मज्ञानके बिना अपनी पाई हुई जो पर्याय उसी रूप अपना स्वभाव करलेनेसे जो अपने शुभ अशुभसे मिले मिश्र-परिणाम होते हैं उनके निमित्तसे यह जीव व्यवहार नयकरके नर होता है, अर्थात् मनुष्यके आकार नर पर्याय भोगता है । यही संसारी जीव कुछ शुभ कुछ मिश्र और मायाचाररूप परिणामकरके तिर्यचकी

कायमें जाता है, व्याहार नयकरके पंचेन्द्रियारिके आहार होय तब  
पर्याय भोगता है। यही जीव अपने केवल शुभ परिणामके द्वारा बड़े बड़े  
कर्मोंके निमित्तसे व्याहार नयमें ईश्वर आहार और शरीर धन का  
देखपर्यायका भोगता है। (अशुभ परिणाममें बांधे हुए कर्मोंसे व्या-  
हार नयकरके नरकर्यायको भोगता है)। यह चार्गे गतिरूप जीवके शरीरको  
प्रगटता सा विभाव व्यंजन पर्याय है। इन पर्यायोंका विशेष स्वरूप  
आगमसे जानना योग्य है। टीकाकार कहते हैं कि जीवके विभाव होने  
पर भी जो कोई सम्प्रगट्टी तत्त्वाभ्यासमें अपनी बुद्धिको जनाकरके  
मानता है कि शुद्ध आत्माके स्वभाव सिंगार और कोई मेरा कल्याण-  
कारी नहीं है वह जीव मुक्तिरूपी लक्ष्मीका पति होता है। भावार्थ—  
अपनी इस पर्यायको कर्मकृत मान इसको त्याग्य समझ इससे उद्-  
सीन बुद्धिहरके निज स्वभावमें रमनेकी उत्कंठा करनी योग्य है।  
अब चार गतिको विशेष स्वरूप कहते हैं—

माणुस्ता दुवियप्पा, कम्ममहीमोगभूमिसंजादा ।

सत्तविहा णेरइया, णादब्बा पुढविभेएण ॥ १६ ॥

चउदहभेदा माणिदा, तेरिच्छा सुरगणा चउम्भेदा ।

एदेसिं वित्थारं, लोयविभागेसु णादब्बं ॥ १७ ॥

सामान्य अर्थ—मनुष्य दो प्रकारके होते हैं, कर्मभूमिज और भोगभूमिज  
नारकी ७ प्रकारके जानने। पृथ्वी आदि भेद करके १४ प्रकार तिर्यच  
तथा चार प्रकारके देव होते हैं। इनका विस्तार 'लोकविभाग' न  
आगममें जानना योग्य है।

विशेष अर्थ—इन गाथाओंमें ४ गतिको निरूपण है। १।  
अर्थात् कुलकर उनके अपत्य अर्थात् सन्तानोंको मनुष्य कहते हैं  
कर्मभूमिकी आदि और भोगभूमिके अंतमें १४ कुलकर तब  
अपभेद और श्रीभरत चक्रवर्तीको ले १६ कुलकर हुए हैं। इनको

ही मनुष्योंको आजीविकाके साधन व अन्यआवश्यक कर्म बताये। यह  
 लक्ष्मण पितासमान रक्षक होते हैं। इसीकारण उनके द्वारा लालित  
 गलित होनेवाले सर्व मनुष्य कहलाये। अब यह शब्द स्वरूप वर्तनेमें  
 जाता है। मनुष्य दो प्रकारके, है एक कर्मभूमिज दूसरे भोगभूमिज। कर्मभू-  
 मिके मनुष्य भी दो प्रकारके हैं, आर्य्य और म्लेच्छ। जो पुण्यक्षेत्र निवासी  
 वे आर्य्य हैं और जो पापक्षेत्रवर्ती हैं वे म्लेच्छ हैं। भोगभूमिजोंको भी  
 आर्य्य कहते हैं। ये जघन्य, मध्यम और उत्तम क्षेत्रमें निवास करनेसे  
 निभेदरूप हैं तथा रत्न, शर्करा, बालुका, पंक, धूम, तम और महातम  
 की सात प्रकारकी प्रभाओंको धारण करनेवाली सात श्रवितियों हैं, जिनके  
 निवासी नारकी जीव सात प्रकारके होते हैं। पहले नरकके नारकी एक  
 सागरोपम आयुधारी, दूसरेके तीन सागरोपम, तीसरेके सात, चौथेके  
 द्वादश, पांचवेंके सत्रह, छठेके बाईस और सातवेंके तैसीस सागरोपम आयु-  
 धारी हैं। यही विस्तारके भयसे संक्षेप कहा है। तिर्यचोमें १४ भेद  
 -१ सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त, २ सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त, ३ वादर  
 एकेन्द्रिय पर्याप्त, ४ वादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त, ५ दीन्द्रिय पर्याप्त,  
 ६ दीन्द्रिय अपर्याप्त, ७ तेन्द्रिय पर्याप्त, ८ तेन्द्रिय अपर्याप्त, ९ चोन्द्रिय  
 पर्याप्त, १० चोन्द्रिय अपर्याप्त, ११ पंचेन्द्री असंशी पर्याप्त, १२ पंचेन्द्री  
 असंशी अपर्याप्त, १३ संशी पंचेन्द्री पर्याप्त, १४ संशी पंचेन्द्री  
 अपर्याप्त। भवनवासी, व्यंता, ज्योतिषी, कल्पवासी ऐसे देवोंमें  
 शर जातिके समूह हैं। इन चारों गति सम्बन्धी जीवोंका वर्णन  
 टीकाविभाग नाम परमागमसे जानना योग्य है। यही आत्मस्वरूपका  
 ग्रन्थ है, अतः लोकका विशेष कथन सूत्रकार पूर्वाचार्यने यही नहीं  
 किया है। यही टीकाकार प्रार्थना करते हैं कि हे जिनेन्द्र स्वर्गमें हो,  
 तस मनुष्यभवमें व विषाधरोंके लोकमें हो, व देवलोक, ज्योतिर्लोक  
 व भवनवासीके भवनमें, व नारकियोंके निगसमें हो, व जिनेन्द्र  
 भवनमें हो व अन्य किसी स्थानमें हो हमें कर्मोंकी उत्पत्ति न हो; परन्तु

पुनः पुनः आपके चरण कमलोंकी भक्ति ही हमको शान्त होने देगी। हे मैं तू राजा महागजाओंकी विभूति हो मुनिकर व देविकर क्यों संतुष्ट कल है ? हे जड़बुद्धि, सब पुण्यसे पैदा होती हैं। यदि श्रीजिनेन्द्रके चरणकमलोंमें तेरी भक्ति है और उन चरणोंकी पूजामें टवर्जन है, तो यह नानाप्रकारके भोग आपमें आप हो जायेंगे।

आगे कर्त्ता भोक्तापनेको कहते हैं:—

कर्त्ता भोक्ता आदा, पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारो ।  
कम्मजभावेणादा, कर्त्ता भोक्ता दु णिच्छयदो ॥ १८

सामान्य अर्थ—यह आत्मा पुद्गल कर्मका कर्त्ता और भोक्ता है। हे सां व्यवहार नयसे है। कर्ममें उत्पन्न हुए जो भाव तिनका कर्त्ता और भोक्ता है सो अशुद्ध निश्चयनयसे है।

विशेषार्थ—इस गायामें कर्त्ता और भोक्तापनेका कथन है। निम्न-

आदि भाव कर्मोका कर्त्ता और भोक्ता है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे नो कर्म जो औदारिक शरीरादि तिनका कर्त्ता है, तथा उपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे यह आत्मा घट पट रथ गाड़ी आदि पदार्थ कर्त्ता है। इस प्रकार अशुद्ध जीवका स्वरूप कहा। भावार्थ—आदा यह बतलाते हैं कि कोई एक अनादि शुद्धबुद्ध ईश्वर कर्त्ता नहीं है, कि यह संसारी अशुद्ध आत्मा ही नाना प्रकारकी अवस्थाओंका बनानेवाला और अपनेही कर्तव्यके अनुसार सुख दुःख फलोंको भोगने वाला है। इस निश्चयनय जो वस्तुके यथार्थ शुद्ध स्वभावको बतलाने वाला है उसमें अपेक्षा यह आत्मा निज शुद्ध पारिणामिक भावका ही कर्त्ता और भोक्ता



है । परन्तु अशुद्ध निश्चयनय जो वस्तुके अशुद्ध भावको बतलानेवाला है उसकी अपेक्षासे यह आत्मा पूर्व बाध कर्मोंके परिणामनके निमित्तसे पैदा होनेवाले जो राम द्वेषादि औपाधिक भाव तिनका कर्ता और भोक्ता है । अत्यन्त निकट अर्थात् एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्धको बतलानेवाला ऐसा जो अनुपचरित अर्थात् जिसको मात्र कल्पना ही नहीं किया है किन्तु जो वास्तवमें सम्बन्धित है तथा जो असद्भूत अर्थात् आत्माकी सनामें नहीं है, ऐसा जो व्यवहारनय उसके द्वारा देखा जाय तो यही आत्मा द्रव्य कर्मोंका कर्ता और तिनके बाह्य प्रगट होनेवाले सुखदुःखका भोक्ता है । तथा दूरवर्ती अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयकरके यह आत्मा स्थूल शरीरका कर्ता है । तथा कल्पना मात्र ऐसे उपचरित और असद्भूत व्यवहारनयसे यह आत्मा पर पदार्थ जिनका अपनेसे अर्थात् अपने प्रदेशोंसे बिड़कुल सम्बन्ध नहीं है ऐसे घट पटादिका कर्ता है । यहाँ टीकाकारने आत्मानुभवकरके कहा है कि जो आत्मा रागद्वेष मोहमें लिप्त हो रहा है यदि परम गुरुके चरणकमलकी सेवा करे तो उसके प्रसादमें स्वाभाविक शुद्धात्मरूपको जो विकल्प अर्थात् भेदरहित है उसको पहचान करके मोक्षरूप स्वीकार हो जाता है । क्योंकि भावकर्म जो रागादि इनको रोकनेसे द्रव्यकर्म रुकते हैं और द्रव्यकर्मोंके सेवरसे संसारका निराध है । यह मूढ़ जीव सम्यग्ज्ञानरूपी भावसे छूटा हुआ शुभ तथा अधुभ अनेक प्रकारके कर्मोंको करता है । यदि यही जीव कर्मरहित मोक्षमार्गकी थोड़ी भी इच्छाकरके उसको जाने तो इस लोकमें उसकी रक्षाका उपाय दूसरा नहीं है । जो जीव कर्मजनित सम्पूर्ण बाधात्मक सुखको त्यागता है वह सम्यग्दृष्टि भव्य आत्मा कर्मरहित निराकुल आनन्द समूह-रूप अमृतके समुद्रमें दूबेहुए अत्यन्त ही शुद्ध चैतन्यमय एकरूप अद्वितीय अपने आत्मीय भावको प्राप्त करता है । मरमें वास्तवमें कोई विभाव नहीं है, इसलिये मुझे उसकी कोई चिन्ता नहीं है । मैं निरन्तर अपने इन्द्रियकमलमें विराजमान सर्व कर्मसे रहित एक शुद्ध आत्माका ही



जीवोंका परिणमन अर्थ पर्यायोंके द्वारा होता है व्यंजनपर्यायोंके द्वारा नहीं होता क्योंकि श्रीसिद्ध महाराज सदा निरंजन हैं, अर्थात् कर्मरूपी अंजनसे रहित हैं । प्रगटरूपसे अवस्थाका बदलना सो व्यंजनपर्याय है, जैसे देवसे मनुष्य होना । प्रगटरूपसे एक पर्याय रहते हुए अंतर्गुणोंमें परिणमन होना सो अर्थपर्याय है । जैसे श्रीसिद्ध महाराजका एक गुण अनंत ज्ञान है । ज्ञेय ( जानने योग्य ) पदार्थोंको जाने सो ज्ञान । ज्ञेय पदार्थ समय समय उत्पत्ति विनाश और भ्रष्ट गुणसे संयुक्त है । ऐसा ही अनंत ज्ञानमें भी परिणमन होता है । यहाँ कोई शंका करे जब सिद्ध सदा निरंजन हैं तब गाथामें यह कहना व्यर्थ होगा कि सर्व जीव द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयोंके द्वारा दोनों पर्यायोंकरके संयुक्त हैं इसका समाधान इस भाँति है कि नैगमनय तीन प्रकार है—नैगम नाम विकल्पका है विकल्पमें होवे सो नैगम है । भूत नैगम, वर्तमान नैगम, और भावी नैगम । गत अवस्थाका विकल्प पदार्थमें कहना सो भूत नैगम, वर्तमान अवस्थाका विकल्प सो वर्तमान नैगम—सम्पूर्ण कार्य्य न होते हुए कार्य्य होना कहना, भावी अवस्थाको पदार्थमें कहना सो भावी नैगम । यहाँ पर भूत नैगम नयकी अपेक्षासे सिद्धोंके भी व्यंजनपर्यायकी संभवता है, सिद्ध अवस्था होनेके पूर्व सर्व जीव संसारी अशुद्ध होते हैं । अधिक क्या कहें सर्व ही जीव दोनों नयोंके द्वारा शुद्ध और अशुद्ध हैं । ऐसा ही श्री अमृतचंद्र सूरिने कहा है—जो जीव स्यात् पदसे विहित और दोनों नय अर्थात् निश्चय व्यवहार नयके विरोधको दूर करनेवाले ऐसे जिनेन्द्रके वचनोंमें रमते हैं वे मोहको वमन कर देते हैं और सीध ही अतिशयसे परम ज्योतिरूप समयसार अर्थात् शुद्धात्मा तिसको देखते हैं । कैसा है समयसार, जो नहीं नही है तथा किसी छोटी नयकी वशसे संभने योग्य नहीं है । यही टीकाकार कहते हैं “ जो संतपुरुष दोनों नयोंकी युक्तियोंको नहीं ऊँचन करते हुए वाम जिनेन्द्रके चरण कमलोंक मल भ्रमर हो जाते हैं, अर्थात् भोरके समान भक्त-

वत् भक्तिमें लीन हो जाते हैं । वे संत शीघ्र ही सदा-नित्यरूप सनप-  
सारको प्राप्त करते हैं । सज्जनोंको इस जगत्में अन्य कथनसे क्या  
फलही सिद्धि होगी । भावार्थ—दोनों नयोंसे जीवका स्वरूप सनपक  
हमको उचित है कि हम परमात्माकी भक्तिमें अपने उपयोगको लीन करें ।

इसप्रकार सूक्ष्मस्वरूप कमलकिटिये सूर्यके समान, पंचेन्द्रियोंके फल-  
वत्से रहित, शरीरमात्र परिग्रहके धारी 'श्रीपद्मप्रभमलधारीव'  
रचिन नियमसारकी तात्पर्यश्रुतिमें जीवाधिकार नामक प्रथमश्रुत  
स्कंध पूर्ण हुआ ।

## अजीवाधिकार ।

अणुसंधवियप्पेण दु, पोग्गलदब्बं हवेइ दुवियप्पं ।  
संधा दु छप्पयारा, परमाणू चेव दुवियप्पो ॥ २० ॥

सामान्यार्थ—पुद्गल द्रव्यके दो भेद हैं, एक अणु दूसरा स्कंध ।  
स्कंध निश्चयकरके छः प्रकार है और परमाणु दो प्रकार है ।

विशेषार्थ—इस गाथामें पुद्गल द्रव्यके भेदोंका कथन है । प्रथम ही  
पुद्गल द्रव्यके दो भेद हैं एक स्वभावपुद्गल दूसरा विभावपुद्गल । पर-  
माणु स्वभाव पुद्गल है और स्कंध विभाव पुद्गल है । स्वभावपुद्गलके दो  
भेद हैं एक कार्यपरमाणु, दूसरा कारणपरमाणु । स्कंध छः प्रकारके  
होते हैं—पृथ्वी, जल, छाया, चार इन्द्रियके विषयरूप पदार्थ जैसे शब्द  
सुगंध आदि, कार्माण योग्य पुद्गल वर्णणा और कर्म अयोग्य पुद्गल ऐसे  
छः भेद है । इनका स्वरूप आगेकी गाथाओंमें विस्तारसे कहेंगे ।  
“स्कंधोंके गलनेसे अणु होता है और अणुओंके मिलनेसे स्कंध होता है ।  
इस पुद्गलपदार्थके बिना लोकयात्रा नहीं हो सकती अर्थात् जीवको इस  
लोकमें भ्रमण और पर्यायोंमें निवास पुद्गलद्रव्यके द्वारा ही होता है ।

आगे स्कंधके भेदोंको कहते हैं:-

अइधूलधूल धूलं, धूलंसुहुमं च सुहुमधूलं च ।  
 सुहुमं अइसुहुमं इदि, धरादिपं होदि छम्मेयं ॥ २१ ॥  
 भूपद्मवद्मादीया, भणिदा अइधूलधूलमिदि खंधा ।  
 धूला इदि विण्णेया, सप्पीजलतेलमादीया ॥ २२ ॥  
 छायातवमादीया, धूलेदरखंधमिदि वियाणाहि ।  
 सुहुमधूलेदि भणिया, खंधा चउरक्खविसया य ॥ २३ ॥  
 सुहुमा हवंति खंधा, पावांग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो ।  
 तच्चिवरीया खंधा, अइसुहुमा इदि परूवेदि ॥ २४ ॥

सामान्य अर्थ-इन ४ गाथाओंमें विभाव पुद्गलके स्वरूपका व्याख्यान है । अत्यंत स्थूल वे पुद्गल हैं जो पर्वत पृथ्वी आदिके समान हैं । धी तैल मठा दूध जल आदि बहनेवाले द्रव्य स्थूल जातिके पुद्गल हैं । छाया, आतप, अंधकार आदि स्थूलसूक्ष्म पुद्गल हैं । स्पर्श रसन घ्राण और श्रोत्रइन्द्रियके विषय भूत पदार्थ सूक्ष्मस्थूल जातिके पुद्गल हैं अर्थात् शब्द, स्पर्श, रस, गंध ये सूक्ष्मस्थूल हैं । शुभ और अशुभ आत्माके परिणामोंके द्वारा आनेवाले शुभ और अशुभ कर्मोंके योग्य होनेवाले कर्मांग स्कंध सूक्ष्मपुद्गल हैं । इन सबसे विरुद्ध जो स्कंध कर्मवर्गणासे भी सूक्ष्म हैं वे अत्यंत सूक्ष्मस्कंध हैं । इस प्रकार विभाव पुद्गलके छः भेद हैं । ऐसाही पचास्तिकाय और मार्गप्रकाश ग्रन्थमें कहा है और उनके कथनका अभिप्राय ऊपर कहा जा चुका है । इसी प्रकार भीअमृतचन्द्र-सूरिने कहा है कि “ इस महा मारा अनादि कालसे होनेवाले अज्ञान-रूपी नृत्यके असाहसमें बर्ण स्पर्श रस गंध गुणका धारी पुद्गलही नृत्य कर रहा है । इसके सिवाय दूसरा कोई नृत्य करनेवाला नहीं है । यह जीव तो रामदेव आदि विकारोंसे विरुद्ध शुद्धचेतन्य धातुकी एक

मूर्ति है” । भावार्थ—पुद्गलकर्मके ही निमित्तसे जीव प्रमत्ता है, निश्चय करके आत्मा शुद्ध निर्विकार है । गतिसे मृत्यन्तर होना इसका स्वभाव नहीं है इसीकारण आचार्यने नाश करनेवाला पुद्गलहीको कहा है । क्योंकि श्रीगुरुकी इच्छा इस भवपिंजरमें फंसे हुए जीवको अपने शुद्धस्वरूपके स्मरण करानेकी है । जब तक यह आत्मा अपनी शुद्धताका निश्चय नहीं करता तबतक रागद्वेषको हटा नहीं सकता । राग द्वेषोंको बिना दूरकिये कर्मबंधकी संततिका अभाव नहीं होता । इस कारण कल्याणार्थी आत्माको अपना शुद्धस्वरूप अनुभवना योग्य है । यही शिक्षा उपादेय है । टीकाकार कहते हैं हे भज्यसिंह अर्थात् सिंहके समान भव्यात्मा तू नानाप्रकारके पुद्गलोंका भेद जगत्में देखकर उनमें अपनी प्रीतिभावको न करना अपनी रति अपनी लोलीनता उस अतुल चैतन्यके चमत्कारमें कर, जिसके प्रभावसे तू मोक्षरूप स्त्रीका बरहो जावेगा । भावार्थ—मोक्ष पानेका यही उपाय है जो अपनी चैतन्य सत्ता भूमिमें कलोल करे और पर वस्तुमें क्रीड़ा करनेका त्याग करे ।

आगे कारणपरमाणु और कार्यपरमाणुका हेतु कहते हैं:—

धातुचतुष्टयस्य पुणो, जं हेतु कारणंति तं जेयो ।  
संधाणं अवसाणं, णादद्वो कज्जपरमाणू ॥ २५ ॥

सामान्य अर्थ—चार धातुका जो हेतु है वह कारण परमाणु है तथा स्कंधोंका अंतिमभाग कार्य परमाणु है, ऐसा जानना योग्य है ।

विशेष अर्थ—इस गायामें कारणपरमाणु द्रव्य और कार्यपरमाणु द्रव्यका स्वरूप वर्णित है । पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार धातु हैं । इन चार धातुओंका जो कारण है वह कारण परमाणु है । अर्थात् जिन परमाणुओंके सम्बन्धसे ये चार धातुएँ परिणत होती हैं, स्कंध रूप दीप्तती हैं, वे परमाणु कारण परमाणु कहलाते हैं । वे कारण परमाणु ही उपन्य परमाणु हैं । इनमें स्निग्ध और रुक्ष गुणोंका

सबसे जघन्य अनन्तवां भाग रहता है । यह सम अथवा विषमरूपसे दोनों प्रकार भी बंध योग्य नहीं है, अर्थात् न दो गुण स्निग्ध व रुक्षवाला परमाणु अन्य दो गुण स्निग्ध व रुक्षसे बंधता है और न तीन गुण रुक्ष व स्निग्धवाला परमाणु तीन गुणवालोंसे बंधता है किन्तु स्निग्ध रुक्ष गुणोंकी अनन्तताके ऊपरके परमाणु जिनमें दो गुण होंगे वे चार गुणवाले परमाणुओंसे बंधेंगे । जो तीन गुणवाले परमाणु होंगे वे पांच गुणवाले परमाणुओंसे बंधेंगे । दो गुण अधिकसे ही बंध होता है । यही ( बंध योग्य ) उत्कृष्ट परमाणु है । पुद्गल द्रव्य स्कंधोंके मलते हुए अंतिम अवस्थामें रहा हुआ जो परमाणु सो कार्यपरमाणु है ॥ इस प्रकार अणु चार प्रकारके हैं—कार्यरूप, कारणरूप, जघन्यरूप, उत्कृष्टरूप । यह परमाणुद्रव्य अपने स्वरूपमें स्थितरूप होनेसे विभावभावसे रहित है इसलिये परमस्वभाव है । ऐसाही श्री प्रवचनसारमें ' प्लिद्धा वा ' आदि गायामें कहा है जिसका अर्थ ऊपर आगया है । विशेष यह है कि स्निग्ध रुक्षसे, रुक्ष रुक्षसे, स्निग्ध स्निग्धसे सम दो व विषम दो गुण अधिक होनेसे बंध प्राप्त होता है । टीकाकार श्रीपद्म-प्रभुमलधारिदेव कहते हैं " कि मैं छः प्रकार स्कंध और चार प्रकार परमाणुओंसे अपने आत्माको भिन्न शुद्ध अक्षयरूप वारम्बार भावता हूँ " भावार्थ—पुद्गल चाहे स्कंध हो वा अणु हो शुद्ध आत्माके ज्ञाना-नन्दमय टंकैककीर्ण परम स्वभावसे सर्वथा भिन्न है । उसकी भावना कार्यकारी नहीं है । इसलिये शुद्ध आत्मस्वभावकी वारम्बार भावना ही उपादेय, कार्यकारी और कर्तव्य है । जो भावना भावक पुरुषको उपशम भाव प्रदानकर सुधारस गर्भित परमात्माको प्रदान करती है ।

अब परमाणु विशेषको कहते हैं:—

अत्तादि अक्षमज्ज्ञं, अक्षतं जेव इंदिए नेज्झं ।

अविभागी जं दुब्बं, परमाणू तं विआणाहि ॥ २६ ॥

**सामान्यअर्थ**—जिसका स्वयं स्वरूपही आदि मध्य और अंतरूप है, जो इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण योग्य नहीं है ऐसा अविभागी जिसका दूसरा भाग नहीं होसके सो द्रव्य परमाणु जानने योग्य है।

**विशेषार्थ**—जैसे नित्य अनित्य निगोदसे ठे सिद्धक्षेत्रपर्यंत स्थित तर्ब ही जीव अपने स्वाभाविक परम पारिणामिक भावरूप सहज निश्चयनपट्टे द्वारा अपने असली स्वरूपसे कभी च्युत-पतित नहीं होते, तैसे ही परमाणु द्रव्य पारिणामिकभावकी अपेक्षासे परमस्वभावका धारी है। उस परमाणुकी आत्मा ही आदि है अर्थात् वह स्वयं आदिरूप है वही मध्यरूप है वही अंतरूप है। जैसे आत्मा अपने स्वरूपका आप ही आदि मध्य अंतरूप है वैसे ही परमाणुको भी जानना अर्थात् आत्मा जैसे आदि मध्य अंतरहित है, वैसे परमाणुको भी अनुभव करना। आदि मध्य अंतरूप वही स्वयं है। इसलिये वह परमाणु अपने आत्माके समान पंचेन्द्रिय ज्ञानगोचर नहीं है, वह परमाणु निर्मल है। अग्नि आदिसे अविनाशी है, विभागरहित अविभागी है। हे शिष्य परमाणुका स्वरूप तुम ऐसा जानो। टीकाकार कहते हैं जड़ स्वरूप पुद्गलकी स्थिति पुद्गलमें ही जानकर वे सिद्धजीव अपने चैतन्यस्वरूप चिदात्मामें क्यों नहीं तिष्ठें, अपि तु तिष्ठें ही तिष्ठें।

आगे स्वभावपुद्गलका स्वरूप कहते हैं:-

**एयरसरूवगंधं, दो फासं तं हवे सहावगुणं ।**

**विहावगुणमिदि मणिदं, जिणसमये सद्वपयवत्तं ॥२॥**

**सामान्य अर्थ**—एक रस एक रूप एक गंध और दो स्पर्श इतने गुणोंसे सहित स्वभावगुण पुद्गलका जिनआगममें प्रगट रूपसे कहा है।

**विशेष अर्थ**—इस गाथामें स्वभावपुद्गलके स्वरूपका कथन है। तीसा, कड़ा, कपापटा, आमल, और मधुर इन पांच प्रकारके रसोंमेंसे एक रस होता है। इनेत, पीला, हरा, रमल, काला इन पांच वर्णोंमेंसे एक वर्ण देख्य है। सुगंध और दुर्गंधमेंसे एक गंध होती है। कड़ा, कोमल,



भारी, हलका, क्षीत, उष्ण, चिकना, रुसा इन आठ स्पर्शोंमेंसे अंतर्में कहे जो चार स्पर्श उनमेंसे अविरोधी दो स्पर्श होते हैं अर्थात् क्षीत अथवा उष्ण व चिकना अथवा रुसा । इसप्रकार पांच ही गुण पुद्गल परमाणुके स्वाभाविकगुण हैं ऐसा जिनेन्द्रभगवानके आगमका मत है । विभावगुण-रूप विभावपुद्गल हैं । यह बोअणु आविसे ले संख्यात असंख्यात अनंत अणुओंके स्वरूप हैं, विभावगुणधारी हैं । सम्पूर्ण इन्द्रिय ग्रामोंके द्वारा ग्रहण योग्य हैं । इन्द्रियोंसे स्पर्शोंका ग्रहण हो सकता है ऐसा भावार्थ है । ऐसा ही धीपञ्चास्तिकाय में कहा है । उसका अभिप्राय ऊपर आगया । विशेष इतना जो परमाणु स्वयं अशुद्ध है परन्तु वह शुद्धका कारण है । तथा मार्गप्रकाशमें भी ऐसा ही कहा है । टीकाकार कहते हैं कि एक परमाणु अपने वर्णादि गुणोंसे अपनेमें प्रकाशमान है परन्तु उससे मेरे कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती ऐसा निश्चयकरके जो भव्य जीव परम सुखमें मोक्षपदका इच्छुक है उसको अपने हृदयमें एक शुद्ध आत्माकी ही भावना करनी उचित है । भावार्थ—सर्व पर वस्तुओंको हेय जान भव्यजीवोंको एक शुद्ध निज आत्मा ही उपादेय, ध्येय और सम्यक् मनन योग्य है ।

अब स्वभाव विभाव पर्यायको कहते हैं:—

अण्णणिरावेक्खो जो, परिणामो सो सहावपज्जायो ।  
खंधसरूवेण पुणो, परिणामो सो विहावपज्जायो ॥२८॥

सामान्य अर्थ—जो परिणामन अन्तरकी अपेक्षाकरके रहित होता है वह स्वभाव पर्याय है । और जो परिणामन स्वरूपसे होता है वह विभावपर्याय है ।

विशेष अर्थ—इस गाथामें पुद्गलकी पर्यायका कथन है । पुद्गलकी परमाणुरूपपर्याय पुद्गलकी शुद्ध पर्याय है, जिसका लक्षण परम पारिणामिक भाव है । वस्तुमें पदप्रकार शानि बुद्धिरूप जो अत्यन्त सूक्ष्म

अर्थपर्याय होती हैं उस परिणमनरूप है । सावि और सान्त होनेर भी परद्रव्यकी अपेक्षा रहित होनेसे शुद्ध सद्भूत-व्यवहारनयरूप है, अथवा निश्चयकरके एक ही समयमें उत्पाद उत्पत्ति, व्यय विनाश, तथा धौव्यता नित्यता इन तीन स्वरूप है । इस अपेक्षासे सूक्ष्म कज्जुन नयका विषय रूप है ॥ स्कंधरूप पर्याय अपने सजातीय परमाणुओंसे बंधरूप है । इस लक्षणसे अशुद्ध है । इसलिये विभाव पर्यायरूप है । टीकाकार कहते हैं पर परिणमनसे दूर शुद्ध पर्यायरूप परमाणुसे स्वभावपर्याय है स्कंधपर्याय नहीं है, तथा यह परमाणु नित्य है । जैसे चैतन्यनाथ श्रीभगवानमें पंचबाणरूप कामदेवकी वार्ता नहीं है और जैसे श्रीसिद्ध महाराज नित्य हैं इसी प्रकार यह परमाणु विभाव पर्याय रहित नित्य है ।

आगे पुत्रलद्रव्यको व्याख्यानको संक्षेपते हैं:—

पोग्गलद्वयं उच्यते, परमाणु णिच्छएण इदरेण ।

पोग्गलद्वयोत्ति पुणो, धवदेसो होवि संघस्स ॥ २९ ॥

सामान्यअर्थ—निश्चयनयकरके परमाणुको पुत्रलद्रव्य कहने है तथा व्यवहारनयकरके स्कंधको भी पुत्रलद्रव्य कहा जाता है ।

विशेषअर्थ—इस गाथामें पुत्रलद्रव्यके व्याख्यानको संक्षेपते हैं । स्वभावसे शुद्ध पर्यायरूप परमाणुकीं शुद्ध निश्चयकरके पुत्रल द्रव्य संज्ञा है । तथा व्यवहार नयकरके विभावपर्यायरूप स्कंध कीं भी पुत्रल द्रव्य एवा नाम कहा जाता है । टीकाकार कहते हैं कि " इमं चैतन्यनाथ, त्रिनेन्द्र भगवान् आगममे तदशरीरं स्वस्व भवनकर नू समस्त भवन भवन पदार्थोंको त्याग और ज्ञान निके कल्प समाधिमें लीन होकर पर पदार्थोंमें रहित चैतन्यके धर्मका प्रत्यक्ष प्रकटन करके भजन करे " । भाषाये—यह पुत्रलका विषय उपादेय नहीं है । उपादेय भवना वह चैतन्यका प्रकटन है, त्रिधर्मे लीनकी शुद्ध

धीको सुख प्राप्त करना चाहिये । पुद्गल द्रव्य अपेक्षित है, जीव द्रव्य चेतन है, यह कल्पना प्रथम अवस्थामें साधर्मियोंके होती है । जो योगी निष्कल हैं अर्थात् ध्यानाभ्यासमें पूर्ण हैं उनको यह कल्पना नहीं होती । यती मुनियोंकी ऐसी शुद्ध दशा होती है जिससे वे यह अनुभव करते हैं कि जैसे अचेतन पुद्गल कायमें न द्वेषभाव है न रागभाव है, उसी तरह सचेतन परमात्मतत्त्वमें रागद्वेष भाव नहीं हैं ॥२९॥

आगे धर्मादि द्रव्यका स्वरूप कहते हैं:—

गमणाणिमित्तं धम्म, मधम्मं त्रिदि जीवपुग्गलाणं च ।  
अयगत्तुणं आयासं, जीयादीसत्त्वदृढवाणं ॥ ३० ॥

सामान्य अर्थ—जीव पुद्गलोंके गमनमें निमित्त धर्मद्रव्य है और स्थितिमें निमित्त अधर्मद्रव्य है, तथा जीवादि सर्व द्रव्योंको अवगाहन अर्थात् स्थान देनेवाला आकाशद्रव्य है ।

विशेषार्थ—इस गायामें धर्म, अधर्म और आकाशका संक्षेप कथन है यह धर्मास्तिकाय स्वयं गमनाक्रियासे रहित है, जैसे वायिकामें जल । अ इ उ ञ् ञ् पंच लघुभक्षरमात्र कालमें स्थित १४ वैगुणस्थानवर्ती अयोगजिन जब अंतके समयमें पंचमगतिको अपनी स्वभाव गमनक्रियाकी परिणतिसे गमन करते हैं, उससमय यह धर्मद्रव्य उनको स्वभाव गति क्रियाहेतुरूप होता है । कैसी है पंचमगति मोक्ष, जहां सम्पूर्ण क्लेश और दुःखोंका घर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पंचप्रकार संसारका समस्तपने स्थान नहीं है । फिर कैसी है वह पंचमगति, कि जिसमें रहनेवाले जीव सिद्ध कहलाते हैं । जहां छः कायरूप जीवोंका नाम जो चारों गतियोंके अन्दर होता है छूट जाता है । तथा वह मोक्षस्थानरूप सिद्धशिला तीन लोकके अग्रभाग विराजमान है । जिस सिद्ध अवस्थामें स्थित जीव मोक्षरूप स्त्रीके नेत्रोंको देखकर मृग रहते हैं । तथा षट्कायमें परिभ्रमण करनेवाले संसारीजीवोंके वही धर्मद्रव्य विभावगति क्रियाका

हेतु होता है। जैसे मछलियोंकेलिये जल कारण होता है वैसे ही जीव पुद्गलोंके गमनका कारण यह धर्मद्रव्य है। यह अमूर्तीक है। आठ स्पर्श, पांच वर्ण, पांच रस, और दो गंध ऐसे पुद्गलोंके २० गुणसे रहित है। अगुलघुत्व आदि गुणोंका आधार है। लोकाकाशमात्र आकाशका धारी है, असंख्य एक पदार्थ है। आगमका यह वचन है कि "सह-भुवो गुणाः कमवर्तिनः पर्यायाः" अर्थात् साथमें रहनेवाले गुण होते हैं और क्रमसे वर्तनेवाली पर्यायें होती हैं। इस कारण इस गति-हेतु वाचक धर्मद्रव्यके शुद्ध ही गुण और शुद्ध ही पर्याय हैं। अधर्मद्रव्य जीव पुद्गलोंकी स्थितिमें कारण है, यही इसका विशेष गुण है। धर्म-स्तिकायके समान इसके भी सर्व शुद्धगुण और शुद्धपर्याय होते हैं। आकाशद्रव्यका जीवादि द्रव्योंको स्थान देना ही विशेष गुण है, अन्य सर्व गुण और पर्याय धर्म अधर्म द्रव्यके सदृश हैं। लोकाकाश, धर्म-द्रव्य, और अधर्मद्रव्य इन तीनोंका प्रमाण समान है, अलोकाकाश निश्चयकरके सचसे बड़ा है। टीकाकार कहते हैं कि "हे भव्य लोक इस लोकमें जीव पुद्गलोंको गमन वा स्थितिका कारण तथा सर्व द्रव्योंको स्थानदान देनेका कारण जो जो द्रव्य हैं उन सबको द्रव्य अपेक्षायथार्थ अवलोकन कर, तू सर्वदा निज आत्मीक तत्त्वमें ही प्रवेश कर। भावार्थ-धर्मोपमाकाशको ज्ञेयपदार्थमात्र ही जान इनको उपोषण मान, एक अपने शुद्ध आत्मीक तत्त्व ही भावना कर। यही भावना ले-लिये सदा कल्याणकारि है ॥ २० ॥

आगे व्यवहार कालके भेदोंको कहते हैं:-

समयायलिभेदेण नु, द्रुथियप्पं अहय होइ तिवियप्पं ।  
तीदो संसेज्जायलि, हइसंठाणप्पमाणं नु ॥ २१ ॥

सामान्य अर्थ-गमय और आयतीके भेदमें व्यवहारकालके दो भेद हैं, अथवा तीन भेद हैं। अतीत कालमें अनंत आयती होती है ऐसा है अनेक कालस्थान अर्थात् विघोंका प्रमाण है।

विशेष अर्थ-इस गाथामें व्यवहार कालके विविध भेदोंका कथन है एक मासाष्टके प्रद्वारमें जो परमाणु तिष्ठता है उसको अन्य परमाणु भेद पलनरूप गतिसे लोप जाता है । उसमें जितना समय लगता है उसको समय नामका व्यवहार काल करते हैं । इस प्रकारके असंख्यात समयोंका एक निर्मेष होता है । आसकी पटक मारनेमें जितना समय लगे उसको निमेष कहते हैं । आठ निमेषोंकी एक काष्ठा होती है । १६ काष्ठाओंकी एक कला होती है । ३२ कलाओंकी एक षटिका होती है । ६० षटिका अर्थात् नालिकाका एक दिनरात होता है । ३० दिन-रात्रिका एक मास होता है । दो मासकी एक ऋतु होती है । तीन ऋतुका एक अयन होता है । दो अयनका एक संवत्सर अर्थात् वर्ष होता है । इस प्रकार व्यवहार काल जानना । यही व्यवहार काल समय और आवर्तीके भेदसे दो प्रकार है । असंख्यात समयोंकी एक आवर्ती होती है । यही काल अतीत, अनागत और वर्तमानके भेदसे तीन प्रकार है अब अतीत कालका प्रपञ्च कहते हैं । सिद्ध पर्यायको प्रगट करनेवाले अतीत कालमें अनंत सिद्ध हो गए हैं । ससार अवस्थाको त्याग कर उः सरथान अर्थात् आकार विशेष जिनके नहीं रहे वे सिद्ध हैं, वे अनंत हैं, तिनके सदृश व्यवहार काल भी अनंत बीता है अनागत काल भी भविष्य सिद्धोंके समान अनंत है । यहा गाथामें जो असंख्यात आवर्ति शब्द है उसका यहां प्रकरणके वक्षसे अनंत आवर्ति अर्थ है ऐसा विदित होता है । व्यवहार कालके भेद श्री पञ्चास्तिकायमें भी ऐसे ही कहे हैं । टीकाकार कहते हैं कि यह व्यवहार काल जो समय, निमेष, काष्ठा, कला, नाली, आदि दिवस वर्ष आदिके भेदसे प्रगट होता है, उस व्यवहार कालसे मुझे कोई फलभी प्राप्ति नहीं होती है । मुझे तो निज उपगारहित परम एक आत्मीक तत्त्वको छोड़कर और कोई नहीं है जिससे वास्तविक फलका लाभ हो । भावार्थ-कालका विकल्प मात्र शेषरूप है,

उपादेय नहीं है । उपादेयरूप तो एक अपना शुद्ध आत्मीक तत्त्व ही है ।  
और कोई नहीं है ।

अब मुख्यकालको कहते हैं:-

जीवाद् पुग्गलादो, ऽणंतगुणा चावि संपदा समया ।  
लोयायासे संति य, परमदो सो हवे कालो ॥ ३२ ॥

सामान्य अर्थ—जीवोंसे पुद्गल अनंत गुणे हैं वैसेही पुद्गलसे अनंत गुणे कालके समय भी हैं । जो कालाणु लोकाकाशमें तिष्ठे हैं वे कालाणु परमार्थ यानी निश्चय काल हैं ।

विशेष अर्थ—इस गाथामें मुख्य कालका वर्णन है । जीवगणसे अनंत गुणे पुद्गल हैं, पुद्गलोंसे अनंत गुणे कालके समय हैं । यह समय व्यवहार काल है । परन्तु कालके अणु जो लोकाकाशके एक एक प्रदेशमें अलग अलग तिष्ठे हुए हैं वे परमार्थ यानी निश्चयकाल हैं । ऐसा ही श्रीप्रवचनसारमें कहा है उस गाथामें भी समय शब्दसे मुख्य काल जो कालाणु उसका ही स्वरूप कथन किया है । समय नाम व्यवहार कालरूप समय उसका उपादान कारण जो समय अर्थात् कालाणु सो अव्यपदेश अर्थात् दिश्यादि प्रदेश रहित है । अर्थात् कालाणु एक प्रदेशी है । दूसरे काजनुओंसे जुड़ा हुआ नहीं है । सो कालाणु परिणमनका सहकारी है, स्वहेतुसे वर्तन करता है । एक प्रदेश मात्र पुद्गल जातिधारी जो परब्रह्मद्रव्य मंदगतिसे आकाश द्रव्यके अन्य दूसरे प्रदेशको जाता है जिस प्रदेशमें कालाणु व्याप्त है । इस परमाणुके इस वर्तनरूप कार्यमें कालाणु सहकारी है । द्रव्योंका वर्तना उदासीन रूपसे प्रवर्तनमें सहर्ष होत्य कालाणुरूप निश्चयकालका कार्य है ॥ अन्य ग्रन्थमें कहा है:-

“अर्थात्—लोकाकाशके एक एक प्रदेशमें रत्नोंकी राशिके समान जो कालाणु एक एक करके व्याप्त है सो कालाणु आकाशके असंख्य ।

बदलते के समान असंरपात है ” । ऐसीही मारमंशकारणों के कहा है अर्थात् “ काठद्रव्यके अभावसे पद्माक्षीका परिणमन नहीं हो सकता । परिणमनके बिना न द्रव्य ठहर सकता है, न उसकी पर्याय हो सकती है । इसलिये सर्व द्रव्योंका अभाव हो जावेगा । ” टीकाकार कहते हैं कि जैसे कुंभके बनानेमें चक कारण है, उसीप्रकार जो द्रव्योंके वर्तमानों का कारण हो वह काठ द्रव्य है । इस द्रव्यके बिना पाँच अस्तिका-योंका वर्तन अन्य प्रकारसे नहीं हो सकता । सिद्धान्तकी पद्धतिसे ये जीव, पुत्रल, धर्म, अधर्म, आकाश, काठ एतद्द्रव्य सिद्ध हैं, इसलिये वे सब विश्वास करने योग्य हैं । भाषार्थ—सर्वजरीतराग कथित सिद्धान्तके अन्वेषणना नहीं हो सकता । इसलिये उनके आगममें वर्णित पदार्थ सत्य हैं । परी निधय आत्महितशीलकों करना योग्य है ।

फिरभी काठ द्रव्यके विषयमें कहा जाता है—

जीवादीदृष्टवाण, परिवर्तणकारणं ह्ये काठो ।

धम्मादिचओसेणं, सहाउगुणपञ्जया होंति ॥ ३३ ॥

सामान्यअर्थ—जीवादि द्रव्योंके परिवर्तनका जो कारण सो काठ द्रव्य है । तथा धर्म, अधर्म, आकाश, काठ इन चार द्रव्योंके स्वभाविक गुण और पर्याय होते हैं ।

विशेषअर्थ—इस गायामें काठादि शुद्ध अमूर्तांक अचेतन द्रव्योंके स्वभावगुण और पर्यायोंका कथन है । निधयकाठद्रव्य; जीव पुत्रल धर्म अधर्म और आकाश इन पाँचों द्रव्योंकी पर्यायोंके परिणमन करने अर्थात् बदलनेमें कारण भूत है । इसीलिये इसको परिवर्तन लिंग कहते हैं । धर्म, अधर्म, आकाश और काठके अपनेमें स्वनातीय किसी प्रकारके बंधके सम्बन्धका अभाव है, इस कारण इनमें विभावगुण पर्याय नहीं होती हैं, परन्तु मात्र स्वभाव गुणपर्याय ही होती हैं । स्वभाव गुण पर्यायोंका कथन पहले कहा जा चुका है इसलिये यहाँ संक्षेपमें कहा

है। भावार्थ—अग्रे के द्रव्यों के स्वाभाविक गुण तो स्रष्ट कथन किये जा चुके हैं। इन भावों पर द्रव्यगुणों की निमित्त स्थापन पर्याय ही होती है। इनका समुद्र कलोलगत ज्ञान आगम प्रमाणों से निश्चय करना योग्य है। श्रीकाकार कहते हैं कि इस प्रकार पद द्रव्यों का प्रसङ्ग व्याख्यान में अतिशय करके कहा गया है सो बहुत ही रमणीक है, भव्यताओं के कानों को अमृत समान है तथा निज स्वरूप के मनन करनेवाले मुनियों के लिये यह आनन्द का दाता है। इन पदद्रव्यों का स्वरूप सर्व भव्यताओं को संग्रह से जुड़ाने के लिये कारणरूप है।

आगे अस्तिकाय को कहते हैं:—

एवं छद्मव्याणि य, कालं मोक्षूण अत्थिकायत्ति ।

णिद्विधा जिणसमये, काया तु बहुप्पदंसत्तं ॥ ३४ ॥

सामान्यार्थ—इन छद्म द्रव्यों में काल को छोड़ अन्य पांच द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं, क्योंकि निश्चयकरके इनके बहु प्रदेशापना है, इससे कायमंश है। ऐसा जिन आगमों में कहा है।

विशेषार्थ—इस भाषा में काल द्रव्य सिवाय अन्य द्रव्यों के अति कायका वर्णन है। कालद्रव्य दो तीन आदि प्रदेशों से रहित है इसके एक ही प्रदेश है। काल के द्रव्यपना ही है। अन्य पांचों के कायपना ही, क्योंकि ये पांचों काय के समान कायरूप प्रदेशों के समूह को धारण करते हैं। अस्तिनाम सत्ताका है। यह सत्ता दो प्रकार की है एक अवांतर सत्ता, दूसरी महासत्ता। समस्त वस्तुओं में विस्तार करके फैली हुई महासत्ता है। प्रति नियत एक वस्तु में व्यापनेवाली अवांतर सत्ता है। महासत्ता सर्व स्वरूपों में व्यापिनी है, किन्तु अवांतर सत्ता प्रतिनियत एकरूपव्यापिनी है। अनंतपर्यायों में रहनेवाली महासत्ता है। प्रतिनियत एक ही पर्याय में रहनेवाली अवांतर सत्ता है। अस्ति नाम रहने का है। उसका भाव अस्तित्व। अस्तित्व के साथ ही कायत्व को रहनेवाले से



पंचास्तिकाय है । कालके अस्तित्व है परन्तु कायत्व नहीं है क्योंकि कालद्रव्यके कायके समान बहुत प्रदेश नहीं है । टीकाकार कहते हैं कि " यह षट् द्रव्यरूप रत्नमाला जिनमार्गस्पी समुद्रसे पूर्व आचार्योंने भव्य जीवोंके कंठका आभरण बनानेकेलिये प्रीतिपूर्वक उद्भूत की है ॥" भाषार्थ—इन षट् द्रव्योंका स्वरूप भव्यजीवोंको अपने ध्यानमें भठे प्रकार रसना चाहिये ।

अब द्रव्योंकी प्रदेशसंख्याको कहते हैं —

सखंज्जासंखंज्जा; णंतपदेसा हवन्ति मुत्तस्स ।

धम्माधम्मस्स पुणो, जीवस्स असंखदेसा ६ ॥ ३५ ॥

लोपापासे ताव, इदग्गस्स अणंतयं हवं देहो ।

कालस्स ण कायत्तं, एयपदेसो हवे जम्हा ॥ ३६ ॥

सामान्य अर्थ—मूर्तीकद्रव्य पुद्गलके संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेश होते हैं । धर्म, अधर्म, तथा एक जीवके संख्य प्रदेश होते हैं । लोकाकाशके भी इतने ही हैं । अलोकाकाशके अनंत प्रदेश हैं । कालद्रव्यके कायपना नहीं है, इससे एक प्रदेश ही होता है ।

विशेष अर्थ—इन दो गाथाओंमें उही द्रव्योंके प्रदेशोंका कथन है । शुद्ध पुद्गलके परमाणुद्वारा ग्रहण किया गया जो आकाश स्थल सो प्रदेश कहलाता है । इस प्रकार पुद्गल द्रव्यके प्रदेश संख्यात, असंख्यात और अनंत होते हैं । भाषार्थ—कोई पुद्गलका स्कंध दांसे आदि छे संख्यात परमाणुओंका, कोई असंख्यातका तथा कोई अनंतका होता है । लोकाकाश, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य तथा एक जीव द्रव्यके असंख्यात प्रदेश होते हैं । अलोकाकाशके अनंत प्रदेश होते हैं । कालके एक ही प्रदेश है, इसी कारण इसके कायपना नहीं है परन्तु द्रव्यपना अवश्य है ही ॥ टीकाकार कहते हैं कि " यह पदार्थरूपी रत्नोंका आभरण देने मुमुक्षुओंके कंठकी शोभाकेलिये रचा है । जो बुद्धिमान् है वह इसके



## शुद्धभावाधिकार ।



जीवादिबाह्यतत्त्व, हेयमुपादेयमप्पणो अप्पा ।

कम्मोपाधिसमुत्तमय, गुणपज्जाएहिं यदिरत्तो ॥३८॥

सामान्य अर्थ—जीवादि बाह्य तत्त्व हेय हैं, इस आत्माको निधय-  
करके आत्मा ही उपादेय है । यह आत्मा कर्मकी उपाधिसे पैदा होनेवाले  
गुणवर्ष्याओंसे भिन्न है ।

विशेष अर्थ—इस गाथामें हेय उपादेयतत्त्वोंके स्वरूपका कथन  
है । जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष यह सात  
तत्त्व परद्रव्य स्वरूप हैं इसलिये ग्रहण योग्य नहीं हैं । जो आत्मा  
स्वाभाविक वेगव्यक्ती मल्लके सितारका शिरसामणि है, परद्रव्योंसे  
उदासीन पराङ्मुख है, पंचेन्द्रियके विषयोंके विस्तारसे रहित शरीर-  
मात्र परिग्रहका धारी है, परम जिन अर्थात् कृपाय विजयी योगीश्वर है  
तथा जिसने अपने ही द्रव्यमें अपनी बुद्धिको जादू दिया है ऐसे बीतराग  
आत्माकलिये वही आत्मा उपादेय अर्थात् ग्रहणयोग्य है । जो औशयिक,  
औषधमिक, क्षयौषधमिक और क्षायक चारों भावोंके अगोचर होनेसे  
द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि भावकर्म रागद्वेषादि नोकर्म बाह्य शरीरादि इन  
रूप जो उपाधि उससे उत्पन्न हुए जो विभावगुण और विभावपर्व्याय  
उनसे रहित हैं । जो आदि अंतरहित अनूर्तीक अतीन्द्रिय स्वभावसे ही  
शुद्ध सहज पारिणामिक भाव स्वरूप कारण परमात्मा है । ऐसा ही आत्मा  
उपादेय है । अत्यन्त निकट भव्य जीवोंकेलिये ऊपर कहे प्रमाण निज  
परमात्माको छोड़कर और कोई वस्तु आदेय नहीं है, अर्थात् उनके  
एक निज शुद्ध स्वरूपका ही ग्रहण है । टीकाकार कहते हैं  
“ सर्वतत्त्वोंमें एक सारभूत जो समयसार, अर्थात् शुद्ध आत्मा है  
नि० सा० ४



## शुद्धभावाधिकार ।



जीवादिबाह्यतत्त्वं, हेयमुवादेयमप्यणो अप्पा ।

कम्मोपाधिसमुग्गमव, गुणपज्जाएहिं वदिरत्तो ॥३८॥

सामान्य अर्थ—जीवादि बाह्य तत्त्व हेय हैं, इस आत्माको निश्चय-करके आत्मा ही उपादेय है । यह आत्मा कर्मकी उपाधिसे पैदा होनेवाले गुणपर्यायोंसे भिन्न है ।

विशेष अर्थ—इस गायामें हेय उपोदयतत्त्वोंके स्वरूपका कथन है । जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष यह सात तत्त्व परद्रव्य स्वरूप हैं इसलिये ग्रहण योग्य नहीं हैं । जो आत्मा स्वाभाविक बेगग्रहीत महलके शिखरका शिखरमणि है, परद्रव्योंसे उदासीन पराङ्मुख है, पचेन्द्रियके विषयोंके विस्तारसे रहित शरीर-मात्र परिग्रहका धारी है, परम जिन अर्थात् कपाय विजयी योगीश्वर है तथा जिसने अपने ही द्रव्यमें अपनी बुद्धिको जाड़ दिया है ऐसे वीतराग आत्माकलिये वही आत्मा उपादेय अर्थात् ग्रहणयोग्य है । जो औशधिक, औपशमिक, क्षयोपशमिक और क्षायक चारों भावोंके अगोचर होनेसे द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि भावकर्म रागद्वेषादि नोकर्म बाह्य शरीरादि इन रूप जो उपाधि उससे उत्पन्न हुए जो विभावगुण और विभावपर्याय उनसे रहित हैं । जो आदि अंतराहित अमूर्ताक अतीन्द्रिय स्वभावसे ही शुद्ध सहज पारिणामिक भाव स्वरूप कारण परमात्मा है । ऐसा ही आत्मा उपादेय है । अत्यन्त निकट भव्य जीवोंकेलिये ऊपर कहे प्रमाण निज परमात्माको छोड़कर और कोई वस्तु आदेय नहीं है, अर्थात् उनके एक निज शुद्ध स्वरूपका ही ग्रहण है । टीकाकार कहते हैं

“ सर्वतरवोंमें एक सारभूत जो समयसार, अर्थात् शुद्ध आत्मा है

नि० छा० ४

द्वारा व्यवहार मार्गको जानकर फिर शुद्ध मार्गको जानो अर्थात् शुद्ध भव करो ।

अब अजीव द्रव्यके कथनको संक्षेपते हैं:-

पुग्गलवच्चं मोत्तं, मुत्तिविरहिया ह्वंति सेसाणि ।

चेदणभावो जीओ चेदणगुणवज्जिया सेसा ॥ ३७ ॥

सामान्य अर्थ-पुत्रल द्रव्य मूर्तीक है, अन्य शेष मूर्तिरहित है । जीव चेतन्यभाववान है । शेष चेतन्यगुणसे रहित हैं ।

विशेष अर्थ-इस माध्याम अजीव द्रव्यका संक्षेप है । मूर्त १४ द्रव्योंमें पुत्रल द्रव्यको ही मूर्तिमेतपना है । शेष जीव धर्म अर्थात् आकाश तथा काल मूर्तिपनेसे रहित अमूर्तीक हैं । तथा चेतन्यनामः १४ जीवद्रव्यके ही है । अन्य पांचोंद्रव्य चेतना रहित हैं । इस माध्याम और विजातीय बंधनकी अपेक्षासे जीव पुत्रलोंके ही अशुद्धपना होता है । परन्तु धर्मादिक भार द्रव्योंके विशेषगुणकी अपेक्षासे शुद्धपना होता है । टीकाकार कहते हैं कि जिस मध्योत्तमके मुखकी सहायके लक्षित पक्षीकी माकरी उत्पन्न होकर निष्प प्रकाशमान होता है, उस निर्मलबुद्धि धारी नीरके बह्यकी कमलके मध्यमें सोम ही समप्रकार अर्थात् शुद्धात्मा प्रकाशमान होता है । इसमें कोई आध्यात्मिकता नहीं है । भाषा-प्रेम काई इन सुन्दर माध्यामोंके पक्षे अर्थात् मूर्त ३४ को नीर की मध्यमार्ग अर्थात् शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होती है ।

इस प्रकार सुकायनन-कमलकेदिने मूर्ध्यमान, निर्मलबुद्धि विषयोंके केंद्राने रहित सतीमात्र की परिपक्वता धारी जीवद्रव्यमूर्त धारी इष्ट द्वारा समीक्षा अनियमगारकी उत्पत्तिप्राप्तिकार्य-कार्य अर्थात् निर्मलबुद्धि नाम शुद्ध पुत्रलकेन पुत्रे पुत्रा ।

## शुद्धभावाधिकार ।



जीवादिबाह्यतत्त्वं, हेयमुवादेयमप्यणो अप्या ।

कम्मोपाधिसमुच्चयः, गुणपञ्जाएहिं वदिरत्तो ॥३८॥

सामान्य अर्थ—जीवादि बाह्य तत्त्व हेय हैं, इस आत्माको निश्चय-करके आत्मा ही उपादेय है । यह आत्मा कर्मकी उपाधिसे पैदा होनेवाले गुणपर्यायोसे भिन्न है ।

विशेष अर्थ—इस गायामें हेय उपादेयतत्त्वोंके स्वरूपका कथन है । जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष यह सात तत्त्व परद्रव्य स्वरूप हैं इसलिये ग्रहण योग्य नहीं हैं । जो आत्मा स्वाभाविक वेतायरूपी मटरके शिखरका शिखामणि है, परद्रव्योंसे उदासीन पराङ्मुख है, पंचेन्द्रियके विषयोंके विस्तारसे रहित शरीर-मात्र परिग्रहका धारी है, परम जिन अर्थात् कषाय विजयी योगीश्वर है तथा जिसने अपने ही द्रव्यमें अपनी बुद्धिको जोड़ दिया है ऐसे वीतराग आत्माकलिये वही आत्मा उपादेय अर्थात् ग्रहणयोग्य है । जो औदायिक, औपशमिक, क्षयशमिक और क्षायक चारों भावोंके अगोचर होनेसे द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि भावकर्म रागद्वेषादि नोकर्म बाह्य शरीरादि इन रूप जो उपाधि उससे उत्पन्न हुए जो विभावगुण और विभावपर्याय उनसे रहित हैं । जो आदि अंतरहित अमूर्तिक अतीन्द्रिय स्वभावसे ही शुद्ध सहज पारिणामिक भाव स्वरूप कारण परमात्मा है । ऐसा ही आत्मा उपादेय है । अत्यन्त निकट भव्य जीवोंकेलिये ऊपर कहे प्रमाण निज परमात्माको छोड़कर और कोई वस्तु आदेय नहीं है, अर्थात् उनके एक निज शुद्ध स्वरूपका ही ग्रहण है । टीकाकार कहते हैं “ सर्वतत्त्वोंमें एक सारभूत जो समयसार, अर्थात् शुद्ध आत्मा है

उमड़ी जय हो । केसा ने १४ समयार, सम्पूर्ण स्थित अर्थात्  
 विकासमें पूर है । कठिनतामें निरागो योग्य कामदेवको निरुने  
 भक्त कर दिया है । पापस्त्री दुष्टके काटनेको द्वारके समान  
 है, शुद्ध जानका मानो माता है, आनन्दस्त्री समुद्रमें परिपूर्ण है,  
 तथा केशस्त्री सारसमुद्रमें पार हो चुका है । भावार्थ—वितर्कको  
 संसारी सारस्वत परमात्माको ध्यानमें लेकर अनुभव करना योग्य है ।  
 फिर भी कहते हैं:—

णो सत्तु सहायठाणा, णो माणवमाणभावठाणा वा ।  
 णो हरिसभावठाणा, णो जीवस्स हरिस्स ठाणा वा ॥३९॥

सामान्य अर्थ—इस समयसारके निश्चयकरके न तो कोई स्वभाव  
 स्थान है न मान अपमानस्त्री भावस्थान हैं न हर्षभावस्व स्थान हैं  
 और न अहर्षभावरूप स्थान हैं ॥

विशेषार्थ—इस गायामे निर्विकल्प तत्त्व स्वरूपका वर्णन है । नू. भविष्य  
 वर्तमान तीनों कालमें जो निरुपाधि स्वभाव है अर्थात् जिसके कोई द्र-  
 व्यसम्बन्धी उपाधि नहीं है, ऐसा जो शुद्ध जीवास्तिकाय है उसके  
 निश्चयकरके कोई विभावरूप स्वभावस्थान नहीं है । शुभ अशुभ सर्व ही  
 मोह, राग और द्वेषके अभावसे उस शुद्ध जीवके मानअपमानके कारण-  
 भूत कोई कर्मके उदयस्थान नहीं हैं । न निश्चय करके उसके शुभो-  
 पयोगरूप परिणति होती है । इसलिये शुभकर्मका बंध नहीं होता । शुभ-  
 कर्मके न होनेसे संसारीक असारमुक्त नहीं होता, सासारिक सुखके  
 अभाव होनेसे उस शुद्ध जीवके कोई हर्षके स्थान नहीं है । इसीप्रकार  
 उस शुद्धजीवके अशुभोपयोगकी परिणति नहीं होती इस कारण अशुभ  
 कर्मका बंध नहीं होता । अशुभकर्मके अभावसे दुःख नहीं होता । दुःख  
 न होनेसे उस शुद्ध आत्माके कोई अहर्ष अर्थात् निरानन्द (दुःख) के  
 स्थान नहीं होते । टीकाकार कहते हैं कि “हे भव्यजीव; यदि तू-



इस दुःस्वरूप संसारसे हटकर सुखकी इच्छा करता है तो तू क्यों नहीं अपनी बुद्धि उस आत्मामें करता, जो प्रीति अप्रीतिसे रहित अविनाशी यद्में विराजमान है । जो सर्वथा अंतर्मुख होकर भेदरहित उदयमान सुखमें निराकार प्रकाशमान है । जिसका निर्मल शरीर चैतन्यअमृतसे परिपूर्ण मरा हुआ है । तथा जो आत्मस्वरूप सोजिगोंके ही ध्यानके गोचर है ” ।

भावार्थ—भग्यजीवको उचित है कि निरन्तर ऐसे ही उत्कृष्ट स्वभाववाले आत्माका मननकर अद्भुत और अनुपम सुखकी प्राप्ति करे । फिर भी कहते हैं—

णो ठिदिवंधढाणा, पयदिढाणा पदेसठाणा था ।

णो अणुभागढाणा, जीवस्स ण उदयठाणा या ॥ ४० ॥

सामान्य अर्थ—उस शुद्ध जीवास्तिकायके न तो कोई स्थिति-बंधके स्थान है, न प्रकृतिबंधके स्थान है न प्रदेश बंधके और न अनुमाग-बंधके स्थान हैं तथा उसके कोई उदयस्थान भी नहीं है ।

विशेषार्थ—इस गाथामें बंध व उदयके अभाव स्वरूपका कथन है । उस शुद्ध जीवात्माके कपायरूप स्थितिवंधका कारण ऐसे कोई स्थितिवंध स्थान नहीं है अर्थात् जब आत्मामें कर्मोंका बंध होता है तब उसमें आत्माके साथ उन कर्मोंके संबंधक रहनेकी मिसादका नाम स्थितिवंध है । उस आत्माके स्थितिको छिये हुए कोई स्थिति बंधरूप कर्म नहीं है । और न स्थितिवंधका कारण कोई कपायस्थान है । न उस आत्माके ज्ञानावरण आदि अष्टकर्मरूप होने योग्य पुद्गल द्रव्योंका स्वीकाररूप प्रकृतिबंध है । और न उसके कारण योगस्थान है । अशुद्धआत्माकी सत्तामें कर्मज्ज्ञ-णारूप पुद्गलोंका परस्पर प्रदेशोंमें प्रवेश होजाना सो प्रदेशबंध है । उस शुद्धआत्माके न ता यह बंध है और न इस बंधके योग्य योगस्थान ही है । शुभअशुभ कर्मोंकी जब निर्मल होनेका समय आता है तब वे

सुखदुःखरूप फल प्रदान करते हैं उस समय जिस शक्तिसे फलदान होता है उस शक्तिका नाम अनुभाग बंध है, उस शुद्धआत्मामें इस अनुभाग बंधका और इसके कारण कृपायुग्मानोंका जग भी अवकाश नहीं है। और न इस निर्मल आकाश सदृश आत्मामें द्रव्यकर्म और भावकर्मके उद्भूतरूप स्थानोंके ही रहनेकी जगह है। ऐसा ही श्री ब्रह्म-चन्द्रसूरिने कहा है:-“ जिस आत्मामें बद्ध और स्पर्शभावको छिपे हुए कर्म प्रगष्टरूपसे ऊपर ही ऊपर रहते हैं उसमें ध्यान करनेरूप प्रविष्टाको नहीं प्राप्त करते, तथा जो सर्वतरफसे प्रकाशमान है ऐसे आत्माको जगत्का सम्पूर्ण मोह छोड़कर है भव्यजीव तू अनुभव कर। केसा है आत्मा, जो सम्यक्स्वभावरूप है। ” ऐसा ही टीकाकार भी कहते हैं। “ मैं उस चेतन्यके पदका अतिशय करके अनुभव करता हू जो नित्य शुद्ध चिदानन्दमयी संपदाकी सानि है उत्कृष्ट है। और विपदाओंका स्थान नहीं है। अर्थात् जिसमें किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं है। जो भव्यजीव सर्व कर्मरूपी विषयक्षेत्रों पेदा होनेवाले अपने आत्माके स्वतंत्र विलक्षण सांसारिक फलोंको त्यागकर स्वाभाविक चेतन्यस्वरूप अपने आत्मतत्त्वको इस समय भोगता है वह भव्यजीव शीघ्र ही मुक्तिको प्राप्त करता है। इसमें कौन जीव संशय कर सकता है । भावार्थ- जो कोई इन्द्रियजनित विषयसुखोंको विपके समान जानकर त्यागता है और अपने आत्मीकतत्त्वका अनुभव करता है वही जीव कर्मोंकी निर्जरा करता हुआ कुठेक भवोंमें मुक्तिको प्राप्त कर सकता है। इसमें संदेह नहीं करना चाहिये।

फिर भी कहते हैं:-

णो खड्गभावठाणा, णो खयउवसमसहावठाणा वा ।

ओद्वड्गभावठाणा, णो उवसमणो सहावठाणा वा ॥४१॥

सामान्य अर्थ-उस शुद्ध जीवास्तिकायके न तो क्षादिकभावके

स्थान हैं, न क्षयोपशमभावके स्थान है, न औद्यिक भावके स्थान हैं और न उपशमभावके स्थान हैं ।

विशेष अर्थ—इस गाथामें चार विभाव स्वभावोंके कथनके द्वारा पंचम भावका व्याख्यान है । कर्मोंके क्षयसे जो भाव उत्पन्न हो सो क्षायिक भाव है, जैसे सात प्रकृतियोंके क्षयसे क्षायिक सम्यक् होता है व चारित्र मोहनीके नाशसे क्षायिक चारित्र होता है । कर्मोंके क्षयोपशमसे जो पैदा हो वह क्षयोपशमिक भाव है अर्थात् सर्व पातोंके उदयाभावरूप क्षयसे तथा सर्व पातोंके उपशमसे तथा देश पातोंके उदयसे जो भाव हो सो क्षयोपशम भाव है, जैसे छ प्रकृतियोंके उपशम तथा सम्यक् मोहनीके देशपाती स्पर्धकोंके उदयसे क्षयोपशम सम्यक् होता है । जो भाव कर्मोंके उदयसे होता है सो औद्यिक भाव है, जैसे नर्कगतिके उदयसे नारकी । कर्मोंके उपशमसे जो भाव हो सो औपशमिक भाव है, जैसे सात प्रकृतियोंके उपशमसे उपशम सम्यक् होता है । सर्व कर्मरूपी उपाधिसे रहित जो भाव आत्माके स्वाभाविक परिणाममें हो सो पारिणामिक भाव है । इन पांच भावोंमें औपशमिक भाव दो प्रकार, क्षायिक भाव नौ प्रकार, क्षयोपशम भाव १८ प्रकार, औद्यिक भाव २१ प्रकार तथा पारिणामिक भाव तीन प्रकारका है । औपशमिक भावोंके दो भेद हैं, एक उपशम सम्यक् दूसरा उपशम चारित्र । क्षायिक भाव नौ प्रकार है, क्षायिक सम्यक् क्षायिक चारित्र अर्थात् यथाख्यात चारित्र, केवलज्ञान, और केवल दर्शन तथा अतराय कर्मके नाश होनेसे पैदा होनेवाले अनंतज्ञान अनंतलाभ, अनंत भोग, अनंत उपभोग और अनंतवीर्य्य है । क्षयोपशमिक भावके १८ भेद यह हैं—मति, ध्रुत, अवधि, मन पर्य्यय ऐसे ज्ञान ४ कुमति, कुध्रुत और विभग अवधि ऐसे अज्ञान तीन । स्वध्रु, अधध्रु, अवधि ऐसे तीन दर्शन । काठ, करण, उपदेश, उपशम और प्रायोग्यता ऐसी पांच लब्धियाँ अर्थात् काठ लब्धि जिसको क्षयोपशम लब्धि भी कहते

सुखदुःखरूप फल पशान करते हैं उससमय जिस शक्तिसे कष्टप्रदान होता है उस शक्तिका नाम अनुभाग बंध है, उस शुद्धआत्मानें इस अनुभाग बंधका और इमंष्ट इतरग इनायम्यानोंका जग भी अवकाश नहीं है। और न इस निर्मल आकाश सदृश आत्मानें द्रव्यकर्म और भारकर्मके उदयरूप स्थानोंके ही रहनेकी जगह है। ऐसा ही श्री अमृत-चन्द्रमूरिने कता है:- "जिस आत्मानें बद्ध और स्पर्शनावको डिये हुए कर्म प्रगटरूपमें ऊपर ही ऊपर रहते हैं उसमें स्थान करनेरूप शक्ति काको नहीं प्राप्त करते, तथा जो सर्वतरफसे प्रकाशमान है ऐसे आत्माको जगत्का सम्पूर्ण मोह छोड़कर है भव्यजीव तू अनुभव कर। ऐसा है आत्मा, जो सम्पदम्बभावरूप है।" ऐसा ही टीकाकार भी कहते हैं। "मैं उस चैतन्यके पदका अतिशय करके अनुभव करता हूँ जो नित्य शुद्ध विद्वानंदमयी संपदाकी सानि है उत्कृष्ट है। और विपदाओंका स्थान नहीं है। अर्थात् जिसमें किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं है। जो भव्यजीव सर्व कर्मरूपी विपदक्षमे पैदा होनेवाले अपने आत्माके रूपसे विलक्षण सासारिक फलोंको त्यागकर स्वाभाविक चैतन्यस्वरूप अपने आत्मतत्त्वको इससमय भोगता है वह भव्यजीव शत्रि ही मुक्तिको प्राप्त करता है। इसमें कौन जीव संशय कर सकता है।" भावार्थ- जो कोई इन्द्रियजनित विषयसुखोंको विषके समान जानकर त्यागता है और अपने आत्मीकृतत्वका अनुभव करता है वही जीव कर्मोंकी निर्जरा करता हुआ कुठेक भवमें मुक्तिको प्राप्त कर सकता है। इसमें संदेह नहीं करना चाहिये।

किर भी कहते हैं:-

णो खड्गभावठाणा, णो खयउवसमसहावठाणा वा ।  
ओदड्गभावठाणा, णो उवसमणो सहावठाणा वा ॥४१॥

सामान्य अर्थ-उस शुद्ध जीवास्तिकायके न तो क्षायिकभावके

स्थान है, न क्षयोपशमभावेक स्थान है, न औद्भ्यिक भावके स्थान है और न उपशमभावक स्थान है ।

विशेष अर्थ—इन पाँचोंमें पाँच विभाव स्वभावोंके कथनके द्वारा पचम भाषका व्याख्यान है । कर्मोंके क्षयमें जो भाव उत्पन्न हो सो क्षायिक भाव है, जैसे सात प्रभृतियोंके क्षयसे क्षायिक सम्यक् होता है व चारित्र मोहनीके नाशसे क्षायिक चारित्र होता है । कर्मोंके क्षयोपशमसे जो पैदा हो वह क्षयोपशमिक भाव है अर्थात् सर्व पातोंके उद्भवाभावरूप क्षयसे तथा सर्व पातोंके उपशमसे तथा देश पातोंके उद्भवे में भाव हो सो क्षयोपशम भाव है, जैसे छ प्रभृतियोंके उपशम तथा सम्यक् मोहनीके देशपाती स्पर्धकाके उद्भवेसे क्षयोपशम सम्यक् होता है । जो भाव कर्मोंके उद्भवे होता है सो औद्भ्यिक भाव है, जैसे नर्कगतिके उद्भवेसे नारकी । कर्मोंके उपशमसे जो भाव हो सो औपशमिक भाव है, जैसे सात प्रभृतियोंके उपशमसे उपशम सम्यक् होता है । सर्व कर्मरूपी उपाधिसे रहित जो भाव आत्माके स्वाभाविक परिणाममें हो सो पारिणामिक भाव है । इन पाँच भावोंमें औपशमिक भाव दो प्रकार, क्षायिक भाव नौ प्रकार, क्षयोपशम भाव १८ प्रकार, औद्भ्यिक भाव २१ प्रकार तथा पारिणामिक भाव तीन प्रकारका है । औपशमिक भावोंके दो भेद हैं, एक उपशम सम्यक् दूसरा उपशम चारित्र । क्षायिक भाव नौ प्रकार है, क्षायिक सम्यक् क्षायिक चारित्र अर्थात् यथारय्यात चारित्र, केवलज्ञान, और केवल दर्शन तथा अतगाप कर्मके नाश होनेसे पैदा होनेवाले अनंतज्ञान अनंतलाम, अनंत भोग, अनंत उपभोग और अनंतवीर्य्य है । क्षायोपशमिक भावके १८ भेद यह हैं—मति, क्षुत्त, अवधि, मन पर्य्यय ऐसे ज्ञान ४ कुमति, कुक्षुत्त और विभग अवधि ऐसे अज्ञान तीन । चक्षु, अचक्षु, अवधि ऐसे तीन दर्शन । काल, करण, उपदेश, उपशम और प्रायोग्यता ऐसी पाँच लब्धियाँ अर्थात् काल लब्धि जिसको क्षयोपशम लब्धि भी कहते

सुखदुस्वरूप फल प्रदान करते हैं उससमय जिस शक्तिसे फलप्रदान होता है उस शक्तिका नाम अनुभाग बंध है, उस शुद्धआत्मामें इस अनुभाग बंधका और इसके कारण कषायस्थानोंका जग भी अवकाश नहीं है। और न इस निर्मल आकाश सदृश आत्मामें द्रव्यकर्म और भावकर्मके उदयरूप स्थानोंके ही रहनेकी जगह है। ऐसा ही श्री अमृत-चन्द्रसूरिने कहा है:-“जिस आत्मामें बद्ध और स्पर्शभावको डिये हुए कर्म प्रगष्टरूपसे ऊपर ही ऊपर रहते हैं उसमें स्थान करनेरूप प्रतिष्ठाको नहीं प्राप्त करते, तथा जो सर्वतरफसे प्रकाशमान है, ऐसे आत्माके जगत्का सम्पूर्ण मोह छोड़कर हे भव्यजीव तू अनुभव कर। केसा है आत्मा, जो सम्यक्स्वभावरूप है।” ऐसा ही टीकाकार भी कहते हैं। “मैं उस चैतन्यके पदका अतिशय करके अनुभव करता हूँ जो नित्य शुद्ध चिदानन्दमयी संपदाकी स्वानि है उत्कृष्ट है। और विषयजोंका स्थान नहीं है। अर्थात् जिसमें किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं है। जो भव्यजीव सर्व कर्मरूपी विषयक्षमे पैदा होनेवाले अपने आत्माके रूपसे विलक्षण सांसारिक फलोंको त्यागकर स्वाभाविक चैतन्यस्वरूप अपने आत्मतत्त्वको इससमय भोगता है वह भव्यजीव शीघ्र ही मुक्तिमें प्राप्त करता है। इसमें कौन जीव संशय कर सकता है”। भावार्थ- जो कोई इन्द्रियजनित विषयसुखोंको विषयके समान जानकर त्यागता है और अपने आत्मीकतत्त्वका अनुभव करता है वही जीव कर्मोंकी निर्मल करता हुआ कुठेक भवोंमें मुक्तिको प्राप्त कर सकता है। स्वयं संदेह नहीं करना चाहिये।

फिर भी कहते हैं:-

णो सद्दयमायठाणा, णो रणउवसमसहायठाणा या।

ओद्दयमायठाणा, णो उवसमणो सहायठाणा या ॥४॥

सामान्य अर्थ-उस शुद्ध जीवशक्तिकायके न तो क्षयिकभावके

स्थान है, न क्षयोपशमभावेक स्थान है, न औद्यिक भावके स्थान है और न उपशमभावके स्थान हैं ।

विशेष अर्थ—इस माध्यामे चार विभाव स्वभावोंके कथनके द्वारा पंचम भावका स्थान पान है । कर्मोंके क्षयमें जो भाव उत्पन्न हो सो क्षाधिक भाव है, जैसे ज्ञान प्रवृत्तियोंके क्षयसे क्षाधिक सम्पन्न होता है व चारित्र मोहनीके नाराय क्षाधिक चारित्र होता है । कर्मोंके क्षयोपशमसे जो पैदा हो वह क्षयोपशमिक भाव है अर्थात् सर्व चार्तिक उद्वाभारूप क्षयमें तथा सर्व चार्तिक उपशमसे तथा ऐश चार्तिक उद्घमे जो भाव हो सो क्षयोपशम भाव है, जैसे उ प्रवृत्तियोंके उपशम तथा सम्पन्न मोहनीके रूपाधारी कर्मोंके उद्घमे क्षयोपशम सम्पन्न होता है । जो भाव कर्मोंके उद्घमे जाता है सो औद्यिक भाव है, जैसे नर्कगतिके उद्घमे नारकी । कर्मोंके उपशमसे जो भाव हो सो औपशमिक भाव है, जैसे ज्ञान प्रवृत्तियोंके उपशमसे उपशम सम्पन्न होता है । सर्व कर्मरूपा उपाधिमें रहित जो भाव आत्माके स्वाभाविक परिणाममें हो सो पारिणामिक भाव है । इन पाँच भावोंमें औपशमिक भाव दो प्रकार, क्षाधिक भाव नौ प्रकार, क्षयोपशम भाव १८ प्रकार, औद्यिक भाव २१ प्रकार तथा पारिणामिक भाव तीन प्रकारका है । औपशमिक भावोंके दो भेद हैं, एक उपशम सम्पन्न दूसरा उपशम चारित्र । क्षाधिक भाव नौ प्रकार है, क्षाधिक सम्पन्न क्षाधिक चारित्र अर्थात् यथास्थान चारित्र, केवलज्ञान, और केवल दर्शन तथा अनरण कर्मके नाश होनेसे पैदा होनेवाले अनतज्ञान अनतदाम, अनंत भोग, अनंत उपभोग और अनंतवीर्य्य हैं । क्षयोपशमिक भावके १८ भेद यह हैं—मति, धुत, अवधि, मन पर्य्यय ऐसे ज्ञान ४ कुर्मति, कुधुत और विभेग अवधि ऐसे अज्ञान तीन । यधु, अचधु, अवधि ऐसे तीन दर्शन । काठ, करण, उपवेदा, उपशम और प्रायोग्यता ऐसी पाँच लब्धिणी अर्थात् काठ लब्धि जिसको क्षयोपशम लब्धि भी कहते

मुसवुग रूप कल प्रान करते हैं उस समय जिस शक्तिसे फलदान होता है उस शक्ति का नाम अनुभाग बंध है, उस शुद्ध आत्मा में इस अनुभाग बंध का और इसके कारण कषायस्थानों का जग भी अवकाश नहीं है। और न इस निर्मल आकाश सदृश आत्मा में द्रव्यकर्म और भावकर्म के उदयरूप स्थानों के ही रहने की जगह है। ऐसा ही श्री अमृत-चन्द्रमूरि ने कहा है:—“जिस आत्मा में बन्ध और संशोभाव को निवेष्ट रूप कर्म प्राप्तरूप में ऊपर ही ऊपर रहते हैं उसमें स्थान करने का प्रतिष्ठा को नहीं प्राप्त करते, तथा जो सर्वतरफ से प्रकाशमान है, ऐसे आत्मा को जगत् का सम्पूर्ण मोह छोड़कर है भव्यजीव तू अनुभव कर। केशा है आत्मा, जो सम्यक्स्वभाव रूप है।” ऐसा ही टीकाकार भी कहते हैं। “मैं उस चैतन्य के पद का अतिशय करके अनुभव करता हूँ जो नित्य शुद्ध चिदानन्दमयी संपदा की रानि है उत्कृष्ट है। और विपदाओं का स्थान नहीं है। अर्थात् जिसमें किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है। जो भव्यजीव सर्व कर्मरूपी विषयों से पैदा होनेवाले अपने आत्मा के स्वयं विलक्षण सांसारिक फलों को त्यागकर स्वाभाविक चैतन्यस्वरूप अपने आत्मतत्त्व को इस समय भोगता है वह भव्यजीव शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त करता है। इसमें कौन जीव संशय कर सकता है।” भावार्थ—जो कोई इन्द्रियजनित विषयों को विषय समान जानकर त्यागता है और अपने आत्मतत्त्व का अनुभव करता है वही जीव कर्मों को निर्जरा करता हुआ कुठेक भवों में मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। इसमें संदेह नहीं करना चाहिये।

किर भी कहते हैं:—

णो खड्यभावठाणा, णो खयउवसमसहावठाणा वा।

ओदड्यभावठाणा, णो उवसमणो सहावठाणा वा ॥४१॥

सामान्य अर्थ—उस शुद्ध जीवास्तिकाय के न तो क्षायिक भावों के



"हृदय" नाम अतिष्ठ तत्र और वीर्यं ऐश्वर्य आचार्यकी आचार्यकी  
विद्वान् ज्ञान एवं आचार्यको ज्ञान कर एक लक्ष्यभावकी को  
भाव करनेकी विचार करने है । और किसी भावका प्रत्यक्ष नहीं  
करती । एवं सुखके को भी कोणी जीवितिके भावको मूल समझकर  
प्राप्त्यर्थक्यामी भुक्ति मोक्ष देते है और साथ सम्यक्ताक्य प्राप्त्य  
आप्त्य तत्त्व ज्ञानकी संस्थासे भुक्ति प्राप्त करनेकी प्रवृत्ति प्रवृत्ति है इसके  
बिना ही प्राप्त है । अर्थात् वही निरीय कहते है । आचार्य ईश्वर  
सुख प्राप्त्यकी भी हृदय समझते है और सुख प्राप्त्यकी प्राप्त्यभावकी  
सबसे अधिक है । वही भावना सुख प्राप्त्यके प्राप्त्य होनेकी  
प्राप्त्य प्राप्त्य कारण है । अर्थात् मोक्षार्थ सुखकी प्राप्त्यभावकी  
ही प्रवृत्ति है ।

च उग्रधर्मसंभ्रमणं जाद्वरामाणसंभ्रमणं य ।  
कुत्रांजिजीवममण, ठाणा जीवममणं भन्ति ॥४२॥  
नामान्वय-इस सुख जीवक आचार्य भ्रमण नहीं है, न इसके  
जग, माण और शोक है । तथा इसके सुख यानि जीवममण  
आचार्य अर्थ-इस माध्यमे सुख निष्पन्नयकी अवस्था यह प्रवृत्ति है  
कि इस सुख जीवक समस्त कर्माके विकार नहीं है । यह सुख जीव-  
निकाय द्रव्य कर्म और भाव कर्मको रक्षित नहीं करता इस कारण  
यह जीवता नित्य सुख चिदान्वय है कारण परमात्मरूप है अर्थात्  
इसके ही ध्यान करनेसे परमात्मा होता है । न इस जीवक द्रव्यकी  
भावकर्मके ग्रहण योग्य विनाशप्रतिष्ठा होती है इसलिये इसके जन्म  
जग, माण, तम और शोक नहीं है । न इसके आचार्य भक्ति सब  
जीवके योग्य सुख और योनिके विकल्प है । सुख और योनिके

हैं, दूसरी उपशम अर्थात् विशुद्धि लब्धि, तीसरी उपदेश अर्थात् देशना  
लब्धि, चौथी प्रायोग्य लब्धि, पचमी करण लब्धि, क्षयोपशम सम्पन्न  
और क्षयोपशम चातित्र तथा संयमासंयम परिणति ये १८ भेद क्षयो-  
पशम भावके हैं । औद्यिक भाव २१ प्रकार इस मांति है—नारक  
तिर्यश्च, मनुष्य, देव ऐसे चार गति, क्रोध मान माया लोभ ऐसे ४ कषाय  
स्त्री, पुष्टिंग, नपुंसक ऐसे तीन लिंग, सामान्य संग्रहनयकी अपेक्षासे निम्न  
दर्शन एक, अज्ञान एक, असंयम एक, असिद्धत्व एक, शुक्ल, पद्म, पीत,  
कापोत, नील, कुष्माण्ण ऐसे छः रेश्या । पारिणामिक भाव ३ प्रकार है  
जीवत्व पारिणामिक, भव्यत्व पारिणामिक और अभव्यत्व पारि-  
मिक । इनमें जीवत्व पारिणामिकभाव भव्य अभव्य दोनोंके होता है ।  
भव्यत्वभाव भव्योंहीके और अभव्यत्व अभव्योंहीके होता है । इस प्रकार  
पांचप्रकार भावोंके ५३ भाव हैं । इन पांच भावोंके बंधने  
क्षायिकभाव तो कार्य्यसमयसार स्वरूप है । यह कार्य्यरूप मात्र  
तीर्थकर उपलक्षणसे सामान्य केवली अथवा सिद्धके होता है । कैसे हैं  
तीर्थकर, तीन लोकके प्रक्षोभके कारण भूत तार्थ्यकरणके द्वारा सम्यग्  
प्रकार निर्मल केवलज्ञान जिनको प्राप्त हुआ है । औद्यिक, औपशमिक,  
और क्षयोपशमिक, ये भाव संसारियोंहीके होते हैं । मुक्त  
जीवोंके ये भाव नहीं होते । परन्तु वे चारों ही भाव कर्मोंके आव-  
रणकी अपेक्षासे होते हैं । इसलिये ये चारों ही मुक्तिके कारण नहीं  
हैं । तीनों कालमें जिसको किसी प्रकारकी उपाधि नहीं है ऐसा निर-  
पावि निराजनरूप जो अपना ही शुद्ध पारिणामिक पंचम भाव है उस-  
हीकी भावना करनेसे मुमुक्षुजीव मोक्षरूप पंचम गतिमें जाते हैं, जन्मे

— १ —

होनेकी अवस्था निकट आती जाती है । टीकाकार कहते हैं कि

‘‘इरीन, ज्ञान, चरित्र, तप और दीर्घ्य ऐसे पांच आधारोंको आधारकेवाले विद्वान् लोग सर्व धर्मयुक्तों त्याग कर एक पंचमभावर्हीको मोक्ष प्राप्त करनेकेलिये स्मरण करते हैं । और द्विती भावका धनन नहीं करते । सर्व पुण्यकर्मका भी भोगी जीवोंकेलिये भोगोंका मूल समझकर परमात्मज्ञानवासी मुनि छोड़ देते हैं और परम समयगाररूप साधभूत अपने तत्त्व स्वरूपको शोभाते मुक्ति प्राप्त करनेकेलिये भजते हैं इसमें कान्गवा हाथ है । अर्थात् वही निश्चय कार्य है ।’’ भावार्थ—सुनिश्चित पुण्यको भी हेय समझते हैं और शुद्ध स्वरूपकी साधभूतभावनामें लब्धीन रहते हैं । यही भावना शुद्ध स्वभावके प्राप्त होनेकेलिये परम साक्षर कारण है ॥ इसलिये मोक्षपद इष्टुकोको स्वरूपभावना ही कर्मभ्य है ।

**चतुर्गद्वयसंभ्रमणं जाइजराभरणरोपसोका य ।**

**कुलजोणिजीयमगण, ठाणा जीयस्स णो सन्ति ॥४२॥**

**सामान्यअर्थ—**इस शुद्ध जीवके चार गतिमें भ्रमण नहीं है, न इसके जन्म, जग, मरण और शोक है । तथा इसके कुल, योनि, जीवसमाप्त और मार्गणा स्थान भी नहीं है ।

**विशेष अर्थ—**इस गाथामें शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा यह कथन है कि इस शुद्ध जीवके समस्त संसारके विकार नहीं हैं । यह शुद्ध जीवात्मिकाय द्रव्य कर्म और भाव कर्मको स्वीकार नहीं करता इस कारण नाक, तिर्यक, मनुष्य और देव ऐसी चार गतियोंमें भ्रमण नहीं करता । यह आत्मा नित्य शुद्ध चिदानंदरूप है कारण परमात्मस्वरूप है अर्थात् इसीके ही ध्यान करनेसे परमात्मा होता है । न इस जीवक द्रव्यकर्म भावकर्मके ग्रहण योग्य विभावपरिणति होती है इसलिये इसके जन्म, जग, मरण, रोग और शोक नहीं है । न इसके चार गति संबन्धी जीवोंके योग्य कुल और योनिके विकल्प हैं । कुल और योनिके भेद

द्वै, दूसरी उपशम अर्थात् विशुद्धि लब्धि, तीसरी उपदेश अर्थात् देहना लब्धि, चौथी प्रायोग्य लब्धि, पंचमी करण लब्धि, क्षयोपशम सम्यक् और क्षयोपशम चारित्र तथा संयमासंयम परिणति ये १८ भेद श्रयोपशम भावके हैं । औदयिक भाव २१ प्रकार इस भांति है:-नाग, तिर्यक, मनुष्य, देव ऐसे चार गति, क्रोध मान माया लोभ ऐसे ४ कषाय, श्री, पुष्टिग, नपुंसक ऐसे तीन लिंग, सामान्य संग्रहनयकी अपेक्षासे मिथ्या दर्शन एक, अज्ञान एक, असंयम एक, असिद्धत्व एक, शुक्ल, पद्म, पीत, कापोत, नील, कृष्ण ऐसे छः लेश्या । पारिणामिक भाव ३ प्रकार है जीवत्व पारिणामिक, भव्यत्व पारिणामिक और अभव्यत्व पारिणामिक । इनमें जीवत्व पारिणामिकभाव भव्य अभव्य दोनोंके होता है । भव्यत्वभाव भव्योंहीके और अभव्यत्व अभव्योंहीके होता है । इस प्रकार पांचप्रकार भावोंके ५३ भाव हैं । इन पांच भावोंके बीचमें क्षायिकभाव तो कार्यसमयसार स्वरूप है । यह कार्यरूप भाव तीर्थकर उपलक्षणसे सामान्य केवली अथवा सिद्धके होता है । कैसे है तीर्थकर, तीन लोकके प्रक्षोभके कारण भूत तीर्थकरपनेके द्वारा सम्पूर्ण प्रकार निर्मल केवलज्ञान जिनको प्राप्त हुआ है । औदयिक, औपशमिक, और क्षयोपशमिक, ये भाव संसारियोंहीके होते हैं । मुक्त जीवोंके ये भाव नहीं होते । परन्तु वे चारों ही भाव कर्मोंके अकरणकी अपेक्षासे होते हैं । इसलिये ये चारों ही मुक्तिके कारण नहीं हैं । तीनों कालमें जिसको किसी प्रकारकी उपाधि नहीं है ऐसा निरुपाधि निरंजनरूप जो अपना ही शुद्ध पारिणामिक पंचम भाव है उसहीकी भावना करनेसे मुमुक्षुजीव मोक्षरूप पंचम गतिमें जाते हैं, जायते और गए हैं । भावार्थ-यहा शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे कथन है । जब मुमुक्षु अपने निर्विकल्प शुद्ध स्वभावका अनुभव करता है तब ही कर्मबध शिथिल होते हैं तथा उनकी निर्जरा होती है । और आत्माकी मोक्ष होनेकी अवस्था निकट आती जाती है । टीकाकार कहते हैं कि

“दर्शन, ज्ञान, चरित्र, तप और वीर्य ऐसे पांच आचारोंको आचरणेवाले विद्वान् लोग सर्व प्रपंचको त्याग कर एक पंचमभावहीको मोक्ष प्राप्त करनेकेलिये स्मरण करते हैं । और किसी भावका मनन नहीं करते । सर्व पुण्यकर्मको भी भोगी जीवोंकेलिये भोगोंका मूल समझकर परमतत्त्वाभ्यासी मुनि छोड़ देते हैं और परम समयसारूप सारभूत अपने तत्त्व स्वरूपको संसारसे मुक्ति प्राप्त करनेकेलिये भजते हैं इसमें कानसा दोष है । अर्थात् वही निर्दोष कार्य है ।” भावार्थ—मुनीश शुभ पुण्यको भी हेय समझते हैं और शुद्ध स्वरूपकी सारभूतभावनामें लवटीन रहते हैं । यही भावना शुद्ध स्वभावके प्रगट होनेकेलिये परम साक्षात् कारण है ॥ इसलिये मोक्षपद इच्छुकोंको स्वस्वरूपभावना ही कर्तव्य है ।

**चतुर्गद्वयसंभ्रमणं, जाद्वज्रामरणरोयसोका य ।**

**कुलजोणिजीवमगण, ठाणा जीवस्स णो सन्ति ॥४२॥**

सामान्यअर्थ—इस शुद्ध जीवके चार गतिमें भ्रमण नहीं है, न इसके जन्म, जरा, मरण और शोक है । तथा इसके कुल, योनि, जीवममास और मार्गणा स्थान भी नहीं हैं ।

विशेष अर्थ—इस गायामें शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा यह कथन है कि इस शुद्ध जीवके समस्त संसारके विकार नहीं हैं । यह शुद्ध जीवास्तिकाय द्रव्य कर्म और भाव कर्मको स्वीकार नहीं करता इस कारण नरक, तिर्य्यक, मनुष्य और देव ऐसी चार गतियोंमें भ्रमण नहीं करता । यह आत्मा नित्य शुद्ध चिदानंदरूप है कारण परमात्मस्वरूप है अर्थात् इमीके ही ध्यान करनेसे परमात्मा होता है । न इस जीवके द्रव्यकर्म भावकर्मके ग्रहण योग्य विभावपरिणति होती है इसलिये इसके जन्म, जरा, मरण, रोग और शोक नहीं हैं । न इसके चार गति सबन्धी जीवोंके योग्य कुल और योनिके विकल्प हैं । कुल और योनिके भेद

कहते हैं—पृथ्वीकायिक जीवोंके बाईसलाख कोड़ कुल हैं। जलकायिक जीवोंके सात लाख कोड़ कुल हैं। तेजकायिक जीवोंके तीनलाख कोड़ कुल हैं। वायुकायिक जीवोंके सात लाख कोड़ कुल हैं वनस्पतिकायिक जीवोंके अठ्ठाईस लाख कोड़ कुल हैं। द्रोन्द्रिय जीवोंके सातलाख कोड़ कुल हैं, तेन्द्रिय जीवोंके आठलाख कोड़ कुल हैं। चोन्द्रिय जीवोंके नौलाख कोड़ कुल हैं, पंचेन्द्रियोंमें जलचर जीवोंके साढ़े बारह लाख कोड़ कुल हैं, आकाशचारी पक्षियोंके बारह लाख कोड़ कुल हैं। चार पैर वाले पशुओंके दस लाख कोड़ कुल हैं, सरीसर्पोंके नौ लाख कोड़ कुल हैं, नारकियोंके पच्चीस लाख कोड़ कुल हैं। मनुष्योंके बारह लाख कोड़ कुल हैं, देवोंके छब्बीस लाख कोड़ कुल हैं, सर्व मिलके एकसौ साठ सत्तानवे लाख कोड़ कुल हैं।

योनियोंके भेद कहते हैं—  
जलकायिक जीवोंके सात लाख योनिमुक्त हैं। तेजकायिक जीवोंके सात लाख योनिमुक्त हैं। वायुकायिक जीवोंके सात लाख योनिमुक्त हैं। निम्ब निगोद जीवोंके सात लाख योनिमुक्त हैं। चतुर्गति निगोद जीवोंके सात लाख योनिमुक्त हैं। वनस्पति कायिक जीवोंके दस लाख योनिमुक्त हैं। द्वेन्द्रिय जीवोंके दो लाख योनिमुक्त हैं। तेन्द्रिय जीवोंके दो लाख योनिमुक्त हैं। चोन्द्रिय जीवोंके दो लाख योनिमुक्त हैं, देवोंके चार लाख योनिमुक्त हैं। नारकियोंके चार लाख योनिमुक्त हैं। विषय पंचेन्द्रियोंके चार लाख योनिमुक्त हैं। मनुष्योंके चौदह लाख योनिमुक्त हैं। स्थूल एकेन्द्री, सूक्ष्म एकेन्द्री, संज्ञी पंचेन्द्री, असंज्ञी पंचेन्द्री, द्वीन्द्रिय, तेन्द्रिय, चोन्द्रिय, यह सात प्रकारके जीव पर्याप्त और अपर्याप्तके भेदसे चौदह प्रकार होते हैं। इनहीको १४ जीव समाप्त कहते हैं। गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कथाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, ऐश्वर्य, भव्य, सम्यक्, सत्ता, आहारक ऐसे १४ प्रकार मार्गनाम्थान हैं। इन समाप्त मार्गनाम्थान आदिका स्वल्प श्रीमद्भारतमें जानना चाहिये।

है । श्रीभगवान् सूत्रकार श्रीकुंडकुदाचार्यजीका यह अभिप्राय है कि शुद्ध निश्चय नयकरके उस भगवान् परमात्मा अर्थात् शुद्ध जीवास्ति-  
कायके यह कुल ध्यान, समास, मार्गना आदि कोई स्थान नहीं है । ऐसा  
ही श्रीभगवत्सूत्रकार कहते हैं । “ सर्व ही चैतन्य शक्तिके खाटी जो  
पदार्थ है उनको इस समय त्यागकर तथा प्रगटरूप अपनी चैतन्य  
मान शक्तिमें प्रवेशकरके जगतके साक्षात् ऊपर ऊपर रहनेवाले अंतः-  
हित आत्माको अपने आत्माकेबिषय यह परमात्मा अर्थात् महान् आत्मा  
अनुभव करें । चैतन्य शक्तिसंख्येय सर्वका सारभूत यह आत्मा है, यह  
इतना ही है इसके सिवाय अन्य सर्व ही भाव पुत्रल सम्बन्धी है ।  
भावार्थ—चैतन्य शक्तिका पुंज यह आत्मा ही है जगतमें रहते हुए भी  
जगतके पदार्थोंसे भिन्न है । इसलिये इस शुद्ध आत्माका अनुभव  
कार्यकारी है । टीकाकार कहते हैं कि “ यह आत्मा जो निरंतर ऐसी  
भावना करे कि मैं असंख्य ज्ञानरूप हूं तो भयानक संसारसम्बन्धी विक-  
ल्पको दूर करता है । और निर्विकल्प समाधिको प्राप्त करके सत्ता मात्र  
रहकर पर परणमनसे दूर तुलना रहित और पापवर्जित अवस्थाको प्राप्त  
करता है ॥ इसप्रकार श्रीवीरनाथ तर्किकरसे पापमुक्तस्वर्गी अर्थका  
प्राप्त करनेको प्रवीण तथा जन्म जरा मरणका नाशक ऐसा उपदेश  
समझकर सत्य और शीलके जहाज जो सन्तपुरुष सो संसार समुद्रके  
अगले तटको पहुँच जाते हैं । कैसे है वीरनाथस्वामी, जिनके चरणारविन्द  
भक्तिसे भरे इन्द्रोके मुकुटोंकी सत् रत्नमालाओंसे पूजनीक है । ”  
भावार्थ—श्रीवर्द्धमानस्वामीका यही उपदेश है जो संसारके विकल्प  
दूरकर आत्मानुभव करें—इस उपदेशको मानकर चलनेवाले जीव अवश्य  
मुक्तिके भागी होते हैं ।

फिर भी कहते हैं:—

निदंढो निद्वंद्वो, निम्भमो निक्कलो निराळंघो ।

णीरागो निदोसो, निम्मूढो निम्भयो अप्पा ॥ ४३ ॥

सामान्यअर्थ—वह शुद्ध आत्मा दंड रहित है, दूध रहित है, ममकार रहित है, शरीर रहित है, आलम्ब रहित है, राग रहित है, द्वेष रहित है, भुक्ता रहित है तथा भय रहित है, निश्चयकरके ऐसा जानो ।

विशेषअर्थ—इस गायामें कहते हैं कि शुद्ध आत्माके समस्त विना-  
वभावोंका अभाव है । मनदंड, वचनदंड, और कायदंड गायामें न  
वचन कायकी क्रिया और इनके योग्य द्रव्यकर्म और भावकर्म  
होनेके भावसे यह शुद्धआत्मा निर्दंड है । निश्चयकरके यह शुद्ध  
आत्मा ही परमपदार्थ है सर्व अन्य पदार्थोंसे रहित है, इसकारण नि-  
र्दूध है । न इस आत्माके शुभ तथा अशुभ समस्त मोह राग द्वेष हैं,  
इनके अभाव होनेसे यह आत्मा ममकार रहित निर्मम है । निश्चयकरके  
औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तेजस, कामाण इन पाँच शरीरोंसे  
रहित होनेसे यह आत्मा निःकल अर्थात् असरीर है । निश्चयकरके उस  
परमात्माके परद्रव्यका कोई आलम्ब अर्थात् सहारा नहीं है । इसलिये  
वह निरालम्ब है । मिथ्यात्व, वेद, राग, द्वेष, हास्य, रति, अग्नि,  
शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ इत्येक प्रकार चौदह  
प्रकारका अभ्यंतर्गपरिमह उस प्रभुके नहीं है । इसलिये वह शुद्ध  
आत्मा नीराग है । निश्चयकरके सम्पूर्ण पाप मलकलंकरूपी कबड्डी  
रहित सामर्थवान् स्वाभाविक परमवीतरागरूप सुख समुद्रके मत्स्य दूरी  
हुई प्रगट सहज आत्माकी अवस्था होनेके कारण वह शुद्ध आत्मा स्वाभ-  
विक ज्ञानरूप शरीरके धारनेसे पवित्र है इसलिये वह आत्मा निर्दोष  
है । स्वाभाविक निश्चयनयके बलसे स्वाभाविक ज्ञान, स्वाभाविक  
दर्शन, स्वाभाविक चरित्र तथा स्वाभाविक परमवीतराग नृत्त आदि  
अनेक परमधर्मोंको धारण करनेवाला ऐसा जो निज उत्कृष्ट तत्त्व उसके  
जाननेको शक्तिमान है इस कारण वह शुद्ध आत्मा निर्मूढ़ अर्थात् मूर्ख



रहित है । अथवा निर्मूढ़के स्थानमें निर्मूढ़ शब्द भी है इसलिये कहते हैं कि आदि सहित परन्तु अंतरहित अमूर्तीक अतीन्द्रिय स्वभावस्वरूप होनेसे शुद्ध सद्भूत व्यवहार नयके बलसे वह आत्मा भूतभविष्य वर्तमान त्रिकाळ सम्बन्धी तीनलोकवर्ती समस्त जगत् स्थावर जीवोंको, वचर अचर पदार्थोंको तथा उनके सम्पूर्ण गुण और पर्यायोंको एक ही समयमें जाननेका शक्तिमान जो सम्पूर्णतया निर्मल केवल ज्ञानरूप अवस्था उसको धारण करनेवाला है, इसकारण वह शुद्ध आत्मा निर्मूढ़ अर्थात् कोई बात जिससे छिपी नहीं है ऐसा है । तथा जो आत्मा सर्व पापरूप धर्मोंकी संज्ञासे किसीप्रकार भी प्रवेश योग्य नहीं है, ऐसे शुद्ध निज आत्म तत्त्वरूप महान् दुर्ग अर्थात् किलेमें बसनेके कारण निर्भय अर्थात् भयरहित है । भावार्थ—जो दुःप्रवेश दुर्गमें बसे जहाँ कोई घन्तु घुस नहीं सके उसको किस बातका भय । ऊपर कहे हुए विशेषणों सहित जो शुद्ध आत्मा है सो ही उपादेय है—अनुभव करनेके योग्य है । ऐसाही श्रीअमृतदासि नाम ग्रन्थमें कहा है—“वह शुद्ध आत्मा अ आ आदि स्वर समूह व विसर्ग व क स आदि व्यंजन ऐसे अक्षरोंसे रहित है, स्पर्शरहित रहित अविनाशी मुक्तरूप है, उसके पच रस, अंधकार, रूप, स्पर्श, गंध, जल, वायु, पृथ्वी अग्नि आदिके अणु और स्थूल रूप तथा दिशाओंके चक नहीं हैं ।” टीकाकार कहते हैं वह समयसार, अर्थात् शुद्ध आत्मा ही हमारी रक्षा करे । कैसा है वह समयसार, जो पापरूपी वनके काटनेके लिये कुठारके समान है । जो दुष्ट कमोकी विजयको प्राप्त कर चुका है, पररूप परिणमन करनेमें दूर है । रागरूपी समुद्रको जिसने सोस लिया है । नानाप्रकारके विकार अर्थात् विभावभाव उनको जिसने नाश कर डाले हैं, जो सत्य आनन्दरूपी समुद्र है तथा जिसने कामदेवको अस्त कर दिया है । वह परमतत्त्व जयवन्त हैं । जो आत्मतत्त्वमें तत्तीन पद्मप्रभमुनिके हृदय कमलमें विराजित हैं । जो विकार रहित है, नानाप्रकार विकल्पोंका

नाश करनेवाला है तथा जो कल्पनामात्र अर्थात् देखनेमात्र सुन्दर ऐसे भवभवके मुक्त कुत्तांसे रहित है, बुद्धिमान आचार्योंने जिस परमतत्त्वका ऐसाही स्वरूप कहा है। हे भव्यजीव यदि भव्यतारूपीभावने तुझको प्रेरित किया है तो तू संसारसे मुक्ति प्राप्त करनेकेलिये ऐसे ही आत्माका भजन कर, जो रात्रिदिन अपने अनंत ज्ञानके आर्धन है। जो स्वाभाविक गुणरूपी रत्नोंकी खानि है, जो सर्वतत्त्वोंमें सार है तथा आत्मिक परिणतिसे उत्पन्न सुखरूपी समुद्रमें मग्न है। हे यती जो तू संसार और भोगोंसे उदास है तथा निज आत्मामें अपनी बुद्धि धारनेवाला है तो तू संसारके कारण कर्मबन्धकी नाश करनेवाला जो यह आत्मिक पद है उसीका भजन कर। विनाश होनेवाली वस्तुकी चिंता करनेसे तुझको क्या लाभ होगा? मैं उस समयसार अर्थात् शुद्ध आत्माको समतारसरूपी जलसे सदा पूजता हूँ, जो समयसार परमात्मा आकुलतारहित है, अपने गुणोंसे अच्युत अर्थात् दृढ़ है, जन्म मरण रोगादिसे रहित है तथा स्वाभाविक निर्मल आनन्दरूपी अमृतका घर है। पूर्व सूत्रकार आचार्योंने जैसा आत्मतत्त्वका वर्णन किया है ऐसा ही निज आत्म तत्त्वको अपने स्वसंवेदनज्ञानके द्वारा विशुद्धरूप जानकरके तथा अनुभवकरके जो कोई भव्यजीव मुक्तिको प्राप्त करता है उस शुद्ध आत्माको मैं उनमें मुखकी प्राप्तिकेलिये निरन्तर भाता हूँ, अर्थात् मनन करता हूँ। जो भव्यजीव इस लोकमें परमात्मतत्त्वकी भावनामें अपने आत्माको परिणमन करता है वह भव मरके कुरांसे दूर होकर सिद्ध अवस्थाको प्राप्त करता है। कैसा है वह परमात्मतत्त्व, जो आदि अंतरहित, पापमुक्त, निर्द्वंद्व अक्षय अत्यंत विशाल और स्वेष्टवान है। भावार्थ—सर्व भावोंको भेटकर एक शुद्धस्वभावकी भावनेही शक्तिकारी है।

फिर भी उसीका स्वरूप कहते हैं:-

णिग्गंधो णीरागो, णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को ।

णिक्कामो णिकोहो, णिम्माणो णिम्मदो अण्णा ॥४४॥

सामान्य अर्थ—वह शुद्ध जीवास्तिकाय निर्मन्य है वीतराग है । निःशून्य है, सर्व दोषरहित है, कामरहित, शोधरहित तथा मान और मदरहित है ।

विशेष अर्थ—इस गाथा में भी शुद्ध जीवका स्वरूप कहा है । वह आत्मा बाह्य और अभ्यंतर २४ प्रकारके परिहराहित है इससे निर्मन्य है, सम्पूर्ण मोह रागद्वेषमयी चेतनकर्मके अभावसे नीराग है, निदान, माया, और मिथ्यात्व ऐसे तीन शून्यरहित निःशून्य है, शुद्ध निश्चयकरके शुद्ध जीवास्तिकायके द्रव्यकर्म और नाकर्म नहीं है इससे सर्व दोषोंसे रहित है । शुद्ध निश्चयकरके अपने परम तत्त्व में भी बाँटाके न होनेसे निःकाम है । निश्चयकरके शुभ अशुभ सर्व पराद्रव्यकी परिणतिके न होनेसे निःक्रोध है, क्योंकि पराद्रव्यका सम्बन्ध ही क्रोधका कारण है । निश्चयकरके सदा परम समनारसमयी है इससे मानका अभावरूप निर्मान है । निश्चयकरके अपने आत्मभावमें पूर्णपने लीन होनेके कारण मदरहित निर्मद है । इस प्रकार विशेषकरके शुद्ध सहजसिद्ध अविनाशी निज कारणसमयसारका स्वरूप कहा है अर्थात् जिस स्वरूपके मनन करनेसे समयसारता प्राप्त होती है इसकारण वही स्वरूप उपादेय अर्थात् ग्रहणयोग्य है । ऐसीही धीअमृतचंद्रसूरिने कहा है:-सुखिर कालसे पर परिणतिके छेदसे तथा कर्त्ता कर्म आदि भेदकी भाँतिके नाश होनेसे जिसने शुद्धात्मतत्त्वकी प्राप्ति किया है तथा जो चेतन सत्य चिन्मात्र प्रत्यक्ष ज्योतिर्मे मूर्तित है उसकी स्वाभाविक उदयरूपमहिमा सर्वज्ञ भेदको मुक्त करनेकेलिये स्थित रहें अर्थात् कायम रहे । टीकाकार कहते हैं कि जिसने ज्ञान ज्योतिके द्वारा पाप-

अंधकारके समूहको नाश कर डाला है, जो नित्य आनंद आदि अमूल्य महिमाका धारी है, जो सदा ही मूर्तिकरके रहित है, जो अपने स्वभावसे निश्चल रहनेके कारण अपने शुद्ध स्वभावका मूल है, जो भवभयको हरनेवाला मोक्षरूप लक्ष्मीका स्वामी है उसको मैं वन्दना करता हूँ।

आगे कहते हैं कि कारण परमात्माके पुद्गलद्रव्य सम्बन्धी कोई विकार नहीं है:-

वण्णरसगंधफासा, थीपुंसणओसयादिपज्जाया ।

संठाणा संहणणा, सव्वे जीवस्स णो संति ॥ ४५ ॥

अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।

जाण अलिंगगहणं, जीवमणिद्विद्वसंठाणं ॥ ४६ ॥

सामान्य अर्थ—उस शुद्ध जीवास्तिकायके वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, स्त्री, पुरुष, नपुंसक पर्याय, उः संस्थान, उः संहनन नहीं हैं। यह आत्मा रसरहित, रूपरहित, गंधरहित है। इन्द्रियों द्वारा प्राप्त नहीं है। चेतना गुणवान है, शब्दरहित है, किसी चिन्ह व आकारसे ग्रहण न निर्देश करनेयोग्य नहीं है।

विशेष अर्थ—इन दो गाथाओंमें कहा है कि परम स्वभावकी कारण परमात्माके पुद्गलद्रव्य सम्बन्धी कोई भी विकार नहीं है। निश्चयनयकरके उस शुद्धआत्माके पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध, आठ स्पर्श, स्त्री, पुरुष, नपुंसक विभावरूप विजातीय व्यंगनपर्याय, कुम्भक आदि उः संस्थान, वज्ररूपभ नागच आदि उः संहनन नहीं हैं। यह सर्व पुद्गलोंके ही होते हैं जीवोंके नहीं। मत्सारी अरण्यामें मत्सारी जीवोंके स्थावर नामा नामकर्मके उदयसे एकैन्द्रियोंके कर्म फल चेतना होती है, वज्र नामा नामकर्मके उदयसे वज्र जीवोंके कार्यसहित कर्म चेतना होती है। कार्यकेवल परमात्मा तथा कारणरूप परमात्माके शुद्धज्ञान चेतना होती है। इस कारण कार्य समयभार वा कारण समयभारके जो शुद्धद्रव्य

चेतना होती है वह स्वभावरूप तथा स्वाभाविक फलरूप है । अतएव हे शिष्य, तुम सहज शुद्ध ज्ञान चेतनारूप आत्माको अर्थात् निज कारण परमात्माको ससार अवस्था वा मुक्तारूप अवस्थामें सर्वत्रा एकरूप उपादेय है, ऐसा जानो । भावार्थ—कर्मफल चेतना, और कर्म चेतनाके भावोंको त्यागकर शुद्ध ज्ञान चेतनाके ही भाव सदा कर्तव्य है । ऐसाही एकचस्-  
सतिमें कहा है—“ आत्मा भिन्न है वैसेही उसकेसाथ रही हुई नोकर्म द्रव्य भिन्न है तथा द्रव्यकर्म भिन्न है, कर्म और आत्माकी निकटतास जो विकार होता है वह विकार भी शुद्ध आत्मासे भिन्न है । काल, क्षेत्र आदि जो कुछ परद्रव्य हैं सो सर्व मेरे आत्मस्वरूपसे भिन्न हैं । सर्व ही द्रव्य अपने अपने गुण कटासे शोभित रहकरके भिन्न भिन्न ही रहने हैं ” गीताकार कहते हैं कि “ आत्माके साथ बंध होवे व न होवे शुद्ध जीवके स्वरूपमें समस्त ही मूर्तीक द्रव्योंका विचित्र जाल भिन्न है पृथक् है । यह श्रीजिनेन्द्र-  
का शब्द वचन है । आचार्योंने भी ऐसाही कहा है । यही इस मुक्तनये प्रगट भी है । हेतु भव्य नित्य ऐसा ही समस्त ’ । भावार्थ—सर्व परद्रव्यजनित विकारोंको अपने शुद्ध स्वरूपसे अलग अनुभव कर, परमात्मस्वभावक मननकरनेका अभ्यास करना योग्य है ।

आगे संसारी और मुक्तजीवोंकी समानता बताते हैं —

जारिसिया सिद्धप्पा, भवमहिय जीव तारिसा हांति ।

जरमरणजम्ममुक्ता, अटगुणाटकिया जेण ॥ ४७ ॥

सामान्य अर्थ—जैसे सिद्ध आत्मा है वैसे ही ससारमें लीन जीव हैं । जैसे हैं सिद्ध, जरा मरण और जन्मसे रहित हैं तथा अटगुणसे शोभायमान हैं ।

विशेष अर्थ—शुद्ध द्रव्यार्थिक नयके अभिप्रायसे संसारी और मुक्तजीवोंमें कोई अंतर नहीं है यह बात इस गाथामें कहते हैं । जो कोई अत्यन्त निकट भव्यजीव है वे प्रथम संसार अवस्थामें संसारके

अंकारके समूहको नाश कर डाला है, जो नित्य आनंद आदि अगुल महिमाका धारी है, जो सदा ही मूर्तिकरके रहित है, जो अपने स्वभावसे निश्चल रहनेके कारण अपने शुद्ध स्वभावका मूल है, जो भवमयको हरनेवाला मोक्षरूप लक्ष्मीका स्वामी है उसको मैं वन्दना करता हूँ।

आगे कहते हैं कि कारण परमात्माके पुद्गलद्रव्य सम्बन्धी कोई विकार नहीं है:-

वण्णरसगंधफासा, थीपुंसणओसयादिपजाया ।

संठाणा संहणणा, सव्वे जीवस्स णो संति ॥ ४५ ॥

अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसहं ।

जाण अलिंगगहणं, जीवमणिहिट्संठाणं ॥ ४६ ॥

सामान्य अर्थ—उस शुद्ध जीवास्तिकायके वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, स्त्री, पुरुष, नपुंसक पर्याय, छः संस्थान, छः संहनन नहीं हैं। इस आत्मा रसरहित, रूपरहित, गंधरहित है। इन्द्रियों द्वारा प्राप्त नहीं है चेतना गुणवान है, शुद्धरहित है, किसी चिन्ह व आकारसे ग्रहण व निर्देश करनेयोग्य नहीं है।

विशेष अर्थ—इन दो गाथाओंमें कहा है कि परम स्वभावधारी कारण परमात्माके पुद्गलद्रव्य सम्बन्धी कोई भी विकार नहीं है। निश्चयनयकरके उस शुद्धआत्माके पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध, आठ स्पर्श, स्त्री, पुरुष, नपुंसक विभावरूप विजातीय व्यंजनपर्याय, कुम्भक आदि छः संस्थान, वज्रवृषभ माराच आदि छः संहनन नहीं हैं। पर सर्व पुद्गलोंके ही होते हैं जीवोंके नहीं। संसारी अवस्थामें संसारी जीवोंके स्थावर नामा नामकर्मके उदयसे एकैन्द्रियोंके कर्म फल चेतना होती है, वस नामा नामकर्मके उदयसे वस जीवोंके कार्यसहित कर्म चेतना होती है। कार्यरूप परमात्मा तथा कारणरूप परमात्माके शुद्धज्ञान धेनुत्व होती है। इसकारण कार्य समयसार वा कारण समयसारके जो शुद्धज्ञान

विशेष अर्थ—इस गायामें कार्य्य समयसार और कारण समयसारके भेदके अभावको दिसलाया है । निश्चयकरके जैसे सिद्ध भगवान् औदारिक आदि पांच शरीरोंसे रहित अशरीर हैं, नरनारक आदि पर्यायके त्याग और ग्रहणके अभावसे अविनाशी हैं, एक समयमें भी परम-आत्मीकतत्त्वके स्थिरभूत ऐसे स्वाभाविक दर्शन आदि तथा कारण-मई शुद्ध स्वरूपके जाननेमें समर्थ ऐसी स्वाभाविक ज्ञान ज्योतिकरके सर्व संशयोंको हटा देनेसे अतीन्द्रिय हैं अर्थात् इन्द्रियोंसे अवलम्बन रहित हैं । मल अर्थात् अतीचार उनको उत्पन्न करनेवाले क्षयोपशम आदि विभावस्वभावोंके अभावसे निर्मल हैं, तथा द्रव्यकर्म ज्ञानवरणादिक और भावकर्म रागद्वेषादिक इनके अभावसे विशुद्धात्मा हैं, ऐसे सिद्ध भगवान् परमेष्ठी ठोकके अग्रभाग तनुत्रातबलयमें विराजमान हैं । वैसे ही इस संसारमें शुद्ध निश्चयसे समस्त संसारी जीव शुद्धरूप अवस्थामें शोभायमान हैं । भावार्थ—जबतक यह जीव वस्तुके यथार्थ स्वरूपको नहीं पहचानता तबतक वस्तुकी प्राप्ति नहीं करसकता । इसलिये स्मरित बाँडक जीवको शुद्ध निश्चयसे सदा ही अपने शुद्धरूपका मनन करना चाहिये । टीकाकार कहते हैं “ कि जो जीव नित्य शुद्ध अशुद्ध विकल्पोंमें लवलीन है उस मिथ्यादृष्टिके नित्य यह भ्रम है कि कारण और कार्य दोनों ही तत्त्व शुद्ध हैं । अर्थात् जिसके ध्यान करनेसे स्वरूपशुद्धीरूप साध्यकी सिद्धि करना है वह साधन भी शुद्ध परमात्माका भाव है तथा उसका साध्य भी शुद्ध परमात्मा है क्योंकि उपादान कारणके सदृश ही कार्य्य होता है तथा जो कोई सार और असारके विचार करनेमें सुन्दर ऐसी अपनी बुद्धिकरके इस अतुल अनुपम परमागमके अर्थको समझता है वही सम्यग्दृष्टी है । हम उसको बन्दना करते हैं ।

आगे दोनों नयोंकी सफलता कहते हैं:-

एदे सव्ये भावा, वयहारणयं पडुच्च भणिदा ह ।

सव्ये सिद्धसहाया, शुद्धणया संसिदी जीया ॥ ४९ ॥

वि. गा. ५

क्रेतांनि मयेन कृपं और फिर भ्रमायसे ही वेगव्यमे टीन कुर तथा द्रव्य-  
 लिंग धार मायान्त्री मृनि होइ जिन्होंने परमगुरुके प्रसादसे परमात्मके  
 अभ्यास किया और ध्यानके बलसे कमोको नाशकर सिद्धदेवको प्राप्त  
 किया और बाधारहित सम्पूर्ण प्रकारसे निर्मल केवलज्ञान, केवल दर्शन  
 केवल मुक्त, केवल वीर्यमें युक्त होकर सिद्धात्मा अर्थात् कार्यसनकसार-  
 रूप होमए अर्थात् कार्य शुद्ध भए। शुद्ध परमात्मा ध्यान अवस्थामें कार्य  
 समयसार है वही ध्यानके फलमें कार्यरूप समयसार होता है।  
 भावार्थ—ज्ञानी जो उमीके ध्यानके बलसे उस सदृश हो जाता है।  
 यह सिद्ध जैसा शुद्ध हैं वैसे ही शुद्धनिश्चयनयकरके मध्यजीव भी शुद्ध हैं।  
 जैसे सिद्ध जन्म जग मरणकरके रहित हैं और सम्यक्दर्शन, अनन्त ज्ञान,  
 अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, मुश्मत्त्व, अवगाहना, अगुरुलघु, अज्वालाव  
 ऐसे आठ गुणसे सहित हैं ऐसे ही शुद्ध निश्चय करके वे मध्यजीव भी हैं,  
 शुद्ध निश्चयनय पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको प्रतिपादन करनेवाली हैं।  
 इसलिये इसकी अपेक्षासे मोक्ष प्राप्त और मुक्त होने योग्य सारी  
 भव्यात्माओंके मध्यमें कोई अंतर नहीं है। भावार्थ—ज्ञानीको निज स्व-  
 पहीको शुद्ध सिद्ध सदृश ध्यान करना योग्य है। टीकाकार कहते हैं कि  
 “जिन सिद्ध और संसारी भव्यजीवोंमें पूर्वहीसे शुद्धता विद्यमान है  
 तब हम किस नयसे उनके भेदको जाने”। भावार्थ—शुद्ध निश्चय-  
 नयसे दोनोंका स्वरूप एक है, यद्यपि व्यवहारनयसे भेद है।

फिर भी अभेदभावको दिखाने हैं:—

असरीरा अविणासा, अणिंदिया निम्मला विमुद्धया।  
 जह लोयगगे सिद्धा, तह जीवा संसिदी जेया ॥ ४८॥

सामान्य अर्थ—जैसे श्रीसिद्ध महाराज शरीररहित अविनाशी,  
 निर्मल, विशुद्ध स्वरूपवान होकर इस लोकके अग्रभागमें विराजमान हैं  
 वैसे ही इस संसारमें सर्व जीवोंको निश्चयकरके जानना चाहिये।



शुद्ध निश्चय नयके बटखें सर्व हेंच अर्थात् त्यागने योग्य हैं । क्योंकि वे परस्परभाव हैं, अतएव पर द्रव्य है आत्माका स्वद्रव्य नहीं है । तथा सब विभाव गुण और पर्यायोंसं रहित जो शुद्ध अंतरंग तत्त्व स्वरूप जो अपना आत्म द्रव्य है सो ही प्रमाण करने योग्य हैं । क्योंकि यह आत्मा निश्चयसं स्वाभाविक गान स्वाभाविक दर्शन स्वाभाविक यागि और स्वाभाविक परमै दातृगण सुखमई शुद्ध अंतरंग तत्त्व स्थनाका आधार हैं । और यही स्वाभाविक परम पारिणामिक भाव है लक्षण जिसका ऐसा कारण सम्यक्सार है ।

ऐसा ही श्री अद्भुतचंद्रसूरिने कहा है:-निर्मल भावमे चलनेवाले मोक्ष चाहनेवाले पुरुषोंको इसी सिद्धान्तकी सेवा भक्ति करनी चाहिये कि मैं सदा शुद्ध चैतन्यरूप एक परमज्योति स्वरूप हूँ । तथा जो ये नाना प्रकारके भाव विभटाई पड़ते हैं वे मुझसे भिन्न लक्षणके धारी हैं । न मैं उन रूप हूँ और न वे मेरे स्वरूप हैं क्योंकि वे सर्व ही पर द्रव्य हैं टीकाकार कहते हैं कि “ जो तत्त्ववेत्ता प्रगटरूपसं ऐसा कहता है कि मैं शुद्ध जीवास्तिकाय हूँ तथा अन्य सर्व भाव पुट्टल द्रव्यके भाव हैं यही अपूर्व सिद्ध अवस्थाको प्राप्त करता है ”

आगे रत्नत्रयका स्वरूप कहते हैं -

विविरीयाभिणियेसवि, -यज्जियसद्वहणमेव सम्मत्तं ।

संसयविमोहविन्ममवि, -यज्जियं हांदि सण्णाणं ५१

चटमलिणमगाढत्त, -विवज्जियमद्वहणमेव सम्मत्तं ।

अधिगमभावे णाणं, हेयोपांदयतद्याणं ॥ ५२ ॥

सम्मत्तस्स णिमित्तं, जिणसुत्तं तस्य जाणया पुरिसा ।

अंतरहेयां भणिदा, वंसणमांहस्स सयपहुदी ॥ ५३ ॥

सामान्य अर्थ—य सारे की भाव अद्वय नयने इसे गृह्य है । शुद्ध निश्चयमे इस समाधि के अन्तरके सारे ही जीव सिद्ध भगवान् के समान शुद्ध है ।

विशेषार्थ—इस गाथा में निश्चय नय और अद्वय नय ही उद्देश्य मिला जा रहा है । जो पूरे गाथा में जगत् (विद्या) के ये सब भाव शुद्ध नयने संसारी जीवों के नहीं हैं परन्तु वे ही सारे विभाव भाव और विभाव पर्याय व्यापार नयने जीवों के विद्यमान हैं । परन्तु शुद्ध नय के द्वारा ऐसा कहा जायगा कि जो ओदयिक आदि चार भाव संसार अस्थानों जीवों के हैं वे ही भाव उन संसारी जीवों के नहीं हैं वे संसारी जीव भी भगवान् मित्रों के शुद्ध गुण और पर्यायों समान शुद्ध गुण और पर्याय धारी हैं । ऐसा ही श्री अमृतार्थ आचार्य ने कहा है—चन्द्रनाभ के जीवों के लिये यह व्याख्यान हेतु अत्यन्त रूप से अर्थात् हाथसे सहारा दिये जाने के समान है तथा सम्पूर्ण पर पदार्थों में रहित चेतन्य के चक्रकारण अपने उत्तुष्ट पदार्थों को अपने अंतर्गमों देसनेवालों के लिये यह व्यवहार नय कोई चीज नहीं है । टीकाकार कहते हैं “ निश्चयकरके शुद्ध तत्त्व के समिक लोग तत्त्व विचार के भीतर ऐसा कहते हैं कि शुद्ध निश्चय नयकरके मुक्त और संसारी जीवों में कोई भी विशेष अर्थात् भेद नहीं है ।

पुष्पुत्तसगदभावा, परदृष्टं परसहावमिदि हेयं ।

सगदृष्टमुवादेयं, अंतरतत्त्वं हवे अप्पा ॥ ५० ॥

सामान्य अर्थ—पहले कहे गए सम्पूर्ण ही भाव परद्रव्य हैं और पर स्वभाव हैं, इस कारण त्यागने योग्य हैं तथा अंतरंग तत्व जो अन्तर्द्रव्य आत्मा सो उपादेय है ।

विशेषार्थ—इस गाथा में हेय उपादेय का कथन है । जो कोई विभाव गुण और विभाव पर्याय पहले कहीं हैं सो व्यवहारसे उपादेय हैं परन्तु

है। व्यवहार सम्यग्ज्ञान भी सशय, विमोह विभ्रमसे रहित है। देव जिनेंद्र होने चाहिये या शिव होने चाहिये ऐसा जो शंकारूप ज्ञान से सशय है। शक्य आदिके कहेहुए पदार्थोंमें श्रद्धा होनी से विमोह है। कुछ भी निश्चय करनेकी आकांक्षाका न होना से विभ्रम है। इन दोषोंसे रहित सम्यग्ज्ञान आदरणीय है। तहां जिनेंद्र प्रणीत जो हेय और उपादेयतत्त्व हैं उनका यथार्थ ज्ञान से ही सम्यग्ज्ञान है। इस सम्यक्त परिणामका बाह्य सहकारी कारण वीतराग सर्वशक्त मुक्तकमलसे उदयरूप सर्व पदार्थोंके बतलानेको समर्थ द्रव्यभूतरूप ही तत्त्वज्ञान है। क्योंकि उपचारसे पदार्थोंके निर्णयका कारण है। सम्यग्दर्शनके होनेमें अंतरंग कारण दर्शन मोहनीकर्मका क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम है। तथा भेदरहित और उपचाररहित निश्चय रत्नत्रयमें जो जीव परिणमन कर रहा है उस जीवके टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभावमें अपने आत्मीकतत्त्वकी जो श्रद्धा से निश्चय सम्यक्त है। उसी आत्मीक तत्त्वके ज्ञानरूप अंतरंगमें जो परम बोध है सो ही निश्चय सम्यग्ज्ञान है उसही अपने आत्मस्वरूपमें जो निश्चय स्थितिरूप है सो निश्चय स्वाभाविक चारित्र है—इन तीन अभेद रत्नत्रयके द्वारा ही जो अवतक प्राप्त नहीं हुई ऐसी अभूतपूर्व सिद्ध पर्याय उत्पन्न होती है। जो परम जिन जितेन्द्री योगीश्वर मुनि प्रथम ही पापक्रियाअंसे हटानेवाले व्यवहारनयसे जानने योग्य ऐसे व्यवहार चारित्रमें टहरते हैं अर्थात् व्यवहारचारित्रिका आचरण करते हैं। ऐसे ही योगीके व्यवहारनयसे जानने योग्य व्यवहार रूप तपश्चरण भी होता है पश्चात् निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्तिके अवसरमें निश्चयतप होता है। सहज निश्चयनयके आश्रित परमस्वभावमें परमात्मामें प्रतपन अर्थात् तपना अर्थात् हृदयासे तन्मय होना से निश्चय तप है। इस तपके द्वारा ही अपने आत्माके स्वरूपमें निश्चल स्थितिरूप स्वाभाविक निश्चय चारित्र भी होता है ऐसा ही एकत्वसत्ततिमें कहा है “कि अपने आत्मस्वरूपमें निश्चय से ही सम्यग्दर्शन है, अपने आत्म-

सम्मतं सण्णाणं, विज्झदि मोक्खस्स होदि सुण चरणं ।  
 ववहारिणिच्छएण दु, तद्वा चरणं पवक्खामि ॥५४॥  
 ववहारणयचरित्ते, ववहारणयस्स होदि तवचरणं ।  
 णिच्छयणयचारित्ते, तवचरणं होदि णिच्छयदो ॥५५॥

सामान्यअर्थ—उल्टे अभिप्रायसे रहित जो श्रद्धान है वही सम्यक् है । जो संशय, विमोह, विभ्रमसे रहित है वही सम्यग्ज्ञान है । चल, मलिन, अगाढ़ दोषोंसे रहित जो श्रद्धान है वही सम्यक् है । हेय त्यागने योग्य तथा उपादेय ग्रहण करने योग्य तत्त्वोंका जानना सो ज्ञान है । सम्यक्का निमित्त जिन सूत्र है अर्थात् जैन शास्त्रोंके द्वारा जो भाव ज्ञान होता है वही सम्यक् होनेका निमित्त है । जिन सूत्रके शायक पुरुषोंको सम्यक् होनेमें अंतरंग कारण दर्शन मोहनीका क्षय, क्षयोपशम तथा उपशम है । सम्यक् और सम्यग्ज्ञानके साथ सम्यक्चारित्रि भी मोक्षका कारण है इसलिये व्यवहार निश्चयरूप चारित्रिकों आने कहेंगा । व्यवहारनयसे व्यवहार चारित्र और तप होता है । निश्चयनयसे निश्चय चारित्र और तप होता है ।

विशेषार्थ—इन गाथाओंमें रत्नत्रयके स्वरूपका वर्णन है । भेदोपचाररूप व्यवहार रत्नत्रयमें प्रथम व्यवहार सम्यग्दर्शन विपरीत अभिप्राय रहित जीवादि सात तत्त्वोंका श्रद्धान रूप है । कैसा है यह श्रद्धान, जो श्रद्धान मोक्षके परम्परा कारण भगवत श्री अरहंत, सिद्ध, आचार्य्य, उपाध्याय और साधु इन पांच परमेष्ठीकी निश्चल हृद् भक्ति सहित है । कैसी है हृद्भक्ति, जिसमें चल, मल, अगाढ़ ये तीन दोष नहीं हैं—इस श्रद्धानमें पंचपरमेष्ठीसे विपरीत हरिहरादिक द्वारा प्ररूपण किये पदार्थोंमें श्रद्धाका अभाव है अर्थात् अन्य एकान्त धर्मोंके तत्त्वोंको एकान्त रूप अर्थात् अनेकान्त भूतार्थ पदार्थोंमें उल्टा जो श्रद्धान करना तथा मोक्षमें कारणभूत पदार्थोंको सच्चा यथार्थ श्रद्धान करना सो सम्यक्

है। व्यवहार साधनज्ञान भी ग्राह्य, विमोह विभ्रमसे रहित है। देव  
जिनेन्द्र होने चाहिये या शिव होने चाहिये ऐसा जो दृष्टाक्ष्य ज्ञान को  
ग्राह्य है। शास्त्र आदिक कहे हुए पदार्थोंमें श्रद्धा होने की विमोह है।  
कुछ भी निश्चय करनेकी आकांक्षाका न होना को विभ्रम है। इन  
दोषोंसे रहित सम्यग्ज्ञान आदर्शनीय है। तभी जिनेन्द्र मणीय जो हेम  
और उपद्रव्यत्व है उनका पदार्थ ज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान है। इस  
सम्यक् परिणामका बाह्य सहकार्य कारण अंतरांग सर्वज्ञके मुक्तकमलमें  
उदयरूप सब पदार्थोंके वस्तुत्वको समर्थ द्रव्यभूतरूप ही तत्त्वज्ञान  
है। क्योंकि उपकारसे पदार्थोंके निर्णयका कारण है। सम्यग्दर्शनके  
होनेमें अंतरांग कारण दर्शन मोहनीकर्मका क्षय, उपशम अपरा क्षयो-  
पशम है। तथा भेदरहित और उपचाराहित निश्चय रत्नत्रयमें जो जीव  
परिणमन कर रहा है उस जीवके टंकोत्तीर्ण कायक एक स्वभावमें  
अपने आत्मिकत्वकी जो श्रद्धा को निश्चय सम्यक् है। उसी आत्मिक  
तत्त्वक ज्ञानरूप अंतरांगमें जो परम बोध है सो ही निश्चय सम्यग्ज्ञान है  
उसही अपने आत्मस्वरूपमें जो निश्चय स्थितिरूप है सो निश्चय स्वाभा-  
विक चारित्र है—इन तीन अभेद रत्नत्रयके द्वारा ही जो अन्तक प्राप्त  
नहीं हुई ऐसी अभुतपूर्व सिद्ध पर्याय उत्पन्न होती है। जो परम जिन  
जिनेन्द्रों योगीश्वर मुनि प्रथम ही पापकियाओंमें हटानेवाले व्यवहारनयसे  
जानने योग्य ऐसे व्यवहार चारित्रमें टहरते हैं अर्थात् व्यवहारचारित्रिका  
आचरण करते हैं। ऐसे ही योगीके व्यवहारनयसे जानने योग्य व्यवहार  
रूप तपश्चरण भी होता है पश्चात् निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्तिके अवसरमें  
निश्चयतप होता है। सहज निश्चयनयके आश्रित परमस्वभावमें पर  
मात्मा में प्रतपन अर्थात् तपना अर्थात् हृदयसे तन्मय होना को निश्चय  
तप है। इस तपके द्वारा ही अपने आत्माके स्वरूपमें निश्चल स्थितिरूप  
स्वाभाविक निश्चय चारित्र भी होता है ऐसा ही एकत्वसत्ततिमें कहा  
है “कि अपने आत्मस्वरूपमें निश्चय को ही सम्यग्दर्शन है, अपने आत्म-

स्वरूपका ज्ञान मो श्री सत्यज्ञान के जाने स्वरूपमें स्थिति अर्थात् उद्धान श्री सत्यज्ञानस्थिति है । इसी सिद्धांती गोप्य अथवा मोक्षार्थको कारण है । श्रीकाकार कहते हैं- जगत्सो उग महान आत्मज्ञानकी । पर- स्वरूप भी इसी आत्मज्ञानका ही है उगा निर्मल चात्रि भी नित्य इसी आत्माके ज्ञानके क्रियाका है । तब भेतन्य आत्माकी भेतना सन्म- मकारके मलममूने रहित मुनिवती और स्वाभाविक आत्मिक तत्त्वमें स्थितिका है ॥ भाषार्थ—शुद्धस्वरूपकी शुद्ध भेतना पराद्वय, परानु- और पर पर्यवर्तीमें रहित है तथा निरुद्धमें निश्चयता स्वरूप है । उन्नी शुद्ध भेतनाका निश्चय, भजान, ज्ञान और चात्रि निश्चय तीन स्वरूप स्वरूप मोक्षका परमार्थ है । मोक्षार्थ भजनीयको उचित है कि अपने आत्माकी परम शुद्ध जाता दृष्टा निरुद्ध निर्विकार अमृत अविनाशी सम्पूर्ण पर औपाधिक भावोंमें रहित अनुभव करें । पर शुद्धभावका अधिकार आत्माकी शुद्धिका परम अमृत निमित्त कारण है ॥

इसप्रकार सुकशियोरूप कमलोंकेलिये मुख्य पंचेन्द्रिके व्यापारमें रहित शरीरमात्र परिरहके धारी श्री पद्मप्रभमलधारिंदव द्वाग कथित श्री नियमसारकी तात्पर्यवृत्ति नाम व्याख्यामें शुद्धमात्राधिकार नामकी तृतीय श्रुतस्कंध समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

## व्यवहारचारित्र्याधिकार ।



कुलजोणिजीवमग्गण,—ठाणाइनु जाणऊण जीवाणं ।  
तस्सारंमणियत्तण,—परिणामो होइ पढमवदं ॥ ५६ ॥

सामान्य अर्थ—कुलस्थान, योनिस्थान, जीवसमासस्थान, मार्गणा- स्थान इत्यादि जीवोंके ठिकानोंको जानकरके उनमें आरंभ करनेसे रहनेका जो परिणाम है वही प्रथम अहिंसा मत है ।

**विशेष अर्थ**—इस माधामें अहिंसा ब्रतके स्वरूपका कथन है ॥  
 कुल पाँच आदिग्रन्थोंको पूर्व कह चुके हैं । इनके भेदोंको भले प्रकार  
 जानकर जीवोंकी रक्षा करनेका जो भाव सों अहिंसा है । जीवोंकी मृत्यु  
 होनी है व नहीं होनी है ऐसे विचारकी कोशिसमें तमोदण्ड एणिमामके  
 बिधे बिना पाररूप हिसामई कियाका त्याग नहीं हो सकता । अतएव  
 इस रक्षाके प्रयत्नमें रहना ही अहिंसा व्रत है । ऐसा ही समन्तभद्र-  
 स्वामीजीने कहा है अर्थात् श्रीसमन्तभद्रस्वामी अपने बृहत्सर्वभूतो-  
 ग्रामें श्रीमुनिमुखाय स्वामीकी स्मृति करते हुए कहते हैं कि अगतमें  
 यह बात सर्वको प्रगट है कि यह अहिंसा ही परमव्रत स्वरूप है अर्थात्  
 आत्माकी वीतरागता ही अहिंसा है जहाँ ऐसी वीतरागता है वही आत्मा-  
 का शुद्ध स्वरूप है । जिस आत्मके चारित्र्यमें अपुमात्र अर्थात् किंचित्  
 भी आरंभ नहीं है वही यह अहिंसा प्राप्त होनी है । भावार्थ—मुनियोंका  
 २८ मूल्याङ्गरूप व १३ प्रकार चारित्र्यरूप जो आचरण है वही  
 अहिंसा है । इसलिये परमदयावान आपने हे प्रभु इसी अहिंसाकी सि-  
 द्धिकेलिये अंतर्गत और बाह्य २४ प्रकारके परिग्रहको बिल्कुल त्याग  
 दिया । आप विकारी भेष और परिग्रह में रत नहीं हो । भावार्थ—नग्न  
 त्रिगम्बररूप ही सच्चा अहिंसा मार्गका वेष है । इसके सिवाय अन्यवेष  
 विकारवान दोषी है । जहाँ परिग्रहमें सर्वथा मूर्छाका अभाव है वही  
 अहिंसा धर्म है ॥ टीकाकार कहते हैं—इस जिनधर्मकी जय हो जिसमें  
 ऐसी अहिंसाका पाठन है, जो अहिंसा ब्रम जीव द्वेन्द्रियादिकको घात  
 करनेवाले परिणामोंको जड़ मूलसे हटानेका कारण है तथा जो पंच-  
 कायरूप एकेन्द्री स्थावर जीवोंके नानाप्रकार होनेवाले बंधसे बिल्कुल  
 दूर है—जो अहिंसा सम्पूर्ण लोकके जीव समूहको मुक्त देनेवाड़ी है तथा  
 जो भुन्दुर मुरासे भरपूर समुद्रके समान अगाध है ।

स्वरूपका ज्ञान सो ही सम्यग्ज्ञान है अपने स्वरूपमें स्थिति अर्थात् ठहलाना ही सम्यक् चारित्र्य है । यही तीनोंकी योगरूप अवस्था मोक्षपदको कारण है ” टीकाकार कहते हैं:—जय हो उस सहज आत्मज्ञानकी । सम्यग्दृष्टि भी इसी आत्मज्ञानरूप ही है तथा निर्मल चारित्र्य भी नित्य इसी आत्माके ज्ञानमें क्रियारूप है । वह चेतन्य आत्माकी चेतना समस्त-प्रकारके मलसमूहसे रहित मूर्तिवती और स्वाभाविक आत्मिक तत्त्वमें स्थितिरूप है ॥ भावार्थ—शुद्धस्वरूपकी शुद्ध चेतना परद्रव्य, परगुण और पर पर्यायोंसे रहित है तथा निजरूपमें निश्चलता स्वरूप है । उसी शुद्ध चेतनाका निश्चय, भ्रन्दान, ज्ञान और चारित्र्य निश्चय तीन स्वरूप स्वरूप मोक्षका परमबीज है । मोक्षार्थी भव्यजीवको उचित है कि अपने आत्माको परम शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा निरंजन निर्विकार अदृष्ट अविनाशी सम आर्ति . . . . .

शरीरमात्र परिग्रहके धारी श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा कथित श्री नियमसारकी तात्पर्यवृत्ति नाम व्याख्यामें शुद्धभावअधिकार नामका तृतीय श्रुतस्कंध समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

## व्यवहारचारित्र्याधिकार ।



कुलजोणिजीवमग्गण,—ठाणाइसु जाणऊण जीवाण ।  
तस्सारंमणियत्तण,—परिणामो होइ पढमवर्द्ध ॥ ५६ ॥

सामान्य अर्थ—कुलस्थान, योनिस्थान, जीवसमासस्थान, मार्गस्थान इत्यादि जीवोंके ठिकानोंको जानकरके उनमें आरंभ करनेसे बटनेका जो परिणाम है वही प्रथम अहिंसा व्रत है ।



दही देसकर एक उठा ननक परिणामको त्याग देता है उभी गज्जनके ही कह तीसरा अर्थात् मत दाता है ।

विशेषार्थ—नम गायामे तीसरे अर्थात् मतका वर्णन है । वृक्ष आ-  
दिही वादकारक जो बड़ा हो उसको गंध कहते हैं । या दिसामोंके पार  
दुःखान्ति जो शास्त्रायमान हो उसका नाम नगर है । जहाँ मनुष्याका  
गमनागमन मही हो तथा वृक्षद्वल मुखोंकरके परिपूर्ण हो उसका नाम अ-  
थ अर्थात् बन है । एवं गंध वा नगर वा बनमें दूसरोंके द्वारा स्वर्गी दुई  
दही दुई, वा भूमीदुई परब्रह्मको देखकर उसकी स्वीकार करनेके भावको  
जो त्यागता है उसको ही पर तीसरा अर्थात्मत होता है । जो  
यसु अपने परिश्रमसे किसीका कुछ कामकाके मिठे व दूता गन्मान  
वे दयाकरक दूँ वह यासु दाता है—इसके मिश्रण कहीकी कोई धीजको  
भी लेता था है । सुनसान स्थानमें मिनी हुई वस्तुओंपर उसका अधि-  
कार है जिसकी वह भुमि है ॥ टीकाकार कहते हैं कि यह अर्थात्मत  
जगत्त बलका दाता है । इसके पातनकर्ताको पुण्यके उदयसे अतिशय-  
रूप मनीका दा प्राप्त हो जाता है । स्वर्गक भीक सुखका मूलभूत यह  
मत है और कम कम करके मुनिरूपी धीका संगम करने वाला है ॥

आगे शीघ्र मतको करने है—

दृष्टुं इच्छितरूपं, पांडाभायं निवचदे तासु ।

नेहुणसण्णविषज्जिय,—परिणामो अहव तुरीयवदं ॥५९॥

सामान्यार्थ—जो सकि रूपको देखकर ही उसके भीतर अपनी इच्छा  
निरेक भावको हटाता है तथा मेधुन गंशासे रहित अपने परिणामोंको  
करता है उसाके ही यह शीघ्र मत मेधुन सशक्त्याम अर्थात् ब्रह्मचर्य्य  
मत होता है ॥

विशेषार्थ—इस गायामे ब्रह्मचर्य्य मतका स्वरूप है । सुन्दर शिष्योंके  
मनाहर अंगोंको देखनेके कारण जो उनसे कीड़ा करनेकी चित्तमें इच्छा-

अग्रे द्वितीय सत्यमन्त्रों कहते हैं:—

रागेण च दोषेण च, मोहिण च मोक्षमाप्तपरिणामं ।

जो पञ्चतन्त्रि मातृ मया, विदियवदं होदि तस्सेव ॥ ५३ ॥

सामान्य अर्थ—जो पाप सञ्जन पुरुष रागमें, द्वेषमें व मोहमें  
हूँ बान्धनेके परिणामको तब छोड़ता है तब ही वृद्धता मत्त व्रत होता है।

विशेष अर्थ—इस मायामें मत्त जन्म स्वरूपका जन्म है—  
मुदा भवति अमत्य शब्दनेका जो पाणिनाम अर्थात् भाव है जो मत्त  
मत्त भावमें उन्मा है विगिही है। यह अमत्य भाव रग भावसे, द्वेष भावसे  
अथवा माह भावके विभिन्नम जीवके पेशा होता है—अर्थात् यह मनुष्य इ  
दशाधर्मों व विषयोंमें गगनकरके उनही प्राप्ति व रक्षाकृतिये जन्म  
कहतता है व अनिष्ट पश्याधर्मों व विषयोंमें द्वेषकरके उनके दूर होनेकृतिये  
व उनका सम्बन्ध न पानेकृतिये असत्य कहना है अथवा मिथ्यामुद्रिते  
संसारमें मोहके कारण उस मिथ्या भावकी ग्राहके अर्थ जन्म  
बोलता है। जो कोई निकट मत्त जीव साधु पुरुष इसप्रकारके जन्म  
बोलनेके परिणामको त्यागता है उसीके ही यह सत्यव्रत होता है।  
टिकाकार कहते हैं—जो कोई अतिशयकरके सत्य भावको अंतरमें  
जपता हुआ प्रगटपने मत्त ही बोलता है वह मनुष्य परलोकमें स्वर्ग  
स्त्रियोंके घने भोगोंको भोगनेवाला होता है और इस लोकमें सदा सर्व  
सज्जनोंके द्वारा पूजनीय अर्थात् आदरणीय होता है। इसलिये इ  
सत्यमें बड़कर दूसरा कोई व्रत नहीं है यह बात सर्वथा सत्य है ॥

आगे तीसरे व्रतको कहते हैं:—

गामे वा जयरे वा, ऽरण्ये वा पेच्छिऊण परमच्छं ।

जो मुचदि गहणभावं, तिदियवदं होदि तस्सेव ॥ ५४ ॥

सामान्यार्थ—जो कोई ग्राममें, नगरमें वा जंगलमें दूसरेकी वस्तुको

परी देखकर उसके उठा लेनेके परिणामको त्याग देता है उसी सज्जनके ही यह तीसरा अचोप्य व्रत होता है ।

**विशेषार्थ—**इस गाथामें तीसरे अचोप्य व्रतका वर्णन है । वृक्ष आदिकी शादकरके जो बंटा हो उसको गांव कहते हैं । चार दिशाओंके चार दरवाजोंसे जो शोभायमान हो उसका नाम नगर है । जहाँ मनुष्योंका गमनागमन नहीं हो तथा वृक्षवैठ गुच्छोंकरके परिपूर्ण हो उसका नाम अरण्य अर्थात् बन है । ऐसे गांव वा नगर वा बनमें दूसरेके द्वारा रखी हुई पड़ी हुई, वा भूटीहुई परद्रव्यको देखकर उसको स्वीकार करनेके भावको जो त्यागता है उसके ही यह तीसरा अचोप्यव्रत होता है । जो वस्तु अपने परिधमसे किसीका कुछ कामकरके मिले व दूसरा सम्मान व दयाकरके देवे वह वस्तु दास है—इसके सिवाय कहींकी कोई चीजको भी लेना योग्य है । गुनसान स्थानमें मिली हुई वस्तुओंपर उसका अधिकार है जिसकी वह भूमि है ॥ टीकाकार कहते हैं कि यह अचोप्य व्रत अपूर्व बलका दाता है । इसके पालनकर्ताको पुण्यके उदयसे अतिशयरूप रत्नोंका ढेर प्राप्त हो जाता है । स्वरूप श्रीके सुसका मूठभूत यह व्रत है और कम कम करके मुक्तिरूपी श्रीका संगम कराने वाला है ॥

आगे चौथे व्रतको कहते हैं:—

**दहृण इच्छिरूपं, वांछाभावं णिवचदे तासु ।**

**मैथुणसण्णविचज्जिय,—परिणामो अहव तुरीयवदं ॥५९॥**

**सामान्यार्थ—**जो श्रीके रूपको देखकर ही उसके भीतर अपनी इच्छा होनेरूप भावको हटाता है तथा मैथुन संज्ञासे रहित अपने परिणामोंको करता है उसीके ही यह चौथा व्रत मैथुन संज्ञात्याग अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत होता है ॥

**विशेषार्थ—**इस गाथामें ब्रह्मचर्य व्रतका स्वरूप है । सुन्दर स्त्रियोंके मनोहर अंगोंको देखनेके कारण जो उनसे क्रीड़ा करनेकी चित्तमें इच्छा-

का होना उसको त्याग करनेसे अथवा वेद नाम नोकपायके तीव्र उदयसे मैथुन सेवनकी इच्छाका होना उसको छोड़नेसे यह ब्रह्मचर्य्य व्रत होता है। टीकाकार कहते हैं कि हे कार्मा पुरुष तू क्यों सहज परम तत्त्वरूप जो अपना स्वरूप है उसको छोड़कर सुन्दर स्त्रियोंकी शरीर आदि विभूतिको मनमें याद करता है और किस कारणसे तू उनमें अत्यन्त मोहको प्राप्त होता है । ऐसा करनेसे मेरा वचन अर्थात् उपदेश तूरेलिये किस कामका होगा ? ॥

आगे पंचम व्रतकी कहते हैं:—

सव्वेसिं गंधाणं, तागो निरवेखभावणापुब्बं ।

पंचमवदमिदि भणिदं, चारित्तमरं वहंतस्स ॥ ६० ॥

सामान्यार्थ—जो बांछा रहित भावनाके साथ सर्वही परिग्रहोंको त्यागना है सो चारित्रिके भारको सदा वहनेवाले साधुओंका पंचम व्रत है ।

विशेषार्थ—इस गाथामें परिग्रहत्याग व्रतका स्वरूप है—जो सम्पूर्ण अंतरंग और बाह्य परिग्रहसे रहित है लक्षण जिसका ऐसे कारणरूप परमात्माके शुद्ध स्वभावमें स्थित हैं ऐसे परम संजमी परम जिन योगीश्वर जो हैं तथा जो सदा ही निश्चय व्यवहाररूप उत्तम चारित्रिके मार्गको वहनेवाले हैं उनके अंतरंग और बाह्य २४ प्रकारके परिग्रहका त्याग करना ही पंचम व्रत है । कैसा है यह परिग्रह त्याग व्रत, यही परंपराकरके पंचम गति जो मोक्ष तिसका कारण है ॥

ऐसा ही श्री समयसारजीमें कहा है । “कि ज्ञानी ऐसा जानते हैं जो मेरे परद्रव्य परिग्रह होय तो मैं भी अजीवपनेको प्राप्त हो जाऊँ क्योंकि मैं तो सूचदि गहण” ससे मेरे परिग्रह नहीं है ” ॥  
 जो है । भव्य जीवको उचित है कि संसारसे भय  
 हो । जो यह जो आपत्ति उसको त्यागो और उपमाराहित

पटी देखकर उसके उठा लेनेके परिणामको त्याग देता है उसी गज्जनके ही यह तीसरा अर्थाप्य मत होता है ।

विशेषार्थ—इस गाथामें तीसरे अर्थाप्य बनना योजन है । दूध भा-  
दिकी बाटकाके जो बड़ा हो उसको गांव कहते हैं । चार दिशाओंके चार  
दरवाजोंसे जो होभायमान हो उसका नाम नगर है । जहाँ मनुष्योंका  
गमनागमन नहीं हो तथा वृक्षवेल गुच्छोंकरके परिपूर्ण हो उसका नाम अर-  
ण्य अर्थात् वन है । ऐसे गांव वा नगर वा वनमें दूसरेके द्वारा रखी हुई  
पटी हुई, वा भूटीहुई परदण्यको देखकर उसको स्वीकार करनेके भावको  
जो त्यागता है उसके ही यह तीसरा अर्थाप्यमत होता है । जो  
वस्तु अपने परिभ्रमसे किसीका कुछ कामकरके मिले व दूसरा मन्मान  
व दयाकरके देवे वह वस्तु दान है—इसके सिवाय करीबी कोई धीनको  
भी लेना चोरी है । घुनसान स्थानमें मिटी हुई वस्तुओंपर उसका अधि-  
कार है जिसकी वह भूमि है ॥ टीकाकार कहते हैं कि यह अर्थाप्य मत  
अपूर्व बलका दाता है । इसके पाठनकर्ताको पुण्यके उदयसे अतिशय-  
रूप शनोका डेर प्राप्त हो जाता है । स्वर्गस्वर्ग शीकें सुखका मूलभूत यह  
मत है और भ्रम कम करके मुक्तिरूपी धीका संगम करने वाला है ॥

आगे चौथे मतको कहते हैं:—

ददृण इच्छिरूपं, वांछाभापं नियचदं तातु ।

मेहुणसण्णविवज्जिय,—परिणामो अहय तुरीयपदं ॥५९॥

सामान्यार्थ—जो धीके रूपको देखकर ही उसके भीतर अपनी इच्छा  
होनेरूप भावको हटाता है तथा मेधुन संशांस रहित अपने परिणामोंको  
करता है उसीके ही यह चौथा मत मेधुन धृतात्याग अर्थात् ब्रह्मचर्य्य  
मत होता है ॥

विशेषार्थ—इस गाथामें ब्रह्मचर्य्य मतका स्वरूप जानकर उस परम  
मनोहर अंगोंको देखनेके कारण जो उनसे क्रीड़ा व

लाप करते हैं वही कार्यकारी है अन्य स्वपर हितकारी वचन भी निम्न नयकरके उपादेय नहीं हैं ॥

आगे तीसरी समितिको कहते हैं:—

कदकारिदाणुमोदण,—रहिदं तह पासुगं पसच्छं च ।  
दिण्णं परेण भत्तं, समभुत्ती एसणा समिदी ॥ ६३ ॥

सामान्य अर्थ—जो कृत, कारित, अनुमोदना इनको त्यागकर प्राशुक, शुभ और श्रावक द्वारा भक्तिसे दिये हुए आहारको समभावसे भोजन कर ऐसे मुनिके एषणा समिति होती है ।

विशेषार्थ—मन वचन काय द्वारा करना, मन वचन काय द्वारा कराना, मन वचन काय द्वारा सराहना करनी ऐसे नौ विकल्पोकरके रहित जो अन्न है सो नौकोटि शुद्ध कहा जाता है अर्थात् जिसमें मुनि कुछ भी अपना सकल्प न करें । अति प्रशस्त भोजनसे प्रयोजन यह है कि जो मनको हरनेवाला गेगादि व्यस्य निद्रा आलस्यको पैदा न करे । हरित कायमई सचित्ररूप मूर्धन प्राप्ति-योंके संचारसे अगोचर सो प्राशुक है अर्थात् जिसमें सचित्तपना सचित्तका सम्बन्ध न हो । मुनिको प्रतिग्रह करना “आहार पानी गुञ्ज अब्र तिष्ठ तिष्ठ तिष्ठ” ऐसा कहकर पढ़ गाना, ऊँचेस्थानपर स्थित करना, चरण धोने, पूजन करना, प्रणाम करना, मन वचन और कायको शुद्ध रखना तथा भिक्षा अर्थात् आहारकी शुद्धता ऐसे नऊ प्रकार भक्ति-करके सहित जो श्रावक है तथा जिस श्रावकमें श्रद्धा, शक्ति, लोभ, अभाव, भक्ति, ज्ञान, दया, क्षमा ऐसे सात वातारके गुण विराजमान हों ऐसे योग्य आचरणधारी उपासक श्रावकसे प्रदान किया हुआ जो भोजन उसको जो परम तपोधन अर्थात् मुनि ग्रहण करते हैं उनके एषणा समिति होती है । यह व्यवहार एषणा समितिको कहा । निम्नकरके छन्द जीवके इस समितिका प्रवेश नहीं है क्योंकि संसारी जीवोंके

प्रकारका भोजन व्यवहार नयनके ही होता है ॥ जैसा कि श्री सम्य-  
सारार्थमें कहा है -

इस आहार उ प्रकार है नाकर्मआहार जैसे केवलीके, कर्म आहार  
जैसे मणिक्योंके, लेव आहार जैसे ऐकन्दियोंके कबल आहार जैसे  
एकग्रन्थ मनुष्योंके, आनाहार जैसे अहोरे, मानसिक आहार जैसे देवोंके ॥

श्री गुणभद्राचार्यजीने कहा है कि-जो मुनि दम और नियममें लीन  
है, जिनका आत्मा अतरंग और बाह्य शान्त है, जो समाधिमें पणिमन  
करते हैं, जो सब प्राणीमात्रपर दया करनेवाले हैं, जिन्होंने अपना  
हित किया है जो मर्यादाव्य आहार करनेवाले हैं जो निद्राको  
हटानेवाले हैं तथा जो अध्यात्मिक तत्त्वके निश्चय करनेवाले हैं ऐसे ही मुनि  
जड़ मूलसे वृक्षोंके समूहको जला देते हैं । टीकाकार कहते हैं-जो  
भक्त श्रावकद्वारा शयके अग्रभागमें प्रदान किये हुए आहारको ग्रहण  
करके पूर्ण ज्ञानमें प्रकाशमान ऐसे आत्माका ध्यान करते हैं तथा जो  
तत्त्वसे ही सम्यक् तपको तपनेवाले हैं वेही तपस्वी हैं तथा वेही सुन्दर  
मुनिकर्षी शीको प्राप्त करते हैं ॥

आगे श्री समितिको कहते हैं:-

पांथइकमंडलाद्रं, गहणविसंगमु पयत्तपरिणामो ।

आदावणणिकरोषणं, -समिदी होदित्ति णिदिदा ॥६४॥

सामान्यार्थ-पुस्तक कमंडल पीठी आदिके उठाने धरने में जो यत्न  
करनेका पणिमन सो आदाननिक्षेपणा समिति है ऐसा कहा है ।

विशेषार्थ-इस गायमें अपद्वत संयमियोंके द्वारा संयमका उपकरण पीठी  
कमंडल तथा ज्ञानका उपकरण शास्त्र आदिकोंके उठाने धरने समय जो  
समिति करी जाती है उस समितिका वर्णन है । उपेक्षा संयमधारी मुनियोंके  
पुस्तक कमंडल आदि नहीं होते हैं वे उपेक्षा संयमधारी मुनि परम जि-  
तेन्द्री एकांतवासी बिलकुल बेचाह होते हैं निरन्तर आत्मध्यानमें लीन

रहते हैं इसलिये उनको बाहरके शास्त्रादि उपकरणोंकी जरूरत नहीं होती । ऐसे संयमी साधु अम्यंतर उपकरण जा आपका निज परम तत्व उसके ही प्रकाश करनेमें चतुर होते हैं उनके सर्व उपाधिरहित स्वरूप स्वाभाविक आत्मज्ञानके सिवाय और कोई भी वस्तु ग्रहण योग्य नहीं होती । परन्तु अपहृत संयमी मुनियोंकेलिये परमागम जो शास्त्र उसके अर्थको बार बार ज्ञान करानेका कारण ऐसी जो पुस्तक तथा शौच करनेका कारण तथा शरीरको विशुद्धताका कारण जो कमठल तथा संयम अर्थात् प्राणी रक्षाका कारण जो पीछी सो होती हैं । इनके उठने धरनेमें उसी समय जीवरक्षाके निमित्तसे पैदा होनेवाला जो प्रयत्न निरुद्ध ठवलीन जो आत्माके परिणामोंकी विशुद्धता सो ही आदाननिर्देशन समिति कही गई है । टीकाकार कहते हैं कि उत्तम परम जिन मुनियोंके सर्व समितियोंके अन्दर यही वही समिति शोभायमान है त्रिंशे उनको सर्व प्राणिमात्र पर क्षमा और मैत्री भाव होता है । हे भव्य जीव तू भी अपने मनरूपी कमलमें इस समितिको धारण कर जिससे तू परम लक्ष्मीरूप मुक्ति धीका स्वामी हो जावे ॥ भावार्थ—सर्व जीवोंपर क्षमा और सर्वका हित चिंतन यही इस समितिके पालनेका अभिप्राय है ।

आगे पांचमी समितिओ कहते हैं:—

**पाशुकभूमिपदेसे, गूढे रहिए परोपरोहेण ।**

**उच्चारदिद्यागो, पइच्छा समिदी हवे तस्स ॥ ६५॥**

**सामान्य अर्थ—**जो मुनि जीवजंतु रहित पाशुक जमीनमें जो गूढ़ हो अन्यद्वारा रोकने योग्य न हो ऐसे स्थानमें मलमूत्रादिका त्याग करतें हैं उनहीके यह पांचमी प्रतिष्ठापना समिति होती है ।

**विशेषार्थ—**इस गायामें मुनीन्ध्रोंकेलिये शरीरका मन्त्रादि त्याग करनेकेलिये जो स्थानकी शुद्धता चानिये उसका वर्णन है । शुद्ध निष्क यज्ञके जीवके देह ही नष्ट है, देहके अभागो अध्यादिका ठेना भी



नहीं है । प्यारहाण्डोंके आत्माके देह है उस देहके होनेसे आहार ग्रहण होता है । आहार लेनेसे सामान्य मुनियोंके मलमूत्रादि होने ही हैं इसलिये संन्यासियोंकेलिये मलमूत्र क्षेपनका ग्यान भीतरहित तथा दूसरोंके द्वारा सोके ज्ञानके अधोगम्य होना चाहिये । ऐसे स्थानमें शरीरका धर्म करके सोते उस स्थानमें कुछ पद उभर जाकर उत्तरमुख कापोत्तम संके होकर समान कायकी क्रियाओंको त्यागकर संसारका कारण ऐसा जो परिश्रम तिसको करनेवाले ऐसे संसारके निमित्त देहादिको तथा अपने आत्माको पीर होकर प्याते हैं तथा जो परमसंयमी इस शरीरका अपवित्रपना भी बारबार विचार करते हैं उन मुनियोंके निधयकरके यह प्रतिष्ठापना समिति होती है, अन्य यतीनामधारी स्वैरवृत्ती सिद्धिन्त्याचार्यानिके कोई भी समिति नहीं होती है ॥ टीकाकार कहते हैं यह समिति इसलोकमें भुनीम्बोंकेलिये मोक्षरूपी राज्यका मूल कारण है । वेसे हैं मुनि, जो जैनमतमें चतुर हैं और अपने आत्माकी चिन्तामें लपटीन है । परन्तु जिनमुनियोंका चित्त सहत लपेटी तलवारकी धारमें आसक्त हो खंचल हो रहा है भावार्थ—जो प्रिय मुख उस सहतके समान है जो तलवार की धारमें लिपटा हो, उस मुखके लोन्गुपी जो मुनि है उनके यह समिति नहीं होती है ॥ जो अतिन्द्रियमुखके अभिलषी हैं उनहीके समिति होती है । हे मुनिप्रधान ! भठे प्रकार इस समितिको जाने । कैसी है समिति, जो मुक्ति रूपी स्त्रीको प्यारी है, भवभयका भयरूपी अंधकार उसको नाश करनेकेलिये चेद्रमार्क प्रभाके समान है, तथा तेरी सम्यक् जो मुनिपदकी दीक्षा उसके लिये सुन्दर ससी है । प्रसन्न चित्त हो अब इसका ऐसा अभ्यास करो जो तुमको जिन धर्मके तपसे सिद्ध होनेवाला अविनाशी ही कोई ऐसे फलकी प्राप्ति हो ॥ निधयकरके मुनि इस समितिकी संगतिसे हीन ही किसी उत्तम फलकी प्राप्ति करते हैं जो फल मनसे चिन्तवने योग्य तथा वचनसे

कहने योग्य नहीं है तथा जो केवल मुसमई अमृत रूप है । मावायः समिति के पात्रों के हुए ही मुनि शिव सुसको पास करते हैं ॥

आगे मन गुप्तिको कहें हैं:-

**कातुस्समोहसण्णा, रागदोसाइअमुहमावाणं ।**

**परिहारं मणुगुत्ती, धवहारणयेण परिकहिंयं ॥ ६६ ॥**

सामान्यार्थ-कातुपपना, मोह, अभिष्टापा, राग, द्वेष आदि अशुभ भावोंका जो त्याग करना उसे ही व्यवहारनयसं मनो गुप्ति कहते हैं ॥

विशेषार्थ-इस गाथा में व्यवहार मनोगुप्तिके स्वभावका वर्णन है । कांक्ष, मान, माया, लोभ इन चार कषायोंसे क्षोभित आकुलित मया जे चित्त उसको कातुप्य कहते हैं । मोह दो भेदरूप है एक दर्शन मोहनी दूसरे चारित्र मोहनी ॥ संज्ञाके चार भेद हैं-आहार, मय, मैयुन और परिग्रह हैं । राग दो प्रकारका है एक अशुभ दुष्ट शुभ ॥ जिन मनुष्योंका सम्बन्ध अपनेको न मुहावे अथवा जो वस्तुएं अपने मनको नहीं रुचें उन सबसे वैरमई परिग्रह सो द्वेष है । इत्यादि सर्व अशुभ परिणामोंके कारणोंको त्यागना ही व्यवहारनयकरके मनगुप्ति है ॥ टीकाकार कहते हैं जो अपने मनको सदा परमागमके अर्थकी चिन्तामें लवलीन रखते हैं, जो जितेन्द्रिय हैं, जो बाह्य और अभ्यंतर परिग्रहकरके रहित हैं तथा जो भीमान् जिनेन्द्रके चरणोंके स्मरणमें दत्तचित्त हैं उनहीके यह मनगुप्ति होती है ॥ ६६ ॥

आगे वचन गुप्तिको कहते हैं:-

**धीराजचोरभत्तक, -हादीवयणस्स पावहेउस्स ।**

**परिहारो वचगुत्ती, अलियादिणियत्तिवयणं वा ॥ ६७ ॥**

सामान्यार्थ-पाप बंधकी कारण स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा, तथा भोजनकथा इन ४ विकाररूप वचनोंका जो त्याग करना सो वचनगुप्ति है इसीको अलीकनिवृत्तिवचन भी कहते हैं ॥

विशेषार्थ - इस माध्यामे वचनगुप्तिका स्वरूप है ॥ अति बृद्ध पुष्ट्यों-  
के व कामी पुष्ट्योंके मुख दाग जो स्त्रियोंके सेवाम तथा वियोगम वैश  
हई अनेक प्रकारकी वचन रचना रूप कथा तिनका किया जाना तथा  
तिनका सुना जाना सो ही थीकथा है ॥ राजाओंके मृदुके कारणोंका  
जो उपन्यास सो राजकथाप्रबंध है । सोओंकी सोगी करनेकी रीतियोंका  
जो कथन सा पौरकथाविधान है । अत्यन्त बड़ी हुई भोजनको प्रीति-  
करके नानाप्रकार भोजनके समूह स्तंभ वही दूध आदि भोजन पानकी  
प्रशंसा करना सो मनकथा है । इन चारोंही प्रकारकी कथाओंका जो  
त्याग है सो वचन गुप्ति है । इसीको अटीक वचनसे निवृत्ति भी कहते  
हैं और भी अन्य सम्पूर्ण अशुभ वचनोंका त्यागना सो वचन गुप्ति है ॥  
ऐसी ही भाति श्री पूज्यपाद स्वामीने भी कहा है-भाचार्य इस प्रकार  
बाह्यमें वचनकी प्रवृत्तिको त्याग कर अंतर्गमे विशेषरूपसे अंतर्जल्प  
अर्थात् भीतर २ ही वचन कहना उसको भी दूरकरनेसे योग अर्थात्  
ध्यान होता है यही ध्यान परमात्माको प्रीति अर्थात् प्रकाश करनेवाला  
है ॥ टीकाकार कहते हैं:-जो भव्यजीव संसारके भयको करनेवाली  
सर्व ही वचनकी रचनाको त्यागकर सहज विलासरूप चैतन्यका चम-  
त्काररूप एक शुद्ध आत्माको ध्याता है वह जीव दीप्त ही कर्म अंध-  
कारके समूहको अतिशयकरके विध्वंस कर स्वभावकी महिमाका आनंद  
ऐसे मुक्तकी सान मुक्तिको प्राप्त करता है ॥

अब कायगुप्तिको कहते हैं:-

बंधणछेदणमारण, आकुंचण तह पसारणादीया ।

कायकिरियाणियत्ती, णिविडा कायगुत्तिचि ॥ ६८ ॥

सामान्यार्थ-बंधन, छेदन, मारन, संकोचन, विस्तारन आदि  
शरीरकी क्रियाओंको न करना सो कायगुप्ति कही गई है ।

विशेषार्थ—किमीका बंधन होना इसमें अंतरंग निमित्त कर्मका उदय तथा बाह्य कारण किसीके कायका व्यापार है । उदयमें भी अंतरंग कारण कर्मका उदय और बाह्य कारण प्रमादी कषाय सहित जीवके शरीरकी क्रिया है । मारनका भी अंतरंग कारण कर्मका उदय बाह्य कारण क्षयकरनेवाले बाह्य किसीके काय आदिकी चेष्टा है । संकोच विस्तार एक ही पर्यायमें समुद्रयातकी अपेक्षा होता है जिसमें आत्माके प्रवेश आत्माको न त्यागकर कुछ देरकेलिये फँसजाते हैं और फिर सकुट्ट जाते हैं इत्यादि बंधनादिरूप जो कायकी क्रिया उनमें अलग रहना सो कायगुप्ति है ॥ टीकाकार कहते हैं जो मुनि कायके विकारोंको त्यागकर बारबार शुद्धात्माकी भावना करता है उतीका ही जन्म में इस संसारमें सफल समझता है ॥

अब निश्चय नयसे मनोगुप्तिका स्वरूप कहते हैं:—

जा रायादिणियत्ती, मणस्स जाणीहि तम्मणोगुत्ती ।

अलियादिणियत्तिं वा, मोणं वा होइ वदिगुत्ती ॥ ६९ ॥

सामान्यार्थ—जो मनसे रागादि भावोंका दूरकरना सो मनगुप्ति है तथा असत्त्व आदि वचनका न कहना मोन रसना सो वागुप्ति है ।

विशेषार्थ:—जो मुनि सब मोह रागद्वेषको दूर करके संदग्धित अद्वैत परमचेतन्यरूपमें भले प्रकार स्थित होता है उसीके ही निश्चय मनोगुप्ति होती है । हे शिष्य ! तुम जबतक इस स्थिरतासे चलायमान न हो तबतक मनो गुप्ति जानो । सम्पूर्ण असत्त्व भाषाका त्यागना अथवा मौनव्रतका रसना ऐसा कि चेतना जिसमें नहीं ऐसे भौतिक द्रव्यमें व इंद्रियज्ञान अगोचर ऐसे अमूर्तिक द्रव्यमें व दोनोंमें वचनकी प्रवृत्ति न करना सो निश्चय वचन गुप्ति कही जाती है ॥ टीकाकार कहते हैं जो

मात्र चिन्तामणि रखी जाय जाता है छा भुन पापक्षी बनीकेलिये भाँसे समान हो योगियोंमें क्षीयमान होता हुआ अनन्त चतुष्टयका नाभकर उगमे स्थित रह सदा ही जीवनमुक्ति अश्वत्थका भोगी होता है ।

अब निधाय कायमुक्तिको कहते हैं—

कायकिरियाणियत्ती, काउरसगो सरीरगे गुत्ती ।

हिसाहणियत्ती वा, सरीरगुत्तिचि निहिटा ॥ ७० ॥

सामान्यार्थ—कायकी सम्पूर्ण क्रियाओंको त्यागना कायसे ममत्त भावका छानना सो शरीर गुत्ति है अथवा सर्व दृष्टांसे दूर रहना सो काय गुत्ति है ऐसा कहा गया है ।

विशेषार्थ—सर्व ही मनुष्योंके शरीरोंमें बहुतसी क्रियाएँ हुआ करती हैं । उन सर्व क्रियाओंको छोड़कर कायोत्सर्ग करना सो काय गुत्ति है । तथा पंच प्रकार धावर जीव और सर्व नस जीवोंकी हिसा न करनी सो काय गुत्ति है । तथा परम सेवकके धारी परम जिन योगीश्वर जब अपने आत्माके चेतन्यमें ही शरीरसे इस शरीरका भेदज्ञान करते हैं तब उनके अंतर्गामे अपने आत्माकी उत्कृष्ट मूर्तिको निधायका होना सो काय गुत्ति है । ऐसा ही श्रीतच्चानुशासनमें कहा है कि शरीरकी सम्पूर्ण चेष्टाओंको तथा संसारके कारण राग द्वेषादि भावोंको छोड़कर स्थिर हो अपने आत्मस्वरूपमें लीन हो जाना सो कायोत्सर्ग कहा जाता है टीकाकार कहते हैं—आत्मा अपरिस्पन्दरूप अर्थात् हलन चलन क्रियासे रहित है, परन्तु शरीर परस्पन्दरूप हलन चलन क्रिया सहित है । व्यवहारसे यह हलन चलन भरे आत्मामें होता है इसलिये मैं शरीरकी विकाररूप क्रियाओंका त्याग करता हूँ ॥

अब श्री अरहत परमेशीका स्वरूप कहते हैं—

घणघाटफम्मरहिया, केवलणाणाइपरमगुणसहिया ।

चोत्तिसअदिसयजुत्ता, अरिहंता एरिसा हांति ॥ ७१ ॥

**सामान्यार्थ—**जो सम्पूर्ण घातिया कर्मोंसे रहित हैं केवल ज्ञान-  
वि परम गुणके धारी हैं चौतीश अतिशय विराजमान हैं सो ही अर्हत  
कहलाते हैं ॥

**विशेषार्थ—**आत्माके गुणोंको घातनेवाले कर्मोंको घातिया कहते हैं।  
घनरूप अर्थात् आत्मासे जो एकमें एक हो रहे हैं ऐसे जो ज्ञानावरणी, दर्शना-  
वरणी अंतराय और मोहनी इनसे जो अर्हत परमेष्ठी रहित हैं। इन  
घातिया कर्मोंके नाशसे समस्त लोकको आनन्दका कारण सर्वथा निर्मल ऐसा  
केवल ज्ञान, केवल दर्शन, केवल वीर्य और केवल सुख इन चार चतुष्टय  
करके जो अर्हत भगवान युक्त हैं तथा आगममें प्रसिद्ध ३४ अतिशयके  
जो धारी हैं वे ही भगवान अर्हत होते हैं ॥ टीकाकार कहते हैं—  
वे सुसीमाजीके पुत्र श्रीपद्मप्रभु जयवन्त हो जिनका शरीर परमेश-  
्वरि है जिसमें पद्मरंग प्रसिद्ध है, जिनके नेत्र प्रफुल्लित कमलके समान  
हैं, जो पुण्यसमूहरूप तीर्थकर गोत्रके धारी हैं, जो पंडित जनकी  
कमलोंको प्रसन्न करनेकेलिये सूर्यके समान हैं, जो मुनिजनकी  
बनौकी शोभाको बढ़ानेकेलिये चंद्रमास अर्थात् वसंतकाल हैं, जो कर्म  
रूपी मेनाके नाश करनेको शत्रु हैं, तथा जिनका चाखि सर्व प्राणियों-  
का हित करनेवाला है ॥ जो कामदेवरूपी हाथीके नाशकेलिये गिद्धके  
समान हैं, जो पुण्यरूपी कमलके सिलानेको मूर्ख हैं, जो सम्पूर्ण  
गुणोंके समाज हैं, जो सर्वको इच्छित सुखदाता कल्पवृक्ष हैं। जो इष्ट  
कर्मोंके बीजको जलानेवाले हैं, जो संसारके पशुओंको छाड़ चुके हैं, तथा  
जिनके चरणोंको इंद्र नमस्कार करते हैं ऐसे श्रीजिनेन्द्र देव नयन  
रोध ॥ जिन्होंने कामदेवके धनुषको जीत लिया है, जो सर्व  
विद्याओंके प्रगटकर्ता हैं, जिनकी परिणति मुमुरूप है, जो  
पाप समूहकेलिये यमराजके समान हैं जिन्होंने मेघाके तापको  
छाँटकर दिया है, जिनके परमात्मार्थयुक्त पदोंको राजाविग्रह

नमन करने हैं, जिन्होंने कोषको जीत लिया है तथा विद्वानोंके समूह जिनको नमस्कार करते हैं ऐसे श्रीजिनेन्द्र जयवन्त होहु ॥ यहाँपर टीकाकारने पद्यप्रभु अरहंत भगवानकी एक स्तुति मनोहर श्लोकोंमें लिखी है ॥ वह हुए प्रथम श्लोकमें सर्व समास शब्दोंके अन्तमें 'न' अक्षर आया है, दूसरे श्लोकमें 'ज' अक्षर, तीसरेमें 'प' अक्षर आया है । अब चौथे श्लोकका अर्थ करते हैं—जिसके समास पदोंके अन्तमें 'क्ष' अक्षर आया है—अर्थात् जिन्होंने मोक्षको प्रगट किया है, जिनके नेत्र पद्म कमलके समान विस्तार युक्त हैं, जिन्होंने पापकी सेनाको जीत लिया है, कामदेवकी पक्षको सहित किया है, जिनके युगल धरणोंको यक्ष नमन करते हैं, जो तत्त्वविज्ञानमें दक्ष अर्थात् चतुर हैं, जिन्होंने बुद्धिमान भव्य जीवोंको शिक्षा प्रदान की है, तथा जिन्होंने निर्वाणका कारण मुनि दीक्षाका स्वरूप बहा है ऐसे श्री जिनेन्द्र प्रभु-जयवन्त होहु ॥ आगेके श्लोकके पदोंके अंतमें 'श' अक्षर है—जो कामदेव धरणन्द्र और देवोंके ईश हैं, जिनका शरीरका प्रदेश कांतमान शोभायमान है, जिनके धरणोंको यमीश अर्थात् मुनियोंके ईश नमस्कार करते हैं, जिन्होंने यमराजकी पक्षको नष्ट कर दिया है, जो पापरूपी वनके जलानेकेलिये अग्निके समान हैं, जिनका मुयश सर्व दिशाओंमें फैला हुआ है, जो जगतके ईश हैं, ऐसे मनोहर श्रीपद्यप्रभु स्वामी जयवन्त होहु ॥

आगे श्री सिद्धभगवानका स्वरूप कहते हैं:—

गढढकम्मबंधा, अढमहागुणसमाणिया परमा ।

छोयग्गठिदा णिच्चा, सिद्धा जे एरिसा हांति ॥ ७२ ॥

सामान्यार्थ—जिन्होंने अष्टकर्मोंके बंधनोंको नाश कर दिया है, जो आठ महागुणकरके सहित परम अर्थात् बड़े हैं, जो लोकके अग्रभागमें स्थित हैं, जो नित्य अर्थात् अविनाशी हैं वे सिद्ध होते हैं ॥

विशेषार्थ—इस गायामें मोक्ष प्राप्त करनेके परम्परा कारणभूत ऐसे जो भगवान सिद्ध परमेष्ठी हैं उनके स्वरूपको कहते हैं ॥ सम्पूर्ण-पने अंतरंगके सन्मुख होकर ध्यान और ध्येयके विकल्पासे दूरवर्ती ऐसा जो परम शुद्ध शुद्ध ध्यान उसके बलसे जिन्होंने ज्ञानावरणी आदि आठ प्रकार कर्मबंधोंको नष्ट कर दिया है तथा जो क्षायक सम्यक्त आदि आठ गुणोंसे पुष्ट और तुष्ट अर्थात् संतोषित हैं तथा जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रि ऐसे तीनों तत्वोंके विशेष गुणाधाररूप होनेसे परम हैं, अर्थात् तीनों तत्वोंकी जहां पूर्णता है, तथा जो व्यवहारसे तीन लोकके शिखरके आगे गमनका कारण धर्मद्रव्य न होनेसे लोकके अग्र-भागमें ही तनुवालवलयमें विराजमान हैं तथा जो आनी इस अनून पूर्वपर्यायसे कभी अन्य पर्यायरूप न होंगे अर्थात् सिद्धपर्याय न त्यागे इस कारण नित्य हैं ऐसे श्री सिद्धपरमेष्ठी होते हैं । टीकाकार कहते हैं कि ज्ञानके पुंज ऐसे जो श्री सिद्धभगवान हैं सो ध्येय-हारनयकरके तीन भवनके शिखरके अग्रभागके चूड़ामणि हैं पद्म-निभयकरके श्री सिद्धदेव स्वाभाविक परम चैतन्य चिंतामणि स्वयं अपने अविनाशी शुद्ध निजरूपमें ही विराजते हैं ॥ जिन्होंने सर्व बांधोंको अस्त कर दिया है, जो देहसे मुक्त होकर तीन भवनके शिखरपर विराजित हैं, जो सिद्ध अवस्थामें उपमा रहित प्रत्यक्ष ज्ञान दर्शन शक्तिसे युक्त हैं, जिन्होंने अष्टकर्म प्रकृतिके समुदायोंको नष्ट कर दिया है और आठ महागुणोंको सिद्ध किया है, जो अंत रहित, अन्याय हैं, जो तीन भवनके शिरोमणि और सिद्धिरूपी स्त्रीके स्वामी हैं ऐसे नित्य शुद्ध सर्व सिद्धोंको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ जो अपने आत्म स्वयंमें स्थित हैं लवलीन हैं, जिन्होंने आठ गुणकी संपदाको प्राप्त किया है और आठ कर्मके समूहको नष्ट किया है ऐसे सिद्ध महाराजोंको मैं बारबार नमस्कार करता हूँ ॥



आगे श्री आचार्यके स्वरूपको कहते हैं—

पंचाचारसमग्गा, पंचिन्द्रियदंतिदम्पणिद्वलणा ।

धीरा गुणगंभीरा, आचरिया परिता हांति ॥७३॥

सामान्याथ—जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य ऐसे पाँचों आचारोंसे परिपूर्ण हैं, जो पंचेन्द्रियरूपी हाथियोंके मद्को दबन करनेवाले हैं, जो धीर, और गुणोंमें गंभीर हैं वे ही आचार्य होते हैं ।

विशेषार्थ—जो ज्ञानादि पाँचों आचारोंमें परिपूर्ण हैं जो स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँचों इन्द्रियोंरूप मद्गंध हस्तिपोंका मद् दबनमें दक्ष हैं, तथा जो सम्पूर्ण प्रकारसे पोर उपसर्गोंको विजयकरके धीरता गुणके कारण गंभीर हैं । ऐसे लक्षणोंहीसे जानने योग्य श्री भगवान् आचार्यजी हैं । ऐसा ही श्रीपादिराजदेवने कहा हैः—कि जो पंच आचारमें लीन हैं, अकिंचन अर्थात् निर्मन्यताके जो स्वामी हैं, कृपाय चोरोके स्थानोंको जिन्होंने नष्ट किया है, प्रगट ज्ञानके बलसे परमतेजको जिन्होंने प्राप्त किया है । जो पंचास्तिकायके स्वरूप शनमें लवलीन हैं, जो प्रगट स्थिर योगाभ्यासमें प्रवीण बुद्धिशाली हैं, जो गुणोंकरके उदय रूप हैं ऐसे श्री आचार्य महाराजोंकी हम भक्तिरूपी क्रियाके अभिलाषी अपने संसारसम्बन्धी दुस्तसमूहको काटनेकेलिये पूजन करते हैं ॥

ज्ञान है, जो शुद्ध है जो तत्त्वज्ञानका कारण था । शुद्धज्ञान उपसर्ग प्राप्तिका कारण है, जो समता और इन्द्रियदमनताका मंदिर है, जो मैत्री, दया और दम अर्थात् जितेन्द्रियताका घर है, जो उपमाहित है ऐसा श्रीगुरुका मन मेरे द्वारा बदनीक है ॥

आगे श्रीउपाध्याय महाराजका स्वरूप कहते हैंः—

रयणत्तयसंजुता, जिर्णकौहियपयच्छदेसया सुरा ।

णिक्कंसभावसहिषा, उवहाया परिता होन्ति ॥७४॥

**सामान्यार्थ**—जो रत्नत्रयसे युक्त हैं, जिनेंद्र भगवान प्रणीत पदार्थोंके उपदेशक हैं जो इच्छारहित ऐसे भाव सहित हैं ऐसे उपाध्याय कहे जाते हैं ।

**विशेषार्थ**—इस गाथामें अध्यापकस्वरूप परम गुरुओंके स्वरूपका वर्णन है—जो निश्चल संढ रहित अद्वैत परम चैतन्य रूपके श्रद्धान, ज्ञान और आचरणसे शुद्धनिश्चय स्वभाव रत्नत्रयके धारी हैं, जो जिनेन्द्रके मुखारविन्दसे प्रगट हुए जीवादि समस्त पदार्थोंको अर्थ सहित व्याख्यान करनेवाले हैं, जो सम्पूर्ण परिग्रहका त्याग हे लक्षण जिसका तथा कर्माजन रहित ऐसा जो निज परमात्मतत्त्व उसकी भावनासे पैदा होनेवाले परम वीतराग सुखरूपी अमृतके पीनेमें अनुरागी हैं इसलिये इच्छा रहित परम भावनाके स्वामी हैं । ऐसे लक्षणांकरके पहचानने योग्य जैनियोंके उपाध्याय महाराज होते हैं ॥ टीकाकार कहते हैं—मैं रत्नत्रयमई, शुद्ध, भव्यकमलोंकेलिये मूर्त्य ऐसे उपदेश दाता उपाध्यायोंको नित्य धारवार वंदना करता हू ॥

आगे निरंतर अरुंडित परमतपश्चरणमें लीन ऐसे सर्वसाधुके स्वरूपको कहते हैं—

**वावारविष्पमुक्ता, चउव्विहाराहणासयारत्ता ।**

**णिग्गंथा णिम्मोहा, सादू वे एरिसा हांति ॥ ७५ ॥**

**सामान्यार्थ**—जो सर्व व्यापारसे रहित हैं, चार प्रकार आगमनामें सदा लवलीन हैं, जो निर्ग्रन्थ और मोह रहित हैं वे साधु होते हैं ॥

**विशेषार्थ**—जो महान पुरुष परम संयमके धारी हैं तथा जो पंचम भाव जो पारणामिक भाव उसकी भावनामें परिणमन करते हैं—देता है पंचमभाव, जो तीन काठमें आवरणरहित तथा सर्व मलरूप जैननसे रहित है शुद्ध है । वे मुनि इसीकारण सर्व व्यापारसे रहित हैं । तथा ज्ञान दर्शन चारित्र्य परम तपश्चरण ऐसी चार प्रकारकी आराधना

रूपी संपदा उनमें जो अनुरक्त हैं अर्थात् तन्मय है । बाह्य अभ्यंतर सर्व परिग्रहके हठसे रहित हैं इसलिये निर्मय है । सदा कर्मरूपी अंजनसे रहित निज परमात्मस्वरूप जो कारण समयसारस्वरूप उसका यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान और आचरण उनके विरोधी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, और मिथ्याचारित्र्य इनके अभावसे जो मुनि निर्मोह अर्थात् मोह रहित है । तथा जो मुनि परम निर्वाणरूप स्त्री उसका सुन्दर केशोंका जूड़ा उसकी शोभा तथा उसके सचिकण केसरका रज पुंज उससे शोभा-यमान नानाप्रकार वर्णोंका अलंकार उसके आलम्बनमें कौतूहल बुद्धि हैं अर्थात् मुक्ति स्त्रीके प्रेमी हैं ऐसे सर्व साधु होते हैं ॥ टीकाकार कहते हैं कि साधुका मन संसारी जीवोंके ऐसे मुरझासे रहित है सर्व परिग्रहके संबंधसे दूरवर्ती है हम लोगोंसे नमस्कार करने योग्य है । हे साधु ऐसे मनको अपने आत्माहीमें शिघ्र डुबाओ ।

आगे इस अधिकारको संकोचते हैं:—

एरिसयभावणाए, यवहारणयस्स होदि चारित्तं ।

णिच्छयणयस्स चरणं, एत्तो उड्डं पवक्खामि ॥ ७६ ॥

सामान्यार्थ—इन ऊपर लिखित भावनाओंमें व्यवहार नयकी अपेक्षासे चारित्र्यका कथन किया है । निश्चय नय अपेक्षा चारित्र्यको आगे कहेंगे ।

विशेषार्थ:—इस प्रकार पहले कहे पांचमहावत, पांचसमिति, निश्चय व्यवहार तीन गुणों तथा पांच परमणीका स्वरूप—इनके द्वारा अत्यन्त दुर्भ भावनाकी प्राप्ति होती है यह सर्व व्यवहार नयके अभिप्रायसे परम चारित्र्य होता है ॥ आगे कहने योग्य पांचवें अधिकारमें परम पंचम भाव जो परिणामिक भाव उसमें लीन तथा जो पंचमगति अर्थात् मोक्ष उसका कारणरूप ऐसा शुद्ध निश्चय नयके आधीन जो परम चारित्र्य है उसका स्वरूप दित्ताएगे । ऐसा ही श्री मार्गमकराशमें कहा है कि जिस चारित्र्यके

विना सम्यग्दर्शन और ज्ञान ऊखलके भीतर पड़े हुए बीजके समान छिल-  
केसे तथा मेलसे अलग नहीं है उस जैनके चारित्रको मैं नमन करता हूँ ।  
इस चारित्रकी स्तुति देव असुर, तथा मनुष्य सर्व करते हैं ॥ टीकाकार  
कहते हैं कि मोक्षरूपी स्त्रीके अनंग अर्थात् अतीन्द्रिय सुखका मूल यह  
परम निश्चय चारित्र है ऐसा आचार्योंने कहा है तथा इस चारित्रका  
उत्कृष्ट साधन व्यवहार चारित्र भी है ऐसा वर्णन किया है ।

इस प्रकार सुकविकमलोंकेलिये सूर्य्य पंचेन्द्रियके विस्तारसे रहित  
शरीर मात्रपरिमह धारी श्रीपद्मप्रभमलधारिवेच रचित नियमसारकी  
तात्पर्यवृत्ति नामटीकामें व्यवहारचारित्रका अधिकार पूर्ण हुआ ।

## निश्चयप्रतिक्रमणाधिकार ।



आगे आचार्य्य टीकाकार श्रीमाधवसेनाचार्य्यका नमस्कार करते  
हैं:—जो संयम और ज्ञानकी मूर्ति हैं तथा विनयवान् जो क्षिप्ररूपी  
कमल उनके विकाश करनेकेलिए सूर्य्य हैं तथा कामदेवरूपी हार्थके  
कुंभस्थल विदारनेको सिंहके समान हैं ऐसे जो श्रीमाधवचंद्र आचार्य्य को  
शोभाको विस्तारते हैं ॥ आगे सर्व व्यवहार चारित्र और उसके फलका  
लाभ उससे प्रतिपत्ती जो शुद्ध निश्चय नयस्वरूप परम चारित्र उसको  
प्रतिपादन करनेके अभिप्रायसे निश्चय प्रतिक्रमण अधिकारको आगे  
कहेंगे ।

तिसमें प्रथम ही पंचरत्नका स्वरूप कहते हैं:—

णाहं णारयमायां, विरियच्छो मणुवदेवपज्जाभां ।  
कत्ता ण हि कारद्धदा, अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ ७७ ॥

णाहं मग्गणठाणो, णाऽहं गुणठाण जीवठाणो ण ।  
 कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ ७८ ॥  
 णाहं बालो बुद्धो, ण चेव तरुणो ण कारणं तेसिं ।  
 कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ ७९ ॥  
 णाहं रागो दोसो, ण चेव मोहो ण कारणं तेसिं ।  
 कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ ८० ॥  
 णाहं कोहो माणो, ण चेव माया ण होमि लोहो हिं ।  
 कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ ८१ ॥

सामान्यअर्थ—न मैं नारकभाव धारी हूँ, न मैं तिर्यच । मनुष्य तथा देवपर्यायवाला नहीं हूँ, न मैं इनका कर्ता हूँ न, करानेवाला हूँ और करनेकी अनुमोदना करनेवाला हूँ ।

न तो मैं मार्गना स्थान हूँ न गुणस्थानरूप हूँ न जीवसमास स्थानरूप हूँ न मैं इन भावोंका कर्ता हूँ न करानेवाला हूँ न मैं कर्ताओंकी अनुमोदना करनेवाला हूँ । न मैं बालक हूँ न मैं बुद्ध हूँ न मैं जुवान हूँ और न इन अवस्थाओंके हानेका हूँ । न मैं इनका कर्ता हूँ न करानेवाला हूँ और न मैं इनके करनेवालोंकी अनुमोदना करनेवाला हूँ ॥ न मैं रागरूप हूँ न द्वेष रूप हूँ न मोहरूप हूँ और न इन भावोंका कारण हूँ, न मैं इनका कर्ता हूँ, न कराने वाला हूँ और न अनुमोदना करनेवाला हूँ ॥ न मैं क्रोधरूप हूँ न मानरूप हूँ न माया रूप हूँ और न कभी लोभ रूप होता हूँ । न मैं इनका कर्ता हूँ न करानेवाला हूँ और न करनेकी अनुमोदना करनेवाला हूँ ।

विशेषार्थ—इन गाथाओंमें कहा है कि शुद्ध आत्माके सर्व कर्तृत्व भावका अभाव है ॥ बहु आरंभ और बहु परिग्रहके अभावसे मैं कभी नारक पर्यायरूप नहीं होता हूँ क्योंकि संसारी जीवके ही व्यवहारसे

बहु आरंभ और बहु परिग्रह होते हैं और इसीकारण उस संसारिके नारकादि दुर्गतिका कारण ऐसा पूर्ण मोह, राग, तथा द्वेष होता है। मैं शुद्ध निश्चयके बलसे शुद्ध जीवास्तिकाय हूँ। मेरे नरक पर्यायके समान तिर्यच पर्याय भी नहीं है और न मनुष्यपर्याय है और न मेरे देवपर्याय है क्योंकि देव पर्यायके योग्य सुन्दर रस गंध तथा शुभ रूप ऐसे पुत्रल द्रव्य उनका सम्बन्ध मेरे साथ नहीं है। इसीप्रकार १४ प्रकार मार्गनाके स्थान १४ जीव समासके स्थान व १४ गुणस्थान ये कोई भी शुद्ध निश्चयकरके मेरे नहीं है। केसा हूँ मैं, परम भाव जो शुद्ध परिणामिक भाव उसको धारण करने वाला हूँ। मनुष्य तिर्यचकी कायकी जातिमें अवस्थाके निमिषसे जो विकार पैदा होता है वही विकार शरीरका बालक, बूढ़, युमान शिथिलआदि अवस्थारूप होनेसे अनेक प्रकार है-सो इनमेंका कोई भी विकार शुद्ध निश्चय नयके अभिप्रायसे मेरे नहीं है। सत्ता, ज्ञान, परमचेतन्यमई सुसका अनुभव इनमें लीन जो उत्कृष्ट आत्मीय तत्त्व है उस तत्त्वको ग्रहण करनेवाली जो शुद्ध द्रव्यार्थिक नय उसके बलसे मेरे मोह, राग, व द्वेष बिलकुल नहीं है। मैं स्वभाविक निश्चय नयसे सदा निरावरण हूँ कमोके आवरणसे अलग हूँ। शुद्ध ज्ञान स्वयं सहज चेतन्यमई शक्तिका धारी हूँ। सहज दर्शन गुणसे प्रभासमान और परिपूर्ण मेरी मूर्ति है, अपने स्वरूपमें निश्चयतासे ठहरा हुआ कारण स्वभावसे ही यथारूपात चारित्रिका धारी हूँ। इसलिये मेरे सम्पूर्ण संसारसम्बन्धी दुःसोंके कारण ऐसे कोप, मान, माया, लोभ नहीं है तथा न मैं इन नानाप्रकारके आकुलतामई विभाव पर्यायोंका निश्चय करता हूँ, न करानेवाला हूँ और न पुत्रल कमोके करनेवालोंका अनुमोदक हूँ। न मैं नारक पर्यायको करता हूँ, मैं तो स्वाभाविक चैतन्यका विद्यारूप आत्माको ही अनुभव करता हूँ। न मैं पशुपर्यायको करता हूँ। मैं तो सहज चितके विद्यारूप आत्माहीका स्वरूप

हूँ ॥ न मैं मनुष्य पर्यायको करता हूँ, मैं स्वाभाविक चैतन्यका विलासरूप जो आत्मा उसहीका अनुभव करता हूँ । न मैं देव पर्यायको करता हूँ, मैं सहज चैतन्यके प्रकाशरूप आत्माका ही मनन करता हूँ । न मैं मिथ्यादर्शन आदि गुणस्थानोंके भेदोंको करता हूँ । मैं स्वाभाविक चैतन्यका विलासरूप आत्माका ही सचेतन करता हूँ । न मैं एकेन्द्रिय आदिक जीव समानके भेदोंको करता हूँ । मैं सहज चैतन्यका प्रकाशरूप आत्माहीका अनुभव करता हूँ । न मैं शरीर सम्बन्धी बाढ वृद्ध आदि भेदको करता हूँ । मैं स्वाभाविक चैतन्यका विलासरूप आत्माका ही स्वाद लेता हूँ । न मैं राग द्वेष आदि भावकर्मके भेदोंको करता हूँ । मैं सहज चैतन्यके प्रकाशरूप आत्माहीका मनन करता हूँ । न मैं भावकर्मरूप क्रोधादि चार कषायोंको करता हूँ । मैं स्वाभाविक चैतन्यका विलासरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ । इस प्रकार पंचरत्न मई ५ गाथाओंमें गर्भित संक्षेपमें यह कथन किया है कि सर्व विभावपर्यायोंको त्याग करनेकी भावना करना ही कार्यकारी है । टीकाकार कहते हैं—जो भव्य जीव इन पांचरत्नमई पांच गाथाओंके द्वारा अपने चित्तको सर्व इन्द्रिय विषयोंके दृढसे छुड़ाता है तथा अपने आत्मीक द्रव्यके शुद्धगुण पर्यायोंमें अपने उपयोगको लीन करता है वह आत्मा अपने आत्मीक भावसे भिन्न सर्व विभावोंको त्यागकर शाश्वती मुक्तिका लाभ करता है ॥

आगे कहते हैं कि भेद विज्ञानसे ही क्रम २ से निश्चय चारित्र्य होता है—

**एरिसभेदव्भासे, मज्झच्छो होंहि तेण चारित्तं ।**

**तं दिट्ठकरणणिमित्तं, पट्टिकमणादी पवक्खामि ॥८२॥**

सामान्यार्थ—ऊपर कहे प्रमाण भेद विज्ञानके भीतर जो अभ्यास करते हैं वे मध्यस्थ होते हैं—इसी भावके द्वारा चारित्र्यका लाभ होता है । इसी चारित्र्यके दृढ करनेकेलिये प्रतिक्रमण आदिकी करेंगे ऐसी श्रुत-कुंदाचार्य्य प्रतिज्ञा करते हैं ॥

**विशेषार्थ—**पहले कही हुई पंचरत्नमई पांच गाथोंके द्वारा अर्थका भाव जाननेसे मोक्षका साधक ऐसा जीव और पुत्रोंका भेद विज्ञान होता है इस भेद विज्ञानका अभ्यास करते करते जो मुमुक्षु मोक्षके इच्छुक इस भेद विज्ञानके भावमें सदा स्थिर रहते हैं वे ही मध्यस्थ अर्थात् वीतराग हो जाते हैं। इस कारणसे ही उन परम संयमी मुनियोंके ही वास्तवमें चारित्र्य होता है—इसी चारित्र्यमें निश्चलरूपसे स्थिति करनेका उपाय प्रतिक्रमण आदि नियमरूप क्रियाएं कही गई हैं। अतीत अर्थात् गतकालमें किये हुए दोषोंको छुड़ानेकेलिये जो प्रायश्चित्त किया जाता है उसको प्रतिक्रमण कहते हैं। आदि शब्दसे प्रत्याख्यान आदिभी ग्रहण करने। आगे इनहीका स्वरूप कहेंगे।

ऐसा ही श्रीअमृतचंद्रसूरीने कहा है कि निश्चय करके जोर सिद्ध हुए हैं वे सर्व ही भेद विज्ञानकी माहिमासे हुए हैं और जो जो संसारमें बंधे हुए हैं वे सर्व ही भेद विज्ञानके अभावसे ही बंधे हुए हैं। टीकाकार कहते हैं कि श्रीमुनिनाथके चित्तमें अतिशयकरके भेद ज्ञानका भाव होनेपर स्वयं ही यह उपयोग मोहको छोड़ देता है तथा शान्तभावरूप ऐसा शमरूप समुद्र उससे समस्त पापरूपी कलंकोंको धो डालता है—यह कोई निश्चयकरके समयसारका ही एक भेद है।

आगे प्रतिक्रमणका स्वरूप कहते हैं:—

**मोक्षूण वयणरपणं, रागादीभाववारणं किञ्चा ।**

**अप्पाणं जो ज्ञायदि, तस्स दु होविचि पठिकमणं॥८३॥**

**सामान्यार्थः—**वचनकी रचनाको छोड़कर तथा राग देषादि भावोंको निवारणकरके जो कोई आत्माको ध्याता है उसके प्रतिक्रमण होता है।

**विशेषार्थ—**जो मोक्षार्थी जीव प्रतिदिन सर्व पापोंके समूहोंको क्षय करनेकेलिये वचनमई प्रतिक्रमणकी स्तुति करे उसे उसका इस गाथामें



निराकरण है ॥ जो कोई परम तपभरणका कारण स्वाभाविक वैराग्यरूपी अमृतका जो समुद्र उसके बढ़ानेकेलिये पूर्ण चंद्रमाके समान है उसके अशुभ वचनोंको कहनेका त्याग तो होता ही है तौभी वह प्रतिक्रमण सूत्रमें गठन कीहुई कठिन वचनोंकी रचनाको छोड़ता है और संसार रूपी बेलके मूलकद् जो सर्व मोह राग द्वेष भाव इनको दूर करता है तथा सदरहित आनंदमई निजकारण परमात्माका ध्यान करता है उसी मुमुक्षु जीवके निश्चयकरके निश्चय प्रतिक्रमण होता है । कैसा है यह निश्चय प्रतिक्रमण, जहाँ परमआत्मीक तत्वका सम्यक् भ्रद्धान, ज्ञान और आचरण विद्यमान है । तथा जहाँ सम्पूर्णवाग्विद्यास अर्थात् वचन रचना-रूप व्यापारका त्याग है । ऐसा ही श्रीमान् अमृतचंद्र सूरीने कहा है—  
कि बहुतसे सोंटे विकल्परूप वचनकी रचना करनेसे कोई काम्यकी सिद्धि नहीं है । परमार्थवात यही है कि नित्य एक स्वरूप-  
हीका अनुभवकरना ठीक है । क्योंकि अपने आत्मीक रससे भरपूर ऐसे पूर्णज्ञानका जहाँ प्रगटपना है ऐसे समयसारके सिवाय और कोई कुछ अनुभवने योग्य नहीं है । टीकाकार कहते हैं—अत्यन्त तीव्र मोहसे पैदा किये पूर्वमें जो कर्म उनका प्रतिक्रमण करके मैं नित्य सम्यग्ज्ञानरूपी आत्मामें अपने आत्मस्वरूपके द्वारा वर्तन करता हूं ।

आगे कहते हैं जो आत्माकी आराधनामें ठहरा हुआ है उसी जीवके ही प्रतिक्रमण कहा जाता है—

आराहणाइ वट्टइ, मोत्तुण विराहणं विसेसेण ।

सो पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८४॥

सामान्यार्थ—जो कोई मोक्षार्थी विशेषकरके सर्व विराधना अर्थात् अपराध उसको छोड़कर स्वरूपकी आराधनामें वर्तन करता है वह जीव प्रतिक्रमणमई हांता है तथा वही जीव प्रतिक्रमणस्वरूप कहा गया है ॥

विशेषार्थ—जो कोई परमतत्त्व ज्ञानी जीव निरंतर आत्मसन्मुख हो बिना टूटे हुए अर्थात् लगातार परिणामोंकी परिपटीसे साक्षात् स्वभावमें ठहरकर आत्माकी आराधनामें वर्तन करता है वही जीव निरपराध स्वभाव है। आत्माकी आराधनाका विगत होना अर्थात् विराधना होना सो अपराध है उसकरके जो रहित है वही भव्य निरपराध है। ऐसा भव्य जीव सम्पूर्ण प्रकारसे विराधनाको छोड़ देता है। जिसके परिणामसे आराधना चली गई है उस परिणामको विराधना कहते हैं। ऐसा निरपराधी जीव ही निश्चय प्रतिक्रमण स्वरूप है ऐसा कहा गया है। सो ही भ्रूसमय-सारजीमें कहा है। उसहीका समयसारकी व्याख्यामें श्लोक है—जो अपराधीजीव है वह निरन्तर अनंत कर्मोंसे बंधता है परन्तु जो निरपराधी है वह कभी भी बंधनको स्पर्श नहीं करता है। क्योंकि सापराधी अपने आत्माको नियतरूपसे अशुद्ध ही भजता है परन्तु निरपराधी भलेप्रकार अपने शुद्ध आत्माका सेवक होता है। टीकाकार कहते हैं—जो परमात्मस्वरूपके ध्यानसे रहित है ऐसा आत्मा निश्चयकरके संसारी और अपराधी ही है क्योंकि अपनेको अपराध सहित ही स्मरण करता है अर्थात् अशुद्ध भावके मननसे अशुद्ध ही रहता है। किन्तु जो निरन्तर संद रहित एक अद्वैत चेतन्यके भावमें तल्लीन रहता है वही निरपराधी होता है तथा वही कर्मोंके नाश करनेमें प्रवीण होता है ॥

आगे कहते हैं कि जो निश्चयचारित्रके धारी परम उपेक्षा संदमके पालनेवाले हैं उन्हींके ही निश्चय प्रतिक्रमणका स्वरूप होता है—  
मोक्षूण अणायारं, आयारे जो दु कुणादि धिरमार्य।  
सो पडिकमणं उच्यइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा॥८५॥

सामान्य अर्थ—जो भव्य अनाचारको त्यागकर स्वभावमें स्थिर भावको करता है वही प्रतिक्रमणमई होता है तथा वही प्रतिक्रमण स्वरूप है ॥

विशेषार्थ—नियतरूपसे परमोपेक्षा संयमी मुनिके शुद्धात्माकी आराधना अर्थात् भक्ति उस सिवाय सर्व ही अनाचार है इसलिये सर्व ही अनाचारको त्यागकर जो स्वाभाविक चैतन्यका विलासरूप ऐसा निरंजन अपना परमात्म तत्त्वकी भावनास्वरूप जो आचार उसमें जो कोई सहज वैराग्यकी भावनामें परिणमन करता हुआ अपने स्थिरभावको करता है वही परम तपोधन मुनि प्रतिक्रमणस्वरूप कहा गया है क्योंकि वही भव्य परम समता रसमई भावनामें परिणमन करता हुआ निश्चय प्रतिक्रमणमई होता है । भावार्थ—वैराग्यमई भाव करता हुआ जो मुनि परमात्माकी भावना करता है उसीहीके निश्चय प्रतिक्रमण होता है ॥ टीकाकार कहते हैं कि इस आत्माको उचित है कि यह आत्मा निजपरम आनंदरूपी अमृतसे भरे हुए तथा स्वाभाविक ज्ञानको प्रकट करनेवाले अपने आत्माको आत्मीक शांतिरसमई जलसे पूर्ण आनंदमई भक्तिपूर्वक ध्यान करावे संसारीक अनेक बचनोंके समूहभूष जालोंसे कोई कार्प्यसिद्ध न होगा ॥ जो भव्यआत्मा अतिशय-करके जन्ममरणकारी तथा सर्व दोषोंके प्रसंगको करानेवाले अनाचारको त्यागकर तथा अपने आत्माके द्वारा उपमारहित स्वाभाविक दर्शन, स्वाभाविक ज्ञान तथा स्वाभाविक वीर्यके धारी आत्मामें स्थित होकर बाह्य आचारको छोड़ करके शांत समुद्रके क्षमरसमई जलबिन्दुओंके समूहोंसे पवित्र होता है वही आत्मा पुण्यवान है तथा वही समीचीन आत्मा मलसमूहको नाश करके साक्षात् रूप होता हुआ प्रकाशमान होता है ॥

आगे कहते हैं कि उन्मार्गको त्यागकर सर्वज्ञांतरागके मार्गको स्वीकार करना चाहिये:—

उन्मगं परिचत्ता, जिणमग्गे जो दु कुणदि धिरमावं ।  
सो पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जह्मा ८६ ।

**सामान्यार्थ—**उन्मार्गोंको त्यागकर जो जीव जिनमार्गमें अपना स्थिरभाव करता है वही प्रतिक्रमणरूप कहा गया है क्योंकि वही जीव प्रतिक्रमणमई होता है ।

**विशेषार्थ—**जो कोई शुद्ध निश्चय सध्यगृही शंका, कांक्षा, विचि-  
कित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा, तथा अन्यदृष्टिसंस्तव ऐसे पांच मलरूपी कल-  
ककी क्रीचसे मुक्त होकर बुद्ध आदि एकान्त वादियोंके कहे हुए मिथ्या  
दर्शन, मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चारित्ररूपी मार्ग सारसे दीसैं परन्तु  
धर्ममार्ग नहीं ऐसे उन्मार्गोंको छोड़ता है और व्यवहार नयकरके महादे-  
वाधिदेव परमेश्वर सर्वज्ञ वीतरागके द्वारा कहा गया जो व्यवहार चारित्र-  
रूपी मार्ग अर्थात् पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, पांच इन्द्रियों-  
का निरोध, प्रतिक्रमण आदि छः आवश्यक आदि २८ मूल गुणोंके  
आचरणमें अपने परिणामको स्थिर करता है तथा शुद्ध निश्चय नय-  
करके स्वाभाविक ज्ञान आदि शुद्ध गुणोंसे शोभायमान तथा स्वाभाविक  
परम चेतन्यके सामान्य विशेषरूप प्रतिभासमान ऐसे अपने परमात्म  
द्रव्यमें अपना स्थिर भाव करता है अर्थात् शुद्ध चारित्रमें लीन होता है  
वही मुनि निश्चय प्रतिक्रमण स्वरूप कहा गया है । क्योंकि निश्चय प्रति-  
क्रमण परम आत्मीक तत्त्वमें ही प्राप्त है इस कारणसे ही वह तपोधन  
सदा ही शुद्ध है ॥ ऐसाही श्री प्रवचनसारमें कहा है—विशेष आदरके  
धारी पुराण पुरुषोंके द्वारा यह चारित्र उत्सर्ग और अपवाद ऐसे दो भेद-  
रूप सेवित किया जाता है उस चारित्रकी स्पष्टपने अनेक भूमिकाओंको  
आचरणकरके मुनि सर्वसे अपनी अतुल निवृत्ति करके चेतन्यके सामान्य  
विशेषरूप अपने आत्मद्रव्यमें तिष्ठता है । ऐसा ही टीकाकार कहते हैं  
कि जो मुनि इन्द्रिय विषयोंके सुखसे विरक्त है, शुद्ध आत्मीक तत्त्वमें  
लीन हैं, तपमें अपने चित्तको अनुरागी किये हुए हैं, शास्त्र समूहकी  
संगतिमें उन्मत्त हैं, गुणरूप माणियोंकी मालासे युक्त हैं, तथा सर्व संसा-

रिक्त शैक्त्योंसे रहित हैं, ऐसे मुनि क्यों नहीं अमृतमई मोक्ष बंधुके बलुभ होकर स्फुरायमान होंगे अर्थात् अवश्य मुक्त प्राप्त करके प्रकाशमान होंगे । आगे कहते हैं कि शून्य रहित भावोंमें परिणमन करनेवाला महातपोधन अर्थात् मुनि ही निश्चयप्रतिक्रमणरूप होता है:-

मोक्षुण सलुभावं, निस्तले जो दु साहु परिणमदि ।

सां पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा ८७

सामान्यार्थः—जो मुनि उस शून्य भावको त्यागकर शून्य रहित भावमें परिणमन करता है वह प्रतिक्रमणरूप कहा जाता है क्योंकि वह मुनि प्रतिक्रमणमई हो जाता है ॥

विशेषार्थः—निश्चयकरके यह आत्मा सर्व शून्यसे रहित स्वरूप परमात्मा है परन्तु व्यवहार नयके बलसे कर्मरूपी कीचड़से सहित है इस कारणसे उपचारकरके यह संसारी जीव माया, मिथ्या, निदान ऐसे तीन शून्योंके साथ है । इसकारण इन तीनों शून्योंको छोड़कर जो कोई विषयोंसे विमुक्त परमयोगी परम निःशून्य स्वरूप परमात्मस्वभावमें लीन होता है वही मुनि निश्चय प्रतिक्रमण स्वरूप कहा गया है । क्योंकि अपने आत्मस्वरूपमें प्राप्त होना ही वास्तविक प्रतिक्रमण है । टीकाकार कहते हैं कि विद्वान् यती तीन शून्योंको त्यागकर शून्यरहित परमात्मामें टहरकर प्रगटपने सदा शुद्ध आत्माहीकी भावना करता है । हे मुनि ! तू कषाय कालिमासे रंजायमान होता हुआ बार २ कामदेवके वाणसे निकली जो अग्नि उसकरके दग्ध हो चुका है सो अब तू भवभवमें भ्रमणका कारण ऐसा जो मलीन चित्त उसको छोड़ और प्रबल संसारसे भयको प्राप्त करके जिस निर्मल तथा स्वभावमें ली रहे हुए आनन्दको अनादि कर्म बंधके बशसे नहीं प्राप्त किया उसही आनन्दको भज ॥

आगे कहते हैं जो मुनि तपोधन मन वचन कायकी गुणियोंमें गुप्त होता है उसीके ही निश्चय चारित्र होता है:—

चत्ता ह्यगुत्ति मावं, तिगुत्तिगुत्तो हवेइ जो साहु ।

सो पढिकमणं उच्चइ, पढिकमणमओ हवे जम्हा ॥८८॥

सामान्यार्थ:—जो साधु अगुप्ति भावको त्याग निश्चयकरके तीन गुणियोंमें गुप्त होता है वही प्रतिक्रमण स्वरूप कहा गया है क्योंकि वह मुनि प्रतिक्रमणमई हो जाता है ।

विशेषार्थ:—जो कोई परम तपश्चरणरूप सत्सेवक के कमलोंकेलिये अत्यन्त तेजवान सूर्यके समान है ऐसा अत्यन्त निकट भव्य मुनीश्वर है सो बाह्य प्रपंचरूप जो अगुप्तिभाव उसको त्यागकर त्रिगुप्तिमें गुप्त अर्थात् लवलीन ऐसी विकल्प रहित परम समाधि सो ही है लक्षण जिसका ऐसे अति अपूर्व आत्माको ध्याता हैं वही निश्चय प्रतिक्रमणमई परम संयमी है इसलिये उसीको ही निश्चय प्रतिक्रमण स्वरूप होता है:— टीकाकार कहते हैं जो मुनि भव्यात्मा वचन कायके विकारोंको सदा त्यागकर सम्यग्ज्ञानमई स्वभाविक परम गुप्तिको शुद्धात्माकी भावनाके साथमें भजन करता है वह मुनि त्रिगुप्तिमई होकर अपने प्रत्यक्ष स्वभावको प्राप्त होता है ।

आगे ध्यानके भेदोंको कहते हैं:—

मोत्तुण अट्ट रुहं, झाणं जो झादि धम्म सुक्कं वा ।

सो पढिकमणं उच्चइ, जिणवरणिद्धिसुत्तेसु ॥ ८९ ॥

सामान्यार्थ:—जो कोई आर्त तथा रोद्रध्यानको छोड़कर धर्म-ध्यान और शुद्धध्यानको ध्याता है उसीके ही जिनेन्द्र कथित सूत्रोंमें प्रतिक्रमण कहा गया है ।

विशेषार्थ:—अपने देशके त्यागसे, द्रव्यके नाश होनेसे, मित्र बंधु जनकोंके विदेह जानेसे, तथा सुन्दर स्त्रीके वियोगसे इष्ट वियोग जनित

आर्त्तध्यान होता है । जो चेतन अचेतन पदार्थ अपनेको इष्ट नहीं हैं उनका संयोग होते उनके वियोगकी इच्छासे पैदा हुआ अनिष्ट संयोग आर्त्तध्यान होता है । शरीरमें वेदना होते उसके दूर न होनेतक बार बार उस पीड़ाको विचारकर दुःख मानना सो पीड़ा चिन्तवन आर्त्तध्यान है । आगामी भव व कालमें भोगोंकी इच्छासे बार २ उनका चिन्तवन सो निदान आर्त्तध्यान है । चोर, जार, शत्रु आदिको वध, बंधन आदि चाहते हुए महाद्वेषरूप भावके चिन्तवनसे उत्पन्न हुआ हिसानंद रौद्रध्यान है । चोरी करने कराने आदिमें आनन्दका ध्यान सो चौर्यानंद रौद्रध्यान है । मृषावादमें आनंद मृषानन्द रौद्रध्यान है । परिग्रहकी बुद्धिमें आनन्द मानना सो परिग्रहानंद रौद्रध्यान है । ये दोनों ही आर्त्त रौद्रध्यान स्वर्ग और मोक्ष मुक्तके विरोधी हैं तथा संसार दुःखके मूल हैं । इन दोनोंको सर्वथा त्यागकर जो कोई भव्य श्रेष्ठोंमें मुख्य परम भाव जो अपने आत्माका शुद्ध भाव

.....

ध्यान, या ध्यान और त्यागके सम्बन्ध पर हमें कुछ बातें कहनी पड़ेंगी । रूपमें निश्चित है । तथा कैसा है निश्चय शुरुध्यान, जहाँ ध्यान और ध्येयका भेद नहीं है । जिसका ध्यान करनेवाला अपने अंतरंगमें अपनी परिणति करके सर्व ही इन्द्रिय ग्रामोंसे बाहर रह भेदरहित परम कलाका नाथ होता है ॥ यह कथन परम जिनेन्द्र श्रीतीर्थकर देवके मुख कमलसे प्रगट हुआ जो द्रव्यभूत उसमें प्रगट है । इस प्रकार ४ भेद स्वरूप ध्यानोंमें आदिके दो ध्यान आर्त्त और रौद्र है अर्थात् त्यागने योग्य हैं । प्रथम अवस्थामें धर्मध्यान ग्रहण करने योग्य है । परन्तु चतुर्थ शुरु ध्यान सर्वदा ही उपादेय है—यही ध्यान मोक्षका निकट कारण है ॥ ऐसा ही अन्य ग्रन्थमें कहा है—जो ध्यान क्रियारहित, इन्द्रियबाह्य, ध्यान व ध्येयके विकल्पसे रहित, अंतरंग लीनरूप है उसीको योगिधर्मे शुरु ध्यान कहा है ॥ टीकाकार करते हैंः—शुद्ध नय ध्यानके भेदसमूह-

को ही नहीं कथन करता है—शुद्ध नयसे यह आत्मा सदा शिवनई मोक्षके आनन्द स्वरूप अपने परमात्म तत्त्वमें व्यक्त अर्थात् प्रगट है। ध्यान और ध्यानके भेद हैं इस कथनको व्यवहार नय ही सदा कथन करता है। हे जिनेन्द्र आपका तत्त्व परम आश्चर्यकारी है मानो इन्द्र जाल ही है क्या ॥ भावार्थ—शुद्ध नय वस्तुके शुद्ध असल स्वरूपको ही कहनेवाला है। व्यवहार नय अशुद्ध तथा भेद रूप कथनको कहनेवाला है। परम शुद्ध अवस्थामें ध्यान और ध्येयका विकल्प ही नहीं है। यह आत्मा स्वयं ही साध्यरूप कार्यको सिद्ध किये हुए शुद्ध हो जाता है, वही सिद्ध अवस्था इस आत्माका असल स्वरूप है। उसको कहनेवाला जो शुद्ध नय सो अन्य अवस्थाको नहीं कह सकता। इस कारण सिद्ध अवस्थाके कारणरूप जो ध्यान वह सर्व व्यवहार और भेदरूप धर्म है इसीसे व्यवहार नयहीका विषय है। इन्द्रजालका दृष्टान्त कहनेका प्रयोजन यह है कि जैसे इन्द्रजालके सेलको समझना कठिन है ऐसे ही जिनवाणीके भेदोंका जानना दुर्गम है ॥ फिर भी कहते हैं—जो यह परमात्मतत्त्व सम्यग्ज्ञानका मंडन अर्थात् आभूषण है तथा चहुँ ओरसे समस्त विकल्पोंके समूहोंसे मुक्त है उस तत्त्वमें सर्व नय सम्बन्धी कोई भी विकल्परूप प्रपंच नहीं है तो फिर कहिये उस तत्त्वके स्वरूपमें ध्यानावली कैसे उदय हो सकती है ?। अर्थात् ध्यानादि सर्व साधक अवस्थामें हैं अत एव व्यवहार मार्ग हैं। शुद्ध निश्चय नयसे ये सर्व विकल्प नहीं हैं।

आगे कहते हैं कि अत्यन्त निकट भव्य जीवके पूर्व अवस्थामें कौनसे परिणाम होते हैं तथा पश्चात् कौनसे परिणाम होते हैं:-

मिच्छत्तपहुदिभावा, पुट्वं जीवेण भाविया सुइरं ।  
सम्मत्तपहुदिभावा, अभाविया हांति जीवेण ॥ ९० ॥



**सामान्यार्थः—**पूर्वमें जीवने अनादिकालसे मिथ्यात्व आदि भावोंको गया है । तथा सम्यक्त आदि भावोंको अनादि कालसे कभी नहीं गया है ।

**विशेषार्थः—**मिथ्यात्व, अवत, कषाय, योगपरिणाम ऐसे चार सामान्यरूपसे बंधके कारण भाव तथा इनके तेरह भेद ( १३ ) गुणस्थान रूप है । जैसा कहा है—मिच्छादिद्विगुणद्वाणादि सयोगिस्स चरिमतं ॥ अर्थात् मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें चारोंको, अवतनाम चतुर्थ गुणस्थानमें अवत आदि तीनोंको, सासादन नाम द्वितीय गुणस्थानमें भी अवत आदि तीनोंको, मिश्रगुणस्थानमें सम्यग्मिथ्यात्व, तथा अवतादि तीनोंको, देश-वेरतसे ले दसवें सूक्ष्म सांपराय गुणस्थानतक कषाय और योग दोको तथा ११ वें उपज्ञातमोहसे १३ वें सम्योगिकबलीतक मात्र योग हीको बंधका कारण कहा गया है ॥ अत्यन्त निकट भव्य जीवने पूर्व अवस्थामें नेरंजन स्वरूप अपने परमात्म तत्वके श्रद्धानको न पाकर मिथ्यात्व आदि बंधके कारण भावोंको अनादि कालसे भाया है अर्थात् निजस्वरूपके ज्ञानसे रहित बहिरात्मा मिथ्यादृष्टी जीवने परम नैष्कर्म्य चारित्रि अर्थात् निश्चल स्वरूपमें स्थितिरूप स्वरूपाचरणको न पाकर सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूपा मोक्षके कारण भावोंकी भावना नहीं की है । मिथ्यादर्शनसे विपरित होकर सम्यग्दृष्टी अत्यन्त निकट भव्यजीव गुणसमूहसे पूर्ण वह सम्यग्ज्ञानकी ही भावना करता है । सो कैसे करता है इसकेलिये श्री गुणभद्रस्वामीने कहा है कि इस संसारके चक्रमें मैं उन भावनाओंकी भावना करता हूँ जिनको मैंने पहले नहीं भाया है । जो इन भावनाओंको भाते हैं उनकेलिये ये भावनाएं संसारको अभाव करने-वाली हैं ॥ टीकाकार कहते हैंः—इस संसाररूपी समुद्रमें डूबे हुए जीवने जो कोई भी निर्गुसि अर्थात् मोक्षका कारण भाव है उसको कभी भी नहीं भाया है यह बड़े कष्टकी बात है चाहे इसने भवभवमें उस तत्वको

वचन मात्र सुना र कहा है यह मोक्षका कारणरूप भाव सर्वदा एक आत्मज्ञान ही है ॥

आगे कहते हैं कि परम मुमुक्षु जीसको सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रिक संशया स्वीकार करने और मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्रिके विरुद्ध त्याग करनेहीमें निश्चय प्रतिक्रमणका लाभ होता है:-

**मिच्छादंसणणाण, चरित्तं चद्वऊण णिरवसेसेण ।**

**सम्मत्तणाणचरणं, जो भावइ सां पडिक्रमणं ॥ ११ ॥**

सामान्याद्यं—जो कोई मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्रिको सर्वथा त्याग कर सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रिकी भावना करता है वही प्रतिक्रमणरूप होता है ।

विशेषार्थ—भगवान् अर्हत्परमेश्वर कथित जो धर्मका मार्ग उससे उल्टे मार्गाभासका श्रद्धान करना सो मिथ्यादर्शन है । उसी ही धर्मकी वस्तुओंमें अर्थात् पदार्थोंमें सत पदार्थोंकी बुद्धि करना सो मिथ्याज्ञान है, उसही मार्गाभासमें धर्मका आचरण करना सो मिथ्या चारित्र है । इन तीनोंको विरुद्ध त्याग देवे अथवा अपने आत्मतत्त्वका श्रद्धान ज्ञान और आचरणरूप जो निश्चय रत्नत्रय उसके विरोधी जो मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्र इनको भी त्याग कर देवे । तीनों कालोंमें आवरण रहित नित्य आनंदमई एकरूप है लक्षण जिसका ऐसा निरंजन निज

१११ बुद्धिमान् या नाशका उपन उत्तम लक्षण है जो बुद्धिमान् की भावना करते हैं वे परमतपोधन मुनि ही निश्चय प्रतिक्रमणस्वरूप होते हैं ऐसा आगममें कथन है ॥ टीकाकार कहते हैं:-जो बुद्धिमान् मुनि आत्मीक तत्त्वके ज्ञाता है वे सर्व विभावोंको तथा व्यवहार रत्नत्रयके

मार्गको त्यागकर शुद्धात्मतत्त्वमें स्थिर अपने एक ज्ञान स्वरूपहीका भ्रन्दान ज्ञान और आचरण करते हैं ।

आगे निश्चय उत्तमार्थ प्रतिक्रमणका स्वरूप कहते हैं:—

उत्तमअहं आदा, तस्मि विदा हणदि मुणिवरा कम्मं ।

तद्भादु ज्ञाणमेव हि, उत्तमअहस्स पडिकमणं ॥ १२ ॥

सामान्यार्थ—आत्मा ही उत्तमार्थ है । उसीमें स्थित रहकर मुनि महाराज कर्मोंको नाश करते हैं इसलिये ध्यान ही उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है ।

विशेषार्थ—जिनेश्वरका यह मार्ग है कि मुनियोंको सहेसना अर्थात् समाधि मरणके समय ४२ वियालीस आचार्योंसे दिया हुआ जो उत्तमार्थ प्रतिक्रमण तिसरूप होकरके देहका त्याग करना सो व्यवहार करके सहेसना धर्म है । निश्चयकरके सहेसनाको कहते हैं कि, नव पदार्थोंमें उत्तम पदार्थ निश्चयकरके आत्मा ही है इस आत्माके सच्चिदानन्दमई कारण समयसार स्वरूपमें जो तपोधन तिष्ठते हैं वे निश्चय सहेसनाके धारि हैं वे मुनि नित्य मरणसे भयभीत होते हैं इसलिये जीवको जन्म मरण न प्राप्त हो ऐसा विश्वास कर वे मुनि कर्मोंका नाश करते हैं । इसकारण अल्पात्मिक भाषाकी अपेक्षा जो निश्चय परम शुद्धध्यान ध्यानध्येय विकल्पसे रहित सर्वथा प्रकार आत्माके सन्मुखरूप सम्पूर्ण इन्द्रियोंके अगोचर है वही ध्यान उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है ऐसा जानना चाहिये । प्रयोजन यह है कि निश्चय उत्तमार्थ प्रतिक्रमण अपने आत्माहीके आश्रय है । सो निश्चय धर्मध्यान तथा निश्चय शुद्धध्यानमई है । इसलिये अमृतका कुंभ है अर्थात् अमृत रससे भरा सुन्दर कलश है । तथा व्यवहार उत्तमार्थ प्रतिक्रमण व्यवहार धर्मध्यानमई है इसलिये विषकुंभस्वरूप है अर्थात् जहरसे भरे कलशके समान है । ऐसाही श्री समयसारजीमें कहा है । कि प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा, शुद्धि ये आठ प्रकार विषकुंभ हैं । क्योंकि इन क्रियाओंमें कर्तापिनेकी बुद्धि

संभव है इस कारण ये सर्व कंपके कारण हैं ॥ तथा ऐसा ही श्री समग्रतर जीकी व्याख्यामें कहा है—यही उन जीवों जो निश्चय प्रतिक्रमण न कर सङ्गनेके कारण व्यवहार प्रतिक्रमणको शिमई जानकर उसे भी छोड़ देता है उसको आचार्य कहते हैं कि जिस आत्माके निर्मल भावमें प्रतिक्रमण अर्थात् व्यवहार प्रतिक्रमणको ही विग्रह है ऐसा कहा है वहाँ प्रतिक्रमणको बिड़बुड़ ही न करना अर्थात् व्यवहार निश्चय दोनोंका न करना अमृतरूप कैसे हो सकता है । आचार्य आश्चर्य करके कहते हैं कि यह जीव नीचे २ गिरता हुआ क्यों प्रमादी हो रहा है क्यों नहीं यह प्रमादको त्यागकर ऊपर ऊपर चढ़ता है । भावार्थ यह है कि जो व्यवहार प्रतिक्रमणमें प्रमादी या उसको उपदेश किया है कि व्यवहार प्रतिक्रमण तो करो परन्तु इसको करते करते निश्चय प्रतिक्रमणकी प्राप्ति करो क्योंकि निश्चय अमृतरूप है और व्यवहार विग्रह है तथापि प्रतिक्रमण न करनेकी अपेक्षा उपादेय है इसलिये ऊपर २ चढ़नेकेलिये ऐसा उपदेश है जो व्यवहार प्रतिक्रमण कर रहा है उसको तुड़ानेकेलिये नहीं ॥ टीकाकार कहते हैं:—आत्माके ध्यानके सिवाय अन्य समस्त ध्यान भयानक संसारका कारण हैं । ध्यान ध्येय आदिका विकल्परूप जो तप है सो कहने मात्र ही सुन्दर है ऐसा समझकर बुद्धिमान पुरुष स्वाभाविक परमानंदरूपी अमृतसे भरे समुद्रमें डूबे हुए स्वाभाविक एक परमात्माहीका अनुभव करते हैं ॥

आगे कहे हैं कि सर्व पदार्थोंके भीतर एक ध्यान ही उपादेय है अन्य सर्व त्याज्य हैं:—

ज्ञाणणिलीणो साहू, परिचागं कुणइ सच्चदोसाणं ।  
तम्हादु ज्ञाणमेव हि, सच्चादिचारस्स पडिक्कमणं ॥९३॥

सामान्यार्थ:—जो ध्यानमें लवलीन साधु है वह सर्व दोषोंका त्याग कर देता है इसलिये ध्यान ही सर्व अतीचारोंका प्रतिक्रमण करनेवाला है ।

**विशेषार्थः—**कोई परम जितेन्द्री योगीश्वर साधु अत्यन्त निकट भव्यजोष है सो अध्यात्मिक भाषाकी अपेक्षा अपने आत्माहीके आश्रयमें स्थिराभूत ऐसा जो निश्चय धर्मध्यान उसमें ऐसा लीन है कि भेद रहित-पनेसे ठहरा हुआ है अथवा सर्व क्रियाकांडके आहम्बरसे छूटा हुआ व व्यवहार नयके आधीन ध्यान ध्येयका भेदरूप विकल्प उनसे रहित, सम्पूर्ण इन्द्रियोंके अगोचर, परमतत्त्व जो शुद्धआत्म तत्त्व उसके विषयभेदकी कल्पनाकी अपेक्षा न करके लवलीन होनेरूप जो निश्चय शुद्धध्यान उसमें जो साधु ठहरता है वह सम्पूर्णपने अंतरंग लीन होता हुआ शुभ तथा अशुभ समस्त मोह राग द्वेषोंको त्याग कर देता है । इसलिये अपने आत्मस्वरूपके आश्रित जो निश्चय धर्मध्यान और निश्चय शुद्धध्यान ये दोही ध्यान सर्व अतीचारोंकेलिये प्रतिक्रमणरूप है । टीकाकार कहते हैं—यह शुद्धध्यानरूपी दीपक जिसके चित्तरूपी घरमें प्रकाशता है वही योगी है उसीको ही अपने आप शुद्धात्माका प्रत्यक्ष हो जाता है ॥

आगे व्यवहार प्रतिक्रमणका फल कहते हैंः—

**पडिकमणणामधेये, सुचे जह वणिणदं पडिकमणं ।**

**तह पादा जो भावइ, तस्स तदा होदि पडिकमणं॥९४॥**

**सामान्यार्थः—**प्रतिक्रमण नाम सूत्रमें जैसा प्रतिक्रमणका स्वरूप कहा है उसको वैसा ही जानकर जो उसकी भावना करता है तब ही उसके प्रतिक्रमण होता है ।

**विशेषार्थः—**सर्व आगमके ज्ञाता, सार और असारके विचार करनेमें परम चतुराई आदि गुणके धारी निर्यापक आचार्योंने प्रतिक्रमणसूत्र नाम द्रव्यभूतमें विस्तार पूर्वक जैसा प्रतिक्रमणका स्वरूप कहा है उसको वैसा ही जानकर जितेन्द्रकी नीतिरूप आज्ञाको नहीं उल्लंघन करता हुआ सुन्दर चारित्र्यकी मूर्तिस्वरूप जो मुनि सो सकल संयमकी

भावना करता है उसी महामुनिके व्यवहार प्रतिक्रमण होता है। कैसा है मुनि, बाह्य प्रपंच जालसे उदास है, पंचेन्द्रियके विषयोंके विस्तारसे रहित शरीरमात्र परिग्रहका धारी है तथा अपने परम गुरुके चरणोंके स्मरणमें आसक्तचित्त अर्थात् लवलीन है। टीकाकार कहते हैं कि निर्यापकाचार्यके द्वारा मुक्तिरूप आगमके अनुसार बच्चोंको सुनकर जिस मुनिका चित्त सर्व चारित्रिको धारण करता है उस संयमधारी मुनिको मेरा नमस्कार होहु ॥ जिस मुमुक्षु मुनिके सदा व्यवहार और निश्चय प्रतिक्रमण विद्यमान है तथा जिसके अतिशय पूर्वक रचमात्र भी अप्रतिक्रमण नहीं है ऐसे सर्व संयमरूपी आभूषणके धारी श्री घीरनांदि नाम मुनिको मैं नित्य नमस्कार करता हूँ ॥

इस प्रकार मुक्तिरूपी कमलोंकेलिये सूर्यके समान पंचेन्द्रिय विषयके विस्तार सहित शरीरमात्र परिग्रहके धारी श्रीपद्मप्रभुमलधारी देवसे रचित श्री नियमसार व्याख्याकी तात्पर्य वृत्ति नाम टीकामें निश्चय प्रतिक्रमण नामका पंचम श्रुतस्कंध पूर्ण भया ॥

## निश्चयप्रत्याख्यानधिकार ।

आगे सकल त्यागरूपी जो मुनि दीक्षामई शोभनीक पताका उसके लिये भारी दहके समान तथा सर्व कर्मकी निर्जराका कारण, मोक्ष महलकी सीढ़ीरूप मुक्तिरूपी सीके मुराको प्रथम दिसलानेवाली ऐसी जो सखी उस समान इत्यादि विशेषणों सहित जो निश्चय प्रत्याख्यान उसके अधिकारको कहते हैं ।

प्रथम ही निष्काम प्रथम प्राप्तावस्थामें । प्रथम कहेंगे हैं—

**प्राप्तुं सफलजन्म,—मणागदमुदममुहयारणं किया ।**

**अप्याणं जी प्रापदि, एवमखारणं हवे तमम् ॥ १५ ॥**

व्याख्यानार्थ— जो सब वचन जालकी त्यागकर आगामी सब दुःख अल्प भावोंका व कर्मोंका दूर करके आत्माहीका ध्यान करता है उसीके ही निष्काम प्रत्यास्थान होता है ।

(विद्वत्प्राप्त्यर्थ) — व्यवस्था मयसे भुविगण प्रति दिन भोजन करके अपनी शक्ति के अनुसार आगामीकालिये योग्य काल पर्यंत वह अन्न, पात्र, वस्त्र और लेख ऐसे प्राप्त प्रकार भोजनकी रीतिका त्याग करते हैं । यहाँ टीकाकारने ४ प्रकार आहारके ये नाम दिये हैं अन्य ग्रन्थमें वस्त्र, भाष्य, लेख और ऐसे हैं जो विशेष नहीं हैं । इस त्यागकी व्यवस्था प्रत्यास्थान करते हैं । निष्कामनयकरके सब वचनकी रचनाका जो जो जाल उसकी त्याग करके जो दुःख जानकी व्यवस्था और सेवा है उसकी कृपासे नवीन दुःख तथा अल्प द्रव्यकर्म, शान्तिराणादि और भावकर्म राम हृषादि इनका जो संवर करना अर्थात् रोकना जो प्रत्यास्थान है । जो कोई मनुष्य अपने आत्माके नीतर परिणामको करके परम कलाक धारक अपूर्व आत्माका ध्यान करता है उसीके निष्काम प्रत्यास्थान होता है । ऐसा ही श्री सम्यक्सारजीमें कहा है कि अन्न मित्राद्य जा सब ही पदार्थ हैं वे पर (अन्य) हैं ऐसा जानकर जो प्रत्यास्थान करे अर्थात् त्यागते है, इस कारणसे ऐसा जो प्रत्यास्थान का सब हो ही निष्काम प्रत्यास्थान है । तथा श्रीसम्यक्सारजीकी वदस्तमें कहा है कि आगामी समस्त कर्मोंको त्यागकर तथा मोहको निरास करके वे निष्काम ही चैतन्य स्वरूप और निष्कर्म ऐसे आत्म स्वरूपके स्वरूप अन्तःस्वरूपके द्वारा वर्तन करता हैं । टीकाकार करते हैं—कर्मस्वरूपकी इन् स्वरूप ऐसा सम्यगदृष्टी जीव सम्पूर्ण द्रव्य करने, सब करने, सब करने

न्धी परिणामोंको त्याग देता है इसलिये उसीके नित्य प्रत्याख्यान होता है तथा उसीके ही अतिशयकरके कर्मोंको हरनेवाला सम्यक् चारित्र होता है । इसलिये मैं अपने भव भवके क्लेशोंको नाश करने-केलिये नित्य उस भव्यात्माको वन्दना करता हूँ ॥

आगे अनंत चतुष्टयमई अपने ही आत्माके ध्यान करनेका उपदेश संक्षेपमें कहे हैं:—

**केवलणाणसहावो, केवलदंसणसहाव सुहमईओ ।**

**केवलसत्तिसहावो, सोऽहं इदि चिंतए णाणी ॥ १६ ॥**

सामान्यार्थ—जो कोई केवल ज्ञान स्वभाव है, केवल दर्शन स्वभाव है, परम सुखमई है तथा केवलशक्ति स्वभाव है वहां मैं हूँ ऐसा ज्ञानीको विचार करना चाहिये ॥

विशेषार्थ:—यहां आचार्य उस परम तत्त्वज्ञानी जीवको शिक्षा प्रदान करते हैं जो समस्त बाह्य प्रपंचकी वासनासे रहित सर्वथा प्रकार अपने अंतरंगमें लवलीन है । आदि अंत रहित अमूर्तीक अर्तान्द्रिय स्वभाव-रूप ऐसे शुद्ध सद्भूत व्यवहारनयकरके शुद्ध स्पर्श रस गंध वणोष्ण धारी शुद्धपुद्गल परमाणुके समान केवल ज्ञान केवल दर्शन केवल सुख और केवल शक्ति सहित जो परमात्मा है सो ही मैं हूँ ऐसी भावना अपने सम्यग्ज्ञानके द्वाग करनी योग्य है ॥ अर्थात् निश्चयसे मैं सहज ज्ञान स्वरूप हूँ, सहज दर्शन स्वरूप हूँ, मैं सहज चारित्र स्वरूप हूँ मैं सहज चैतन्य शक्ति स्वरूप हूँ इस प्रकार भावना करनी चाहिये ॥ ऐसा ही श्री एकस्य सत्ततिमें कहा है कि वह परमज्योति केवल ज्ञान दर्शन मुक्तस्वभावमई है । उस ज्योतिके देखते हुए ज्ञानसे क्या नहीं जाना गया, हृदिते क्या नहीं देखा गया, श्रुतिसे क्या नहीं सुना गया । अर्थात् वह ज्योति आत्माकी स्वयं ज्ञानदि स्वरूप है उसके जानते हुए सब ज्ञान दिख जाता है ॥ टीकाकार कहते हैं वह परमात्मा जयन्त हांबु त्रिषभे



मूर्ति केवल ज्ञानरूप है जो संपूर्णरूपसे निर्मल दर्शनको धारनेवाला है जो अविनाशी आनंदरूप है तथा जो स्वाभाविक परम चैतन्य शक्तिस्वरूप है, अविनाशी है और मुनीश्वरोंके चित्तरूपी कमल सरोवरके लिये राजहंस है ।

आगे परमभावनाके सन्मुख जो ज्ञानी उसको फिर शिक्षा कहते हैं:-  
**णियभावं णवि मुंचइ, परमावं णेव गेण्हए केइ ।**

**जाणादि पस्सदि सब्बं, सोऽहं इदि चिंतये णाणी॥९७॥**

**सामान्यार्थ—**जो अपने भावको कभी नहीं छोड़ता है, तथा किसी भी परभावको कभी ग्रहण नहीं करता है परन्तु सर्वको जानता है और देखता है सोही मैं हूँ ऐसा ज्ञानी चिंतवन करे ॥

**विशेषार्थ—**जो कोई कारणपरमात्मा सम्पूर्ण पापरूपी वीर बैरियोंकी सेनाकी धुजाको टूटनेवाला है तथा तीन कालमें आवरणरहित, निर्जन, अपने आत्माके परमभावको कहीं भी कभी नहीं छोड़ता है तथा पंच परावर्तनरूप संसारको घटानेवाले विभावर्मई पुद्गल द्रव्यके संयोगसे उत्पन्न जो राग द्वेषादि भाव उनको कभी भी ग्रहण नहीं करता है तथा जो निश्चयकरके कारण परमात्माको जानता है ।  
 कैसा है कारण परमात्मा, जो अपने निरावरण निर्मल परम ज्ञानके द्वारा सहजज्ञान सहजदर्शन सहज चारित्र आदि स्वाभाविक धर्मोंका आधार आधेय भावरूपी जो विकल्प उससे रहित होने पर भी सदा मुक्त रूप है तथा जो परमात्मा स्वाभाविक मोक्ष वधूके संयोगसे उत्पन्न जो प्रेम उसमें लीन है । इसीप्रकार निश्चयकरके उस कारण परमात्माको जो कोई अपनी स्वाभाविक दृष्टिसे देखता है वही कारण सधयसाररूप मैं हूँ मुझमें और कारण परमात्मामें कोई अन्तर नहीं है इस प्रकार सम्पन्नज्ञानियोंको नित्य भावना करनी चाहिये । ऐसा ही श्रीपूज्यपादस्वामीने कहा है कि जो कोई नहीं ग्रहणे योग्य वस्तुको ग्रहण नहीं करता है, तथा जो

ग्रहण किये हुए हैं उसको कभी नहीं छोड़ता है। परन्तु सर्व पदार्थों से सर्व प्रकार से जानता है वही स्वसंवेद्यरूप मैं हूँ अर्थात् अपने ही द्वारा अपना अनुभव करनेको मैं समर्थ हूँ। टीकाकार कहते हैं—आत्मा अपने आत्मामें अपने आत्मीक गुणोंसे भरपूर आत्माको जानता और देखता है वही एक उसका परिणामिक पंचम भाव है। इस आत्माने अपने सहज स्वभावको कभी नहीं छोड़ा और न यह आत्मा अन्य किसी परभावको ग्रहण करता है और न किसी पुद्गलसम्बन्धी विकार भावको धारण करता है ॥ तथा चैतन्य मात्र चिन्तामणि जो मेरा स्वरूप उसमें मेरा अंतःकरण रात्रिदिन लीन है। मेरे मनने परद्रव्यको ग्रहण करनेसे जो विग्रह (विकार) पैदा होता है उसको त्याग दिया है। मुझे विशुद्ध पूर्ण स्वाभाविक ज्ञान स्वरूप सुखकी ही प्राप्ति का प्रयोजन है। मुझे अन्य पदार्थोंके भोगनेकी आवश्यकता नहीं है। चार प्रकारके देवोंकी तृप्ति जब उनके कंठमें झरनेवाले अमृतसे ही हो जाती है तब अन्य द्रव्यरूप आहार करनेकी उन्हें कोई जरूरत नहीं है। इसका कोई आश्चर्य नहीं मानना चाहिये। तथा जो कोई पुण्यात्मा जीव इस पुण्यमई कर्म तथा भावको भी त्याग कर निर्द्वन्द्व, उपद्रव रहित, उपमारहित, नित्य, अपने आत्मासे ही उत्पन्न तथा जिसकी उत्पत्तिमें अन्य किसी द्रव्य व विभावकी गम्य नहीं है ऐसा जो आनन्द अमृतमई निर्मल जल उसको पीता है वही प्रगटपने उसीसमय अद्वितीय, अतुल चैतन्यमात्र चिन्तामणि रत्नको प्राप्त करता है ॥ कौन ऐसा विद्वान् है जो कहेगा ॥ ६ ॥ पर द्रव्य मेरा ही है ?। कैसा है विद्वान्, जो अपने आत्माकी महिमाको जानता है कैसी है महिमा, जो श्री गुरुके चरणोंकी भक्ति और सेवासे प्रगट हुई है ॥ अर्थात् ज्ञाता कभी परको अपना नहीं कह सकता।

आगे भव्य जीवको शिक्षा करते हैं कि बंध रहित आत्माकी ही भावना करनी चाहिये:-

पपटिद्विदिअणुभाग,—पदेसबधेहिं पज्जिदो अण्णा ।

सोहं इदि चिंतिज्जो, तत्थेय य कुणवि धिरमायं ॥९८॥

सामान्यार्थ —यह आत्मा निधयसे प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेस बंध ऐसे चार प्रकार बंधोंसे रहित है जो ऐसा है वही मैं हूँ इस तरह चिन्तन करता हुआ जानी उसीमें ही अपने स्थिर भावको करता है ।

विशेषार्थ —शुभ तथा अशुभ मन, वचन और कायकी क्रिया-ओंसे प्रकृति और प्रदेस बंध होते हैं । चारों बांधादिक्रियाओंसे स्थिति और अनुभाग बंध होते हैं । इन चारों ही प्रकारके बंधोंसे रहित सदा उपाधि रहित स्वरूप ही निधयकरके यह आत्मा है सोही मैं हूँ मध्यज्ञानीको निरंतर ऐसी ही भावना करनी चाहिये ॥ टीकाकार कहते हैं कि मोक्षके इच्छुक पुण्य सहज परमानंदरूप चैतन्यमई उपमा-रहित मुनिगण्यके मुलभूत ऐसे एक अपने स्वभावको ही ग्रहण करते हैं, इसलिये हे मित्र मेरे वचनोंका सार सुनकर तू अतिशयकरके स्वयं इस अपने चैतन्यके समत्काममात्र स्वभावमें शीघ्र अपनी बुद्धि कर ।

आगे समस्त विभाव भावोंको त्याग करनेकी विधि कहते हैं:—

ममात्तिं परिवज्जामि, णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो ।

आलंबण च मे आदा, अवसेसं च वोसरे ॥ ९९ ॥

सामान्यार्थ —मैं ममताभावको त्यागता हूँ तथा आत्माके निर्म-मत्व भावमें ही ठहरता हूँ । निधयकरके मुझको आत्माका ही आलम्बन है । शेष सर्वको मैं त्यागता हूँ ॥

विशेषार्थ.—मुन्दर श्री मुवर्ण आदि समस्त परद्रव्योंके गुण और पर्यायोंमेंसे मैं अपने ममता भावको हटाता हूँ, परमोपेक्षा लक्षणसे चि-न्हित जो मेरे आत्माका ममत्व रहित परिणाम उसीमें ही ठहरकर तथा अपने आत्माका ही आलम्बन लेकर सांसारिक सभोगोंसे उत्पन्न जो

सुखसुख भादि भनैह विभाव रतिगान उनको त्यागता हूँ। ऐसों में  
 भी अभूतचरित्र सूरसिने कहा है—कि मैं पापपुत्र्य काष्ठोको हठकर  
 निश्चयमे निष्कर्मरूप आत्मामें आचरण करने हुए मुनिगम अशुद्ध  
 रूप नहीं हो जाते हैं अर्थात् सहाय रहित नहीं होते उस समय अपने  
 ज्ञानस्वरूप आत्मामें अपने आत्मज्ञानका आचरना यही उनकी श्रुतकर  
 है। वे मुनि स्वयं ही अपने आत्मीक तत्त्वमें लीन रहकर पाप अशुद्ध  
 अनुभव करते हैं। ऐसा ही टीकाकार कहते हैं—मैं नियममें सम्पूर्ण  
 मन वचन काय और इन्द्रियोंकी इच्छाको, तथा संसार समुद्रसे उत्पन्न मोह-  
 रूप जलजंतुओंके समूहोंको तथा सुवर्ण और हीरेकी बाँटाको इत्यादि  
 सर्वको अपनी अत्यन्त तीव्र विशुद्ध ध्यानमई सब्बे शक्तिसे त्याग देता  
 हूँ ॥ भावार्थ—आत्मध्यानमें लीन होते ही सर्व विभावभावोंका प्रत्य हो  
 जाता है ॥

आगे कहते हैं कि सब स्थानोंमें एक आत्मा ही उपादेय है—

आदा खु मज्झ जाणे, आदा मे दंसणे चरिते य ।

आदा पच्चक्खाणे, आदा मे संवरे जोगे ॥ १०० ॥

सामान्यार्थ—निश्चयकरके मेरे ज्ञानमें आत्मा है। मेरे दर्शनमें  
 आत्मा है, मेरे चारित्र्यमें आत्मा है, प्रत्याख्यान अर्थात् त्यागमें आत्मा  
 है तथा मेरे संवर और उपयोगमें आत्मा है।

विशेषार्थ—यह आत्मा निश्चयकरके आदि अंत रहित अमूर्तीक  
 अतीन्द्रिय स्वभावरूप शुद्ध स्वाभाविक सुखमई है। यही आत्मा स्वभा-  
 वसे शुद्ध ऐसी जो शुद्ध ज्ञान चेतना उसमें परिणमन करनेवाला जो मैं  
 सो मेरे सम्पूर्णज्ञानमें शोभायमान है। यही आत्मा परम पूजनीक पंचम  
 गति जो मोक्ष उसके लाभ करनेका जो साधनरूप पांचमां पारिणा-  
 मिक भाव उसकी भावनामें रमण करनेवाला जो मैं सो मेरे स्वाभाविक

सम्यग्दर्शनमें भी प्रकाशमान है। साक्षात् निर्वाण प्राप्ति करनेका उपाय जो निज आत्मस्वरूपमें अविचल होकर स्थिति होना है उसरूप जो स्वाभाविक परम चारित्र्य है उसमें पणिमन करनेवाला जो मैं सो मेरे सहज चारित्र्यमें भी वही आत्मा है। वह परमात्मा जो सदा निकट ही है जो सदा अपने पास ही विराजमान है वही आत्मा निश्चय प्रत्याख्यानमें भी है। कंसा है निश्चय प्रत्याख्यान, जहाँ शुभ अशुभ, पुण्य पाप, सुख दुःख इन उर्होंका सम्पूर्णपने त्याग है ॥ मैं भेद विज्ञानमें लीन हूँ, परद्रव्योंसे पराहमुख हूँ, पंचेन्द्रियोंका जो फेलाव उससे रहित शरीरमात्र परिग्रहका धारी हूँ, मैं स्वाभाविक वैराग्यरूपी महलके शिखरका शिखरामणि हूँ, स्वरूपमें गुप्त हूँ, पापरूपी बनीके जलानेकेलिये अग्नि समान हूँ, मेरे शुभ तथा अशुभके संवरकी अवस्थामें वही आत्मा है, मैं अशुभोपयोगसे पराहमुख हूँ, मैं शुभोपयोगसे भी उदासीनतारूप हूँ साक्षात् शुद्धोपयोगके सन्मुख हूँ। परमागमकी मकरंद (सुगंध) उसमें लीन ऐसा मैं जो पद्मप्रभ सो मेरे शुद्धोपयोगमें भी वही परमात्मा अपने सनातन सदाके प्रार्थन स्वभावरूपसे विराजमान है ॥ ऐसा ही एकस्व सन्नतिमें कहा है—वह आत्मा ही एक परम ज्ञान है वही एक पवित्र सम्यक् दर्शन है वही एक सम्यक् चारित्र्यरूप होता है वही एक निर्मल तप है ॥ वही एक नमस्कार करने योग्य है। वही एक मंगल (सुखदाता) है, वही एक सर्वमें उत्तम पदार्थ है, सन्त साधु जनोंकेलिये वह आत्मा ही एक शरणरूप है वह आत्मा ही एक आचाररूप है, वही आवश्यक कियारूप है, स्वाध्यायरूप भी वही एक आत्मा है ऐसे ही आत्मस्वरूपमें योगीजन स्थिति करते हैं ॥ ऐसा ही टीकाकार कहते हैं। मेरे स्वाभाविक सम्यग्दर्शनमें, मेरे शुद्ध सम्यग्ज्ञान और चारित्र्यमें तथा मेरे शुभ अशुभ कर्मोंके त्यागके अवसरमें वही परमात्मा है। वही शुद्ध आत्मा मेरी सवर अवस्था तथा मेरे शुद्ध उपयोगमें है। इस जगतमें मोक्ष प्राप्तिकेलिये अन्य कोई पदार्थ ऐसा नहीं है ॥ वही आत्मा कहीं तो

निर्मलरूपमें शांति है। वहीं शुद्धाशुद्ध मिश्र मायारूप दीसता है, वहाँ विलक्षण अशुद्ध ही नमता है, अजानीकेलिङ्ग यही आत्मा परमेश्वर के कठिनतामें प्रतियोग्य है। यही आत्मा निज आत्मीक जानकारी दीन कैसे पातोंको नाश करनेवाला है, यही शायकस्वर है। यही आत्मा इदंस्वामी कमलके महलमें निश्चलरूपमें विराजमान है।

आगे कहे हैं कि संसार अस्थायी अथवा मुक्त अवस्थानें यह शीघ्र सहाय रहित है —

**एगो य मरदि जीवो, एगो य जीवदि सयं ।**

**एगस्स जादि मरणं, एगो सिज्झादि नीरयां ॥१०१॥**

सामान्यार्थः—यह जीव अकेला ही मागजाता है—स्वयं अकेला ही जन्मता है, एकलाली मरता है तथा एकलाली कमोसे छूटकर सिद्ध होता है।

विशेषार्थः—नित्य मरणावस्थामें अर्थात् नित्य आयुनिपेक्षोंके क्षयरूप मरणमें तथा उस पर्यायके छूटनेरूप मरणमें किसी अन्यकी सहाय विना व्यवहारकरके एकला ही जीव मारा जाता है अर्थात् व्यवहार श्वासेच्छासादि प्राणीसे रहित होता है—आदि और अंतसहित, मूर्तीक तथा आत्माकी जगतिसे विलक्षण ऐसी जो विभाव व्यंजनपर्यायरूप मनुष्यदेहकी व नरकादि देहकी प्राप्तिमें अति निकट अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयकरके स्वयं यह जीव अकेला ही जन्मता है। सर्व बंधुओंसे रक्षा किये जाने पर भी तथा महापराक्रम धारी होने परभी विना इच्छा व याचनाके स्वयं ही अकेले एक जीवका मरण हो जाता है। तथा परमगुरुके प्रसादसे जिसको अपने ही आत्माके आश्रयमें रहनेवाला निश्चय शुद्धध्यान प्राप्त हो जाता है वह जीव उसके बलसे अपने आत्मस्वरूपको व्यापकर कर्मरूपी रजसे छूटकर शीघ्र ही स्वयं अकेला निर्वाणको प्राप्त हो जाता है। ऐसा ही अन्य ग्रंथमें कहा है कि यह आत्मा स्वयं ही कमोको करता है, स्वयं ही उन कमोके फलको भोगता है। स्वयं ही संसारमें

धूमता है तथा स्वयं ही संसारसे मुक्त होता है । ऐसा ही धी सोमदेव पंडितदेवने कहा है—यह जीव अकेला ही जन्म और मरणमें प्रवेश करता है तथा अकेला ही अपने किये कर्मोंके फलको भोगता है दूसरा कोई भी सुख दुखकी विधिमें सहाय नहीं करता । अपनी आजीवकाके-लिये ही नटको अपनी पेटा मिला है । भावार्थ—नट स्वयं खेल करता है और स्वयं उसके फलको भोगता है । ऐसा ही टीकाकार कहते हैं—यह जीव अकेला ही प्रबल कर्मके उदयसे जन्म और मरणको प्राप्त होता है तथा अकेला ही तीव्र मोहके उदयसे, सदा आत्मीक सुखसे विमुक्त होता हुआ शुभ अशुभ कर्मके फलरूप सुन्दर सुख तथा दुखको बार-बार भोगता है । तथापि किसी भी उपायसे किसी गुरुके निमित्तसे अपने एक आत्मीक तत्वको पायकर यह जीव स्वयं उमीमें ही ठहरता है ॥

आगे एकत्वभावनामें लीन सम्यग्ज्ञानीका लक्षण कहते हैं:—

एको मे सासदो अप्पा, णाणदंसणलक्खणो ।

सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥ १०२ ॥

सामान्यअर्थ:—निश्चयकरके मेरा आत्मा एक अविनाशी है, ज्ञान दर्शन लक्षणका धारी है । मेरे आत्मीक भावके सिवाय अन्य सर्व भाव मुझसे बाहर हैं तथा सर्व ही भाव संयोगलक्षण हैं अर्थात् पर द्रव्यके संयोगसे उत्पन्न हुए हैं ॥

विशेषार्थ —यह आत्मा द्रव्य कर्म और भाव कर्मोंके अभावसे एक अकेला है । कैसे हैं ये कर्म, जो समस्त संसाररूपी नंदनवनके वृक्षोंकी क्यारीमें जल भरनेकेलिये प्रणालिका (मोरी) उसके समान हैं तथा इस संसारिक कटेवर जो नोकर्म उसके कारणभूत हैं । अर्थात् इन्हीं कर्मोंके निमित्तसे नये कर्मोंका आश्रय और बंध होता है । यही आत्मा सर्व क्रियाकांडका आदेवर और उसकेलिये नानाप्रकारके कोडाहल उनसे

दूरवर्ती ऐसी जो ज्ञान चेतना उसमें अतीन्द्रिय सुख उसके भोगनेवाला है तथा अविनाशी है। यही मेरेलिये उपादेय है। यही तीनों कालोंमें उपाधि रहित स्वभावको धारणवाला है और आवरण रहित निर्मलज्ञान और दर्शन लक्षणसे पहचानने योग्य कारण परमात्मा है। तथा शुभ तथा अशुभ कर्मोंके संयोगसे उत्पन्न भए मेरे आत्माके निज स्वरूपसे भिन्न समस्त बाह्य और अभ्यंतर परिग्रह हैं ऐसा मेरा निश्चय है। भावार्थ ॥ मैं शुद्ध आत्मा ही हूँ। मुझसे भिन्न सर्व पद हैं।

टीकाकार—कहते हैं कि मेरा परम आत्म स्वभाव अविनाशी है यही एक स्वभाविक परम चेतन्य चिन्तामणिरूप है निश्चय शुद्ध है मर्यादा-विना अपने दिव्य ज्ञान दर्शनकरके पूर्ण है अन्य बहुत विकल्पोंसे तथा बाह्य पदार्थोंसे मुझको किस कलकी प्राप्ति होगी? अर्थात् अन्य भावोंसे मुझे कोई उपादेय फल नहीं प्राप्त होगा।

आगे आत्मामेंसे दोषोंको छुटानेका उपाय कहते हैं—

जं किञ्चि मे दुश्चरित्तं, सत्त्वं तिविहेण वोसरे।

सामादयं तु तिविहं, करोमि सत्त्वं णिरायारं ॥१०३॥

सामान्यार्थः—जो कुछ मेरा दुष्टरूप चारित्र है उस सर्वको मैं मनवचन कायसे त्यागता हूँ। तथा तीन प्रकारसे सर्व तरहसे निराकार जो सामयिक सो करता हूँ ॥

विशेषार्थः—यद्यपि मैं भेद विज्ञानी हूँ परम तपोधन (तपस्वी) हूँ तथापि पूर्व संचित कर्मोंके उदयके बलसे चारित्र मोहके उदय होते जो कुछ भी दोषरूप आचरण मुझसे बन गया होय उस सर्वको मन वचन कायकी शुद्धिकरके त्यागता हूँ। सामयिक शब्दसे चारित्र ग्रहण करना। सो मैं सामयिक, छेदोपस्थापना और परिहार विशुद्धि ऐसे तीन प्रकार चारित्रको करता हूँ अथवा जपन्यरूपसे वर्तता जो रत्नत्रय



उसको उत्कृष्टरूप करता हूँ । नवपदार्थ छः द्रव्यके श्रद्धान ज्ञान और आचरण स्वरूप जो रत्नत्रय सो साकार हैं विकल्प सहित हैं । उस सविकल्प रत्नत्रयको मैं आत्मस्वरूपके श्रद्धान ज्ञान और आचरण स्वरूप जो स्वभाव रत्नत्रय उसमें जो निराकार अर्थात् निर्विकल्प और शुद्ध अवस्था उसरूप करता हूँ । अर्थात् व्यवहार रत्नत्रयके द्वारा निधय रत्नत्रयको प्राप्त करता हूँ अथवा भेदोपचाररूप चारित्रको अभेदोपचाररूप करता हूँ । और अभेद उपचाररूप चारित्रको अभेद अनुपचाररूप करता हूँ । भावार्थ—भेदोपचाररूप चारित्र व्यवहार महाव्रतादि पालन है, अभेदोपचाररूप चारित्र शुद्धात्माकी भावना स्वरूप है, और अभेद अनुपचाररूप चारित्र स्वभावमें निधल अवस्थारूप स्थितिमें है ॥ इस प्रकार क्रमसे तीन प्रकार सामायिकको स्वीकार करनेसे त्रिगुणकार चारित्र प्राप्त होता है । कैसा है निराकार चारित्र, जहाँ स्वाभाविक परमतत्त्वमें अविचल स्थिति है तथा वहीं स्वाभाविक निधय चारित्र है क्योंकि वहीं निराकार तत्त्व जो आत्मीक तत्त्व उसीमें तल्लीनपना है ॥ ऐसा ही श्री प्रवचनसारङ्गीकी व्याख्यामें कहा है कि द्रव्यको अनुसरन करनेवाला चारित्र होता है । अर्थात् आत्मद्रव्यको सिद्ध करनेवाला चारित्र होता है तथा चारित्रके अनुसार प्राप्त होनेवाला आत्मद्रव्य होता है । अपेक्षासे दोनोंका ही यहाँ उदय है । जहाँ आत्मद्रव्य है वहीं चारित्र है इसलिये चाहे द्रव्यकी प्रतीतिकरके चाहे आचरणकी प्रतीतिकरके मोक्षका चाहनेवाला मोक्षमार्गमें आरोहण करता है अर्थात् मोक्षके उपायमें उन्नति करता है ॥ टीकाकार कहते हैं—जो मुनि यती आत्माकं चैतन्यपनेकी भावनामें आसक्त बुद्धि है वे यती संसारमें गिरानेके स्वभावको धारनेवाला जो यम ( काल ) उसको नाश करनेके कारण होते हैं अर्थात् भयमें भ्रमणका कारण जो कर्म उसको दग्ध कर देते हैं ।

आगे कहते हैं जो अंतरंगमें लीन होकर मुनिगज आचरण करते हैं  
उन्हींके भावोंकी शुद्धता होती है:—

सम्मं मे सच्चभूदेसु, वेरं मज्झं ण केणवि ।

आसाए वोत्तरित्ता णं, समाहि पडिवच्चए ॥१०४॥

सामान्यार्थः—सर्व प्राणियोंसे मेरे समता भाव है तथा किसी  
भी साथ मेरा वैरभाव नहीं है । निम्न्यकरके आशाको त्याग करके  
समाधि भावको प्राप्त होता हूँ ॥

विशेषार्थः—समस्त इन्द्रियोंके व्यापारसे तृप्ताहुआ ऐसा जो मैं  
सो मेरे भेद विज्ञान ज्ञानी असानी सर्व ही प्राणियोंमें समता भाव है ।  
निम्न्यनेकी अथवा द्वेषनेकी परिणतिके अभाव होनेसे मेरा किसी भी  
मनुष्यके साथ वैर भाव नहीं है, तथा स्वाभाविक वैराग्यमें परिष्कृत  
करनेवाला ऐसा जो मैं सो मेरे एक भी आशा नहीं विद्यमान है, इसलिये  
परम समता रसमें डूबा हुआ जो भाव उस भावकी स्वामिनी जो परम  
समाधि ( उत्कृष्ट समता ) उसके भावको ही मैं प्राप्त होता हूँ ॥ ऐसा ही  
श्रीयोगिदि देवने कहा है:—“मुक्त्वा तत्तत्त्वनाधिस्त्वत्तोपपन्नः स्मृत्वा  
परां च समतां कुलदेवतां त्वं । संज्ञानचक्रमिदमेव गृह्णान् तूर्णमज्ञानमविपुन-  
मोहरिपुन्यमर्ह ” ॥ भावार्थ—हे संज्ञाती जीव तू उनमें वसता हुआ  
आत्मिकको त्यागकर और अपनी कुलदेवी जो उत्कृष्ट समता उसका  
स्मरण करके शोध ही सम्यग्ज्ञानरूपी चक्रको गृहण कर और अज्ञानमयी  
करके सहित मोहरूपी शत्रुका मर्दनकर । टोकाकर करते हैं कि मैं  
इस समताकी अतिशयकरके भावना करता हूँ । किसी हे समता, जो  
मुक्तिरूपी तममें अमरके समान उज्ज्वल है । अनुनंभर जो मोक्ष उसके  
सुसर्गकी जड़ है । सोयी भावनाके अंधकारमें समुद्रको नाश करनेके-

१. उत्कृष्ट टीका में इसके बदले “मुक्त्वा तत्तत्त्वनाधि” लिखा है ।

लिये चंद्रमाकी कीर्ति अर्थात् निर्मल चांदनीके समान है तथा संयमी मुनियोंको तत्काल ही सम्मत अर्थात् माननीय है । इस समताकी जय हो । जो समता नित्य योगियोंको भी दुर्लभ है तथा आत्मीक मुक्तको बढ़ानेके-लिये प्रफुल्लित पूर्ण चंद्रमाकी प्रभाके समान है । परम यमी जो महावती मुनि उनकी दीक्षारूप स्त्री उसके मनको प्यारी यह समता मर्यादेके समान है । तथा मुनिवरोंके गणकेलिये यह समता एक अतिशयमई अलंकार है, यही समता जगतके प्राणियोंकेलिये भी परम आभूषण है ।  
आगे निश्चय प्रत्याख्यानके योग्य जो जीव तिसका स्वरूप कहते हैं:-

**णिक्कसायस्स दांतस्स, सूरस्स घयसायिणो ।**

**संसारभयभीदस्स, पच्चकराणं सुहं हवे ॥ १०५ ॥**

**सामान्यार्थः—**जो कषाय रहित है, इन्द्रिय दमन करनेवाला है, योद्धा है, उद्यमी है, तथा संसारसे भयभीत है उसीके ही गुप्तमई यह प्रत्याख्यान होता है ।

**विशेषार्थः—**जो मुनि सर्व कषायरूपी कलंककी वीचसे विमुक्त ( रहित ) है, जिसने सर्व इन्द्रियोंके ध्याधारोंको विजय करलेंनेसे परम दमपना प्राप्त किया है, तथा जिसने सम्पूर्ण परीसहरूपी महान् योद्धाओंको विजयकरके अपने योद्धापनेके गुणोंको उपजाया है । और जो मुनि निश्चयरूप जो परम तपधरण उसमें लीन हो शुद्धभावका धारी है तथा जो संसारसे भयवान है उसीके ही व्यवहारनयसे चार प्रकार आत्मरक्षा त्यागरूप प्रत्याख्यान होता है । यह व्यवहार प्रत्याख्यान मिथ्या-दृष्टि पुरुषके भी कहीं किसीके चात्रि मोहके उद्भयरूप जो द्रव्यकर्म और भावकर्म उनके क्षयोपशमसे ले जाता है । अतएव जो निश्चयनयकरके प्रत्याख्यान है वही वास्तविक प्रत्याख्यान है । यह प्रत्याख्यान अत्यन्त निकट भव्य जीवोंके ही होता है । जैसे मुक्ताकी रखनेवाले पत्थरका

उपादेयपना है अर्थात् मानपना है ऐसा अंधपापाणका नहीं है क्योंकि उससे सुवर्ण प्राप्त नहीं हो सकता । इसलिये संसार शरीर और भोगोंसे जो वैराग्य है वही निश्चय प्रत्याख्यानका कारण है—आगामी कालमें जिनका होना संभव है ऐसे सर्व मोह राग द्वेषादि नानाप्रकारके विभावोंका त्यागना ही परमार्थ प्रत्याख्यान है । अथवा आगामी कालमें होनेवाले विविध जो अंतरंगमें वचनरूपी विकल्प उनका त्याग करना सो शुद्ध निश्चय प्रत्याख्यान है ॥ टीकाकार कहते हैं कि हे मुनिप्रधान ! यह प्रत्याख्यान जिनेन्द्रमतसे प्रगट भया है, यही परम मुनियोंको उत्कृष्ट निर्वाण सुखका करनेवाला है, यही स्वाभाविक समतादेवोंके सत्य कर्णोंका आभूषण कर्णफूल है तथा अतिशयकरके यही दीक्षारूपी छी उसको अत्यन्त यौवनवान करनेका कारण है । ऐसे प्रत्याख्यानकी निरंतर जय होतु ॥

आगे निश्चय प्रत्याख्यान नामा अध्याय उसको संक्षेपते हुए संक्षेपमें कहे हैं:—

एवं भेदब्रह्मसं, जो कुब्जइ जीवकम्मणो णिच्चं ।

पञ्चकरवाणं सक्कादि, धरिदे, सो संजवो णियमा ॥ १०६ ॥

सामान्यार्थः—ऊपर कहे प्रमाण जो कोई जीव और कमोके भेदके अभ्यासको नित्य करता है वही संयमी नियमकरके प्रत्याख्यानको धारण कर सकता है ॥

विशेषार्थः—जो कोई श्रीमान अर्हत भगवानके मुक्तकमलसे प्रगट जो परमेश्वर उसके अर्थको विचार करनेमें समर्थ है तथा अपने भेदाभ्यासके फलसे अशुद्ध आत्माके साथ जो कर्म पुद्गलोंका अनारि बंधनका सम्बन्ध है धुनके अर्थात् आत्मा और कर्मके भेदको कर देता है अर्थात् दोनोंको भिन्न २ अनुभव करता है वही परम संयमी निश्चय और

व्यवहार प्रत्याख्यानको स्वीकार करता है । टीकाकार कहते हैं—आगामी कालमें होनेवाला जो संसार उसके भावोंको दूर करनेवाला मुनियोंका स्वामी रात्रि दिन सम्पूर्ण सुखका निधान, निर्मल, आत्मीक स्वरूपमई जो सोहं तत्त्व उसकी भावना अपने कर्म मल छुड़ानेकेलिये करा करता है । भावार्थ—जैसे सिद्ध भगवान हैं वैसे ही मैं हूँ यह भावना परम सुखदाई और स्वरूप समाधिको कारण है ॥ जिनेन्द्र भगवानने इस तत्त्वको भयानक संसाररूपी समुद्रसे पार करनेकेलिये एक शोभनीक जहाजके समान कहा है । निश्चयसे यही परम तत्त्व है इसलिये मोहको जीतकरके मैं तत्काल इसीकी ही भावना करता हूँ ॥ यह प्रत्याख्यान निरंतर उसीके ही होता है जो शुद्ध चारित्रिकी मूर्ति है तथा जिसने पर द्रव्यके भ्रमको नाश करदेनेसे स्वाभाविक परमानन्दमई चैतन्य शक्तिके द्वारा विकल्परूप बुद्धिको नष्ट कर दिया है । अन्य आगममें लीन अन्य योगियोंका मुख दान ( उपयोग ) इस ओर नहीं हो सकता । इसके बिना पुनः पुनः जीवोंको इस भयानक संसारमें भ्रमण होता है । वह सिद्धात्मा महान आनन्दोंमें परमानन्दरूप है, जगत्में प्रसिद्ध है, अविनाशी स्वरूप है, अतिशयकरके अपने निज गुणमें ही जिसकी निश्चित वस्ती है । ऐसे आनन्दरूपको छोड़कर यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि ये विद्वान लोग भी तीव्र कामके शब्दोंसे पीड़ित हो किस प्रकार पापसे हते हुए जड़ बुद्धि होकर पाप कार्यकी इच्छा करते हैं ॥ प्रत्याख्यान करनेसे ही मुनियोंको प्रगटरूपसे अत्यन्त शुद्ध सम्यग्चारित्र होता है । वैसे है सम्यग्चारित्र रूप आत्म तत्त्व, जो पापरूपी वृक्षोंसे भरी जो संसाररूपी बनी उसके जलानेकेलिये अग्निके समान है । हे मत्त्वोंमें सिंह ! तू अपनी बुद्धिमें इसी तत्त्वको धारण कर, यही तत्त्व स्वाभाविक मुखका देनेवाला और मुनिओंके स्वभावका मूल है । उस सहज आत्मीक तत्त्वकी जय हो । जो स्वाभाविक तत्त्व आत्मीक तत्त्वमें धारी है बुद्धि जिन्होंने उनके हृदयरूपी









वर्जन करने ॥ टीकाकार कहते हैं कि मुक्तिरूपी धीके भोगमहा कारण जो यह आलोचना उसको भेदको जानकरके जो भव्य जीव अपने आत्मसम्भावमें स्थिति करता है उस भव्य जीवको अपने आत्मसम्भावमें स्थित होनेकेलिये मैं नमाकार करता हूँ ॥

आगे आलोचनाका स्वरूप कहते हुए परमसमताभावको कहते हैं —

जो परस्मिन् अप्पणं, समभावे संतवित्तु परिणामं ।

आलोचनमिदि जाणह, परमजिणंदस्स उपएसं ॥१०९॥

सामान्यार्थः—जो समताभावमें अपने परिणामको धारणके अपने आत्माको देखता है उसीके ही आलोचना जानो । ऐसा परम जिनेन्द्रका उपदेश है ।

विशेषार्थः—जो कोई स्वाभाविक वैराग्यरूप अमृतमई महासागर उसकी पानके समान सफेद ऐसी पट्टार मंडलीको बढानेकेलिये पूर्ण धैर्यमाके समान है अर्थात् वैराग्यकी उज्ज्वलताको बढानेवाला है ऐसा जो तन्त्रवेत्ता सो सदा अंतरंगमें हीन ऐसे क्षेत्र निरंतर निजज्ञानका स्थान जो कारण परमात्मा उसको सर्व प्रकार अंतरंगमें सुन्दर होकर अपने आत्मीक स्वभावमें तर्जान जो स्वाभाविक अवलोकन उससे निरंतर देखता है । कैसे देखता है, पूर्व ही अपने भावको समताभावमें स्थिर करके परम संयमी होकर तिष्ठता है । यही आलोचनाका स्वरूप है ऐसा है शिष्य तुम जानो । ऐसा परम जिनवापका उपदेश है ॥ आलोचनाके भेदोंमें यह प्रथम भेदका स्वरूप कहा ॥ यह टीकाकार कहते हैं—जो कोई आत्मा अपने आत्माकी अपने आत्मीक स्वभावसे अपने आत्ममें इसप्रकार अर्थात् शुद्ध चेतन्य रूपमें देखता है वह थोड़ेसे ही कालमें मोक्षके निश्चल स्थानको प्राप्त होता है । जहाँ मुक्तिरूपी लक्ष्मीका विहास है और जो अत्यंत अतीन्द्रिय सुस्वरूप है । ऐसाही महात्मा इन्द्रो मुनियोंकी पकियों विद्याधरों तथा

भूमिगोचरियोंके द्वारा वन्दनीक है ॥ उनही गुणोंकी अपेक्षासे मैं उस चैतन्यरूपको नमन करता हूँ जो सर्वसे वन्दनीक और सर्व गुणोंकी स्तान है ॥ यह आत्मा परम यमी मुनियोंकी चित्तरूपी कमलके मध्यमें प्रगट रहता है । केसा है आत्मा, जो ज्ञान ज्योतिर्मय है, जिसने पापरूपी अंधकारके पुंजका नाश कर दिया है, जो समीचीन है तथा जो आत्म जीवोंके वचन और मनसे अगोचर रहता है । आचार्य कहते हैं जो अच्यन्त मार्चीन परम पुरुष परमात्मा है उसमें विधि और निगंध क्या होगा ? ॥ ऐसा कहनेसे परमयोगीश्वरने व्यवहार आलोचनाके प्रबंध हींसी की है ॥ टीकाकार कहते हैं उस पाप रहित चैतन्य स्वरूपकी जग हो । केसा है वह सहजतत्त्व, जो अतिशयकरके समस्त इन्द्रियोंके समूहमें उत्पन्न जो कोलाहल ( विकल्परूप उद्वेग ) उनमें भूक है । उस सहज तत्त्वमें नयोंका तथा अनयोंके समूहोंका प्रवेश नहीं है अर्थात् निश्चय व्यवहार रूप आदिके विकल्पोंसे जो दूर है, ऐसा इतनेपर भी वह तत्त्व योगियोंकीं गोचर है । वह आत्मीक तत्त्व सदा मान-रम्य और उद्भुत ने पल्लु आत्मज्ञानमें रहित अज्ञानी जीवोंके द्विषे वह तत्त्व प्रगट रहता है । भव नीच परम गुरुके प्रसादमें हम शुरुआत को आत्मीक गुणरूपी समुद्रके समुद्रमें मग्न समझकर भाविनाशो गुहा की राह कमल है । इसलिये मैं भी अनिष्टयोंके द्वारा उपायों की भावना करता हूँ । केसा है वह तत्त्व, जो अद्वैत है सम्पूर्ण भेदोंके अभावपर वह केवल सनातनिक वस्तु है तथा निर्दिष्टवानके समुद्रके शुद्ध है । मैं उस परमात्म तत्त्व की भावना करता हूँ जो समस्त भगवत् समुद्रमें भूक है, जो आत्म विद, परार्थी दूर और पर मार्गीन प्रसाद हुआ है तथा जो निश्चय ही निरामय है आत्म निर्दिष्ट गुणरूपी तथा ही तत्त्वका उद्भावन प्रगट रूप है । मैंने भावने निश्चय सम्पूर्ण विमानोंकी भावना के कर्म के लिये केवल निर्दिष्ट निश्चय एक चैतन्य भावनेन ही भावकी भावने

करता हूँ तथा अत्यन्त ही भेदोंसे रहित जो मोक्षका मार्ग है उसको भी नमन करता हूँ ॥

आगे आलुंछनका स्वरूप कहते हुए परमभावस्वरूपका व्याख्यान करते हैं.—

कम्ममहीरुहमूल, — छेदसमत्थो सकीयपरिणामो ।

साहीणो समभावो, आलुंछणमिदि समुद्दिहं ॥ ११० ॥

सामान्यार्थ — अष्ट कर्मरूपी धृक्के मूलको छेद करनेमें समर्थ जो अपने ही आत्माका स्वार्थीन और समता भावरूप परिणाम उसीको आलुंछन इस नामसे कहा है ॥

विशेषार्थः—यहाँ पंचम जो पारिणामिक भाव उसका स्वरूप कहते हैं । भव्यन्त्र नाम जो पारिणामिक भाव उस स्वभावका धात्री जो भव्य-जीव उसके निजआत्म सम्बन्धी जो पारिणामिक भाव सो ही परम भाव है । यह पंचम भाव औद्यमिक, औपशमिक, क्षयोपशमिक और क्षायिक इन चार विभाव स्वभावोंके गोचर नहीं हैं । अतएव उदय अर्थात् समय पाकर कर्मोंका उदय, उदीरणा अर्थात् आगामी उदय योग्य कर्मोंका पहले एक साथ बहुतसोंका उदय हो जाना । क्षय अर्थात् कर्मोंका सर्वथा नाश । क्षयोपशम अर्थात् कर्मोंके सर्व धात्री स्पर्द्धकोंका उदयाभावी क्षय तथा उपशम, वेशपाती स्पर्द्धकोंका उदय ऐसे चार अवस्था द्वारा उत्पन्न हुए नाना प्रकारके विकार भाव उनकरके रहित है इस कारण इस एक आत्माके शुद्ध परिणामको ही परमस्व अर्थात् उत्कृष्टपना है इसकी अपेक्षा अन्य चार विभाव भावोंको अपरस्व ( हीनपना ) है यह परम भाव सम्पूर्ण कर्मरूपी बिषयधृक्की जड़को उखाड़नेको समर्थ है ॥ तीनों कालोंमें भी जिसके आवरण नहीं होता ऐसा नितावरण निज कारण परमात्मा उसके स्वरूपका जो भेदान बहसम्पन्न है । उसका विरोधी जो तीव्र मिथ्यात्वकर्म उसके उदयके बराबरे जो शुद्ध परम



जिसने दिसाके मंडलको धोड़ाटा है अर्थात् सर्वत्र व्याप्त है तथा जिसने आत्माकी स्वाभाविक अवस्थाको प्रगट कर दिया है ॥

आगे अविकृतिकरणका स्वरूप कहते हैं:—

कम्मादो अप्पाणं, भिण्णं मावेइ विमलगुणणिलयं ।

मज्झत्थ भावणाए, वियटीकरणांति विण्णेयं ॥ १११ ॥

सामान्यार्थः—निष्कालके कम्मोंसे भिन्ननिर्मल गुणकास्थान जो आत्मा उसको जो कोई मध्यस्थ अर्थात् परितराग भावना उसमें लीन होकर भावता है उसके ही अविकृतिकरण जानना चाहिये ॥

विशेषार्थः—यहां शुद्धोपयोगी जीवकी परिणतिविशेषको कहते हैं । जो कोई भव्य पापरूपी वनको दग्ध करनेकेलिये अग्निके समान होकर द्रव्य, भाव और नोकम्मोंसे भिन्न तथा स्वाभाविक गुणके निधान आत्माको ध्याता है उसीके ही सहज गुणरूप जो परम आलोचना उसका स्वरूप प्राप्त होता है ॥ टीकाकार कहते हैं यह आत्मा सम्पूर्ण द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि और नोकर्म औदारिक शरीरादि उनकी राशियोंसे सदा ही भिन्न रहता है, अंतरंगमें शुद्ध है, शम कहिये शांतभाव और दम कहिये इन्द्रियवशता ऐसे शमदमरूपी कमलोंकेलिये राजहंसके समान है—जैसे राजहंस कमलमें केळि करता है ऐसे ही आत्मा शम दममें रमता है । मोहके अभाव होनेसे यह आत्मा अपनेसे भिन्न सर्व अन्यवस्तुओंको कभी नहीं ग्रहण करता है । ऐसा यह आत्मा नित्य आनंद आदि अनुपम गुणमई तथा चैतन्य चमत्कारकी मूर्ति है । यह शुद्धात्मा अविनाशी अंतरंग गुणरूपी रत्नोंका समूह है, शुद्ध भावरूप अमृतके अत्यन्त निर्मल समुद्रमें जिसने अपने पापरूपी कलकोंको धोलाटा है, जिसने इन्द्रियरूपी ग्रामोंके कोलाहलको हटा दिया है तथा अपनी ज्ञानज्योतिकरके मोह अंधकारके पैलावको नाश कर दिया है ऐसा शुद्धात्मा प्रकाशमान होता है ॥ यह लोक संसारके जन्ममरण



आगे चौथा भेद भावशुद्धिनामकी जो परम आलोचना उसका स्वरूप कहते हुए शुद्धनिश्चय आलोचनाके अधिकारको सकोचते हैं:—

मदमाणमायलोहयि,—पज्जियभावो दु भाव शुद्धिति ।  
परिकाहियं भव्वाणं, लोयालोयप्पदरिसीहिं ॥ ११२ ॥

सामान्यार्थः—मद, मान, माया और लोभ इन चारों कषायोंसे रहित जो भाव है उसको भावशुद्धि कहते हैं । लोक और अलोकको देखनेवाले श्री जिनेन्द्र भगवानने भव्य जीवोंकेलिये ऐसा कहा है ॥

विशेषार्थः—तीव्रचारित्र मोहनी नामा कर्मके उदयके बलसे पुरुषवेद नाम नोकषायका जो विटास है उसको मद कहते हैं । यहाँ मद शब्दसे मदन अर्थात् काम सेवनेका परिणाम ऐसा अर्थ लेना चाहिए । चतुर षट्चर्योंकी रचना सहित प्रवीण और श्रेष्ठ कवितापनेके द्वारा आदय नाम नामकर्मके उदयसे सर्व जनोंमें पूज्यपना पानेके कारणसे अथवा माता सम्बन्धी और पितासम्बन्धी कुलजातिकी उज्ज्वलतासे अथवा ब्रह्मचर्य्य व्रतके पाठनेसे उत्पन्न जो पुण्य तिससे प्राप्त जो १ टासकाटिभटके समान उपमा रहित बलहोनेसे, अथवा दान पूजा आदि शुभकर्मोंके द्वारा उत्पन्न जो पुण्य उस पुण्यके उदयसे प्राप्त जो संपदा धनादिकी वृद्धि उसके विटाससे अथवा बुद्धि, तप, विद्या, औषध, रस, बल, तथा अग्नीण ऐसी सात कद्वियोंके होनेसे अथवा सुन्दर स्त्रियोंके लांचनोंको आनन्दकारी ऐसी शरीरकी सुन्दरताके रसके विस्तारसे आत्माके अहंकारका पैदा होना सो मान है ॥ गुप्त रीतिसे पाप कर लेना सो माया है । योग्य स्थलमें धनका व्यय नहीं करना सो लोभ है । निश्चयकरके सम्पूर्ण परिग्रहका त्याग है लक्षण जिसका ऐसा कर्मरूपा अंजनसे रहित अपने परमात्म तत्त्वको ग्रहण करनेके विरुद्ध अपनेसे अन्य परमाणु मात्र द्रव्यका स्वीकार करना सो लोभ है ॥ इन चारों भावोंसे रहित जो शुद्ध भाव है वही भावशुद्धि है । इस प्रकार भव्य प्राणियोंकेलिये लोकालोक दर्शी,





विक तत्त्व सात तत्त्वोंमेंसे सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है, परम निर्मल है, सर्व प्रकारसे निर्मल शानका पर है, आवरणोंसे रहित है, मोक्ष रूप है, अत्यन्त विशद ( स्पष्ट ) है, नित्य है, बाह्य प्रपंच जालोंसे विरुद्ध है, मुनिको भी मन और वचनोंसे दूर है ऐसे तत्त्वको हम नमस्कार करते हैं ॥ उस जिनेन्द्रकी जय होइ जो क्षांतरसमई अमृतके समुद्रको बढ़ानेकेलिये प्रति दिन उदयरूप सुन्दर चन्द्रमाके समान है तथा तुलना रहित शान-रूपी सूर्यकी किरणोंसे जिसने मोहरूपी अंधकारके समूहको नाश कर दिया है ॥ जिसने जन्म जरा मरणके समूहको जीत लिया है, अत्यन्त भयानक रागके समूहका पात कर दिया है, पापरूपी महा अंधकारके समूहके नाशकेलिये जो सूर्यके समान है तथा जो परमात्माके पदमें स्थित है उस महात्मा जीवकी सदा जय होइ ॥

इस प्रकार मुक्तिरूपी कमलकेलिये सूर्यके समान पंचेन्द्रियोंके विस्तारसे रहित शरीर मानपरिग्रहके भारी भीषणप्रभुमलधारी देव विरचित श्री नियमसार ग्रन्थकी तात्पर्यवृत्ति नामकी व्याख्यामें परमालोचना नामका सातवां श्रुतस्कंध पूर्ण हुआ ॥

## निश्चयप्रायश्चित्ताधिकार ।



आगे सर्व द्रव्यभाव और नोकर्मके त्यागका कारणभूत जो शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्त नामका अधिकार उसको कहते हैं:—

वदसमिदिसीलसंजम,—परिणामो करणणिग्गहो भावो ।  
सो हवदि पायच्चित्तं, अणवरयं चैव कापच्चो ॥ ११३ ॥

सामान्यार्थ—वत, समिति, शील और संयमका जो परिणाम तथा

इन्द्रियोंके रोकनेका जो भाव उसका नाम प्रायश्चित्त है। सोही निरंतर करना योग्य है ॥

**विशेषार्थः—**अहिंसादि पांच महाव्रत, पांच समिति, शीत और गर्म इन्द्रियोंको तथा मनवचनकायको संयम करनेका परिणाम और पांच इन्द्रियोंका निरोधरूप जो भावकी परिणतिविशेष सो ही प्रायश्चित्त है। प्रायःका अर्थ प्रचुरपने विकार रहित चिन्त अर्थात् मन सो प्रायश्चित्त है। सो प्रायश्चित्त शुभ पत्रप्रभकारके करना योग्य है। केसा होकरके करना योग्य है, निरंतर अंतरंगमें लीन हो परम समाधि युक्त होकर, जितेन्द्री योगीश्वरकी दृशामें रहकर तथा पापजनक वृत्त करनेको अग्नि समान भाव रखकर। तथा केसा हूं मैं, पंचेन्द्रियके फैलावों रहित शरीर-मात्र परिग्रहका धारी हूं, स्वाभाविक वैराग्यरूपी महलके शिखरका शिखामणि हूं तथा परमात्मकी मृगय लेनेमें संमुक्त हूं ॥ यही जीकाकार कहते-हैं मुनियोंके निरंतर अपने आत्माकी विन्ता होना सो प्रायश्चित्त होता है। इसीकरके पापोंको धोकर तथा अपने आत्मा स्वभासमें रत होकर मुनि मोक्षको प्राप्त करते हैं। जो मुनि इस विषय अन्य विन्ता करते हैं वे मुई बुझी पापी कामधुनिक ज्ञान पीछे होकर फिर भी पापको करते हैं यह एक आध्यात्मिकी बात है ॥

आगे पांच कर्मोंको उपादनेमें समवेत जा नियम प्रायश्चित्त उपाद कहते हैं --

कोहादिसगन्धमायं, सयपद्रुदीभाषणात् जिग्मद्वयं ।  
प्रायश्चित्तं मणिर्दं, शिष्यगुणर्विता प जिच्छयता ॥११॥

**सामान्यार्थः—**कोहादि अपने विभाव भागिक प्रय करने आदि ॥  
अन्वय वर्तना तथा अपने अन्वयिक गुणोंकी विन्ता करना सो नियम प्रायश्चित्त कहा गया है ॥

विशेषार्थः—क्रोधादि सर्व मोह राग द्वेष विभाव भावोंको क्षय करनेमें कारणभूत जो अपने कारण परमात्माके स्वभावकी भावना उसके होते हुए निज स्वभाव ग्रहणकी अपेक्षासे प्रापञ्चित कहा गया है । अथवा परमात्माके गुणस्वरूप शुद्ध अतर्क तत्परूप जो अपना स्वभाव उसमें सहज ज्ञानादिक जो सहज गुण है उनकी चिन्ता करनी सो प्रापञ्चित होता है । टीकाकार कहते हैं—अतिशय करके मुनियोंका प्रापञ्चित काम क्रोधादिक जो आत्मासे अन्य भाव हैं उनके नाशके अर्थ अपने आत्मस्वभावका जानना अथवा उसकी भावना करनी सो ही है । आत्मग्रहाद्वय संघर्षमें संतपुण्योंने ऐसाही जाना है ॥

आगे चारों कषायोंके जीतनेका उपाय बतलाते हैंः—

कोहं स्वमया माणं, समद्वयेणऽज्जवेण मायं च ।

संतोसेण य लोहं, जयदि सुए चउपिहफसाए ॥११५॥

सामान्यार्थः—क्रोधको क्षमासे, मानको आत्मीक मार्गव भावसे, मायाको आर्जव धर्मसे तथा लोभको संतोषसे इस तरह ४ प्रकार कषायोंको योगी जीतता है ।

विशेषार्थः—जपन्य मध्यम और उन्नत भेदसे क्षमा तीन प्रकार है । विना कारणके ही अभियवादी भिष्याहृष्टी मेरी निद्रा करता है व ब्रास देनेका उद्योग करता है परन्तु मेरे पुण्यके उदयसे यह कुछ न कर सका ऐसा जानकर क्षमा करना सो प्रथम जपन्य क्षमा है । विना कारणके ही यह जीव मुझे ब्रास करना और ताड़ना व बाधा देना चाहता है परन्तु मेरे पुण्यके उदयसे वह भेष कुछ विगाड़ न करसका ऐसा जानकर क्रोध न करके क्षमा करनी सो दूसरी मध्यम क्षमा है । और यदि अपनेको बाधा व ब्रास प्राप्त हो तो ऐसा विचारना कि मैं अमूर्तक परम ब्रह्म स्वरूप हूँ मेरे शुद्ध स्वरूपकी कुछ हानि नहीं होती है ऐसा

ध्यानमें लेकर गरम समता रखके भावमें उड़र आना सो तीसरी इच्छा  
 शुभा है । इस प्रकार तीनों शुभाओंसे कोष कपायको जीतकर तथा माई  
 भावसे कोमल परिणामोंसे मानकपायको और कपड़ लड़क भाई  
 भावे मायाको तथा परमतत्त्वका लाभसे जो संतोष उससे प्राप्त अभि  
 कपायको जीतना योग्य है । एसा ही भी गुणभद्र कृष्णार्जुन कहते हैं —

[illegible]

दिललाई पड़ते हैं अर्थात् मायावारीके क्रोधादि कषाय भीतर बैठे होते हैं ॥ चमरी गय भीलोंके भयसे भागती २ जाती है अकस्मात् उसकी पूछ वृक्षकी बेलमें फंस जाती है—इसको अपनेबालोंका बड़ा मोह होता है सो बालोंके समूहमें डोलुपी रहकर इस भयसे कि कहीं कोई बाल टूट न जाय अपनी जड़ बुद्धिसे निश्चल खड़ी रह जाती है अपनी पूछको छुटाकर भागती नहीं है । आचार्य्य सेव करते हैं कि इंसलोभके कारण वह विचारी भीलके द्वारा हर्तागयी । जो लोभकी परिणति रखते हैं उनको प्रायः इसी प्रकारकी विपत्तियां नानाप्रकारकी आ जाती हैं ॥ टीकाकार कहते हैं । क्रोधकषायको क्षमासे, मानकषायको मार्दवसे, आर्जवसे मायाको तथा लोभकषायको संतोषसे जीविना चाहिये ॥

आगे शुद्ध ज्ञानका स्वीकार करना ही प्रायश्चित्त है ऐसा कहते हैंः—

उक्लिदो जो वोहो, णाणं तस्सेव अप्पणो चित्तं ।  
जो धरइ मुणी णिच्चं, पायच्छित्तं हवे तस्स ॥ ११६ ॥

सामान्यार्थः—अपने ही आत्माका जो उत्कृष्ट बोध, ज्ञान तथा चित्त है उसको जो कोई मुनि नित्य धारण करता है उसके ही प्रायश्चित्त होता है ॥

विशेषार्थः—उत्कृष्ट जो विशिष्ट धर्म है वही परम बोध है—बोध ज्ञान और चित्त तीनोंका एक ही अर्थ है ॥ अतएव उसी परम धर्मके धारी आत्माका प्रायः अर्थात् प्रकर्षणं जो चित्त अर्थात् ज्ञान सो प्रायश्चित्त है । जो कोई परमसंयमी नित्य इस प्रकारके चित्तको धारण करता है उसीके ही निश्चय प्रायश्चित्त होता है ॥ टीकाकार कहते हैं जो कोई शुद्धात्मज्ञानकी भावनाको रखनेवाला आत्मा है सो ही प्रायश्चित्त-मात्रका धारी है । जिसने पापके समूहको दूर कर दिया है ऐसे मुनीन्द्र-को मैं नित्य उनके गुणोंकी प्राप्तिकेलिये मन्वना करता हूँ ॥

आगे कहते हैं कि इस लोकमें परम तपश्चरणमें लीन जो परम योगीश्वर हैं उनहीके निश्चय प्रायश्चित्त होता है यही समस्त आचरणोंमें श्रेष्ठ आचरण है:—

किं बहुणा भणिण्णं दु, वरतवचरणं महेसिणं सर्व्वं ।  
प्रायश्चित्तं ज्ञाणह, अण्येयकम्माणं खयहेऊ ॥ ११७ ॥

सामान्यार्थः—बहुत क्या कहें । महर्षियोंका सर्व उत्कृष्ट तपश्चरण एक प्रायश्चित्तको ही जानो जो अनेक कर्मोंके नाशका कारण है ॥

विशेषार्थः—आचार्य्य कहते हैं बहुत असत् प्रलाप कहनेसे बस होहु । निश्चय व्यवहाररूप सर्व उत्कृष्ट तपश्चरण एक निश्चय प्रायश्चित्तको ही है शिष्य तुम जानो । यहाँ परम जितेन्दी योगियोंकेलिये अनादि संसारमें बांधे हुए द्रव्यकर्म और भावकर्म उनको सर्व प्रकारसे विनाश करनेका कारण है । टीकाकार कहते हैं कि अनशनादि बारह तपरूप आचरण यही आत्माका सहज स्वाभाविक तत्त्व है । यही शुद्ध चैतन्य स्वरूपको जाननेवाला है । यही स्वाभाविक ज्ञानकी कटाके गोचर है तथा यही पापोंको क्षय करनेका कारण है ॥ यह प्रायश्चित्त निश्चयसे उत्तम साधु पुरुषोंको ही होता है । कैसा है यह प्रायश्चित्त, जो अपने आत्मिक द्रव्यमें चिन्तवन स्वरूप है तथा धर्मध्यान और शुद्धध्यानरूप है । कर्मोंके अंधकारको विनाश करनेकेलिये सम्यग्ज्ञानरूपी तेज है तथा जो अपनी विकाररहित महिमामें लीन है ॥ यमी साधुओंको आत्मज्ञानसे ही क्रमक्रमसे आत्माकी प्राप्ति होती है और ज्ञान ज्योति प्रगट होती है । कैसी है ज्ञान ज्योति, जिसने इन्द्रियोंके विषयरूप मामके धार अंधकारको हटान कर दिया है तथा कर्मरूपी जंगलसे उत्पन्न जो वावानठकी शिता उसको बुझानेकेलिये शांत जलमई अमृतकी धाराको दीप्ति २ वरदा रही है । अप्यात्म शास्त्ररूपी समुद्रसे मने इस संयम रूपी रत्नमालाको निकाला है यही निश्चय संयमरूपी रत्नमाला मुक्ति बंधूके घर ऐसे जो तत्त्व ज्ञाता ।

उनके सुकंठको मुशोभित करनेवाली हो गई है, मैं नित्य इस परमात्म-तत्त्वको नमस्कार करता हूँ । जो मुनीन्द्रोंके चित्तरूपी कमलका गर्भवास है, मोक्षके अतीन्द्रिय सुखका मूल है तथा जिसने संसाररूपी वृक्षके मूलको नष्ट कर दिया है ॥

आगे कहते हैं कि प्रसिद्ध ऐसा शुद्ध जो कारण समयसार परमात्म-तत्त्व उसमें सदा अंतरगते लीन होकर जो तप तपना है वही तप प्रायश्चित्त है:—

प्रांताणंतमवेण स,—मज्झिमसुहसुहकम्मसंदोहो ।  
तवचरणेण विणस्सदि, पायच्छित्तं तवं तद्धा ॥ ११८ ॥

सामान्यार्थः—अनंतानंत भवोंके द्वारा जो इस जीवने शुभ तथा अशुभ कर्मोंके समूहको उत्पन्न किया है सो सर्व कर्मजाल तपभरणकरके नाशको प्राप्त होता है । इसलिये ऐसा तप ही प्रायश्चित्त है ।

विशेषार्थः—अनादिकालसे संसारमें भ्रमते हुए जो शुभ तथा अशुभ कर्मोंका समूह इस जीवने पैदा किया है सो द्रव्यरूप पुद्गलधर्म तथा रागद्वेषादि भावकर्म जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पांच प्रकार संसारका बढ़ानेवाला है सो सर्व भावशुद्धि लक्षणके धारी परम तपभरणके द्वारा विह्वलको प्राप्त हो जाता है । इसलिये अपने आत्मीक तत्त्वमें समनरूप जो परम तपभरण सो ही शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्त है ऐसा प्रयोजन है

टीकाकार कहते हैं—अष्ट कर्मोंके जालको नष्ट करनेकेलिये संत पुरुषोंने ऐसे तपके सिवाय और किसीको प्रायश्चित्त नहीं कहा है । कि जो तप चेतन्यके आनंदरूपी अमृतसे पूर्ण है तथा जो अनादि संसारमें संग्रह किया ऐसा महान कर्मरूपी वन उसके दग्ध करनेकेलिये अग्निही ज्वालाका समूह है और जो समसुखमई तथा मोक्षरूपी लक्ष्मीका दहेज है ।

आगे कहते हैं कि सम्पूर्ण विभावभावोंको अभाव करनेकेलिये अपने आत्माहीके आश्रयसे उत्पन्न जो निश्चय धर्मध्यान वही समर्थ है—

**अप्पसरूवालंबण, - भावेण दु सच्चमावपरिहारं ।**

**सक्कादि कहुं जीवो, तम्हा ज्ञाणं हवे सच्चं ॥ ११९ ॥**

**सामान्यार्थः—**यह जीव अपने आत्मीक स्वरूपके आलंबनमें तन्मय जो भाव उसीसे सर्व अन्यभावोंको त्यागनेको समर्थ हो जाता है । इसलिये सर्व प्रायश्चित्तादि ध्यान ही होता है ॥

**विशेषार्थः—**निश्चलरूपसे परद्रव्यका त्याग हे लक्षण जिसका ऐसे लक्षणसे लक्षित जो असंख्य नित्य आवरण रहित ऐसा जो स्वभाविक परम पारिणामिक भाव उसकी ही भावना मानेसे यह अत्यन्त निकटमव्य जीव औदार्यिक औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक, ऐसे अपने शुद्ध स्वरूपसे अन्य चारोंभावोंको तजनेकेलिये समर्थ हो सकता है । इसी कारणसे उसी जीवके ऐसे भावको पापरूपी बनीके जलानेकेलिये अग्निसमान कहा गया है । अतएव पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, ऐसे १२ प्रकार चारित्र तथा प्रत्याख्यान, प्रायश्चित्त, और आलोचना आदि सर्व ध्यानमें ही गर्भित हैं ॥ टीकाकार कहते हैं—जो कोई भव्यजीव शुद्धात्मामें अपना मन निश्चल करके एक शुद्ध आत्माको ही ध्याता है । किस प्रकार ध्याता है, कि यह आत्मा एक है नित्य अपनी ज्योति-करके मोह अंधकारके समूहको नाश करनेवाला है, आदि और अतसे शून्य है, परमकलासे विराजमान है तथा आनन्दकी मूर्ति है वह जीव शीघ्र ही जीवन्मुक्त अर्थात् अरहंत हो जाता है । और वही जीव समस्त आचारका प्रतिपालक है ॥

आगे शुद्ध निश्चयस्वरूपका व्याख्यान करते हैं—

**सुहअसुहवयणरयणं, रायादीभाववारणं किञ्चा ।**

**अप्पाणं जो ज्ञायदि, तस्स दु णियमं हवे णियमा ॥ १२० ॥**



**सामान्यार्थः—**जो कोई शुभ और अशुभ वचनोंकी रचनाको दूरकर तथा रागद्वेषादि भावोंको हटाकर आत्माको ध्याता है उसके ही नियमसे नियम होता है ॥

**विशेषार्थ —**जो कोई परम तत्त्वज्ञानी महा तपोधन प्रतिदिन सचय किये गए जो सुभ्रमकर्म उनके नष्ट करनेमें समर्थ जो निर्धय प्रापधित्त उसमें लीन रहता है तथा जो मुनि मन वचन कायको रोककरके संसाररूपवेलके मूलकंद जो शुभ तथा अशुभरूप प्रशस्त और अप्रशस्त समस्त वचनकी रचनाको दूर करता है, केवल इन वचनोंकीका तिरस्कार नहीं करता किन्तु समस्त मोह रागद्वेष आदि पर भावोंको भी दूर करता है फिर निरन्तर असंढ, अद्वैत, सुंदर, आनंदसे भरपूर अनुपम तथा कर्माजिन रहित अपने कारण परमात्मतत्त्वको निश्चय अपने शुद्धो-पयोगके बलसे वारंवार भावता है उसी ही यमी मनुष्यके शुद्ध निर्धयनय-करके नियम होता है । यह अभिप्राय भगवान् एवकारका है ॥ टीकाकार कहते हैं—जो कोई भय्यर्जाव शुभ तथा अशुभरूप वच-नकी रचनाको त्यागकरके निश्चय प्रगटपने स्वभावमई परमात्माको भले प्रकार भावता है उसी ही परम जितेन्द्री और ज्ञानी मुनिके निय-मसे यह शुद्ध नियम होता है तथा वही नियम मुनिरूपी धर्मके सुखका कारण है ॥ निरन्तर असंढ अद्वैत चैतन्यके विकार रहित स्वरूपमें सम्पूर्ण नयोंका विहास कुछ भी प्रगट नहीं होता है । जिसमें सर्व भेदवादोंका विलय हो गया है ऐसे तत्त्वको मैं यहाँ नमस्कार करता हूँ, उसीकी स्तुति करता हूँ तथा उसीकी वारंवार भावना करता हूँ यह ध्यान है, यह ध्येय है, यह ध्याता है, यह ध्यानका फल है इन विकल्प जादोंसे रहित जो तत्त्व है उसीको मैं नमन करता हूँ ॥ जिस किसी योगमें लीन योग्यके कभी ९ भेदवाद उठाकरते हैं अर्थात् जो विकल्प भावोंको प्राप्त करता है उसको अरहंतके मतमें मुक्ति होगी क नहीं कौन जानता है ।

भावार्थ—मुक्तिका कारण तो एक निर्विकल्प ध्यान ही है जहां विकल्प हैं वहां बंध है ॥

आगे निश्चय कायोत्सर्गका स्वरूप कहते हैं:—

कायाइपरद्वये, थिरमावं परिहरत्तु अप्पाणं ।

तस्स हवे तणुसगं, जो झायइ णिव्विअप्पेण ॥१२१॥

सामान्यार्थः—काय आदि पर द्रव्योंमें स्थिर भावको दूर करके जो कोई विकल्परहित होकर अपने आत्माको ध्याता है उसीके ही कायोत्सर्ग होता है ॥

विशेषार्थः—आदि और अंत सहित मूर्तीक अपनी आत्मजातिसे भिन्न विभाव व्यंजन पर्यायरूप अपने शरीरका जो आकार है सो काय है । आदि शब्दसे क्षेत्र, महल, सुवर्ण, स्त्री आदि लेना । इन सर्व विनाशीक पदार्थोंमें स्थिर भावको अर्थात् ये सदा रहेंगे ऐसे भावको त्यागकरके नित्य ही मनोहर कर्मरूपी मैलसे रहित अपने स्वभावमई कारण परमात्माको जो नित्य व्यवहार क्रियाकांडके आडंबर सम्बन्धी नानाप्रकार विकल्प उनसे पूर्ण कोलाहल ( शोर-गुल ) उससे रहित ऐसा जो स्वाभाविक परम योग उसके बलसे ध्याता है उसी ही तपस्वीके निश्चय कायोत्सर्ग होता है । कैसा है तपस्वी, जो स्वाभाविक तपभरण-रूपी क्षीरसमुद्रको बढानेकेलिये चंद्रमाके समान हृदयका ईश्वर है तथा निश्चयकरके स्वाभाविक वैराग्यरूपी महलके शिखरका शिखरामणि है ॥ टीकाकार कहते हैं—यह निश्चय कायोत्सर्ग निश्चयसे अपने आत्मामें लीन संयमी मुनियोंके ही निरंतर अपने आत्मध्यानके द्वारा ही होता है ॥ कैसा है आत्मध्यान, जहां शरीरसे उत्पन्न जो प्रचलरूपसे प्रगट होते हुए कर्म उनसे मुक्त रूप है अर्थात् कीयकी क्रियारहित है, वच-

नोंके जालोंके समूहसे विरक्त है तथा मन सम्बन्धी भावोंसे भी अलग है ॥ उस स्वाभाविक परमतत्त्वकी जय होहु । जो अपने सहज तेजके पुजमें मग्न होकर प्रकाशमान है, जिसने मोह अंधकारको हटा दिया है, जो स्वाभाविक परमदर्शनसे परिपूर्ण है तथा वृथा ही उत्पन्न जो संसार तथा जो भव भवके दुःख और कल्याण तिनसे मुक्त है ॥ संसारके जो सुख हैं वे एक तो अल्प अर्थात् थोड़े हैं । दूसरे कल्याण मात्र ही अर्थात् अपनी मानी हुई बुद्धिसे ही रमणीक ( अच्छे ) मालूम होते हैं ऐसे सर्व सुखको मैं अपनी आत्मीक शक्तिसे त्यागता हूँ तथा स्वाभाविक परम सुखरूप चैतन्यके चमत्कार मात्र प्रगट अपने विलासमें ही आत्मतत्त्वको सदा अनुभव करता हूँ ॥ आचार्य कहते हैं कि मेरे हृदयमें स्फुरायमान जो समाधिमें निज आत्मीक गुणोंकी संपदा उसको मैंने इस कालसे पूर्व क्षणमात्र भी मैंने नहीं जाना । बड़े सेदकी बात है मैं तीन जगतकी अद्भुत विभूतिको प्रलय करनेवाले दुष्ट कम्मोंकी प्रभुताईके बलसे इस महा संसारमें अत्यन्त हता गया हूँ अर्थात् सेद उठा चुका हूँ ॥ भवभवके विषमई वृक्षोंके सम्पूर्ण दुःखके कारण फलोंको त्यागने योग्य जानके मैं चैतन्यस्वरूप आत्मामें उत्पन्न जो विमुक्त सुख उसीको अनुभव करता हूँ ॥

इसप्रकार मुक्तिरूपी कमलोंकेलिये सूर्यके समान पंचेन्द्रियके प्रसारसे रहित गात्रमात्र परिग्रहधारी श्री पद्मप्रभमलधारी देवसे विरचित निमयसार ग्रन्थकी तात्पर्यवृत्ति नाम टीका तिसमें शुद्ध निश्चय शायश्चित्त-अधिकार आठवां श्रुतस्कंध पूर्ण हुआ ॥

## परमसमाधि-अधिकार ।



आगे सम्पूर्ण मोह रागद्वेष आदि परभावोंको नाश करनेका कारण भूत जो परमसमाधि नाम अधिकार उसको कहते हैं । तहां प्रथम ही शुद्धनिश्चय परमसमाधिका व्याख्यान करते हैं:—

वयणोच्चारणकिरियं, परिचिता वीतरागभावेण ।

जो शायद अष्पाणं, परमसमाही हवे तस्स ॥ १२२ ॥

सामान्यार्थः—जो कोई अपने वीतराग भावसे वचनोंसि बोलने की क्रियाको त्याग करके अपने आत्माको ध्याता है उसीके ही परम समाधि होती है ।

विशेषार्थः—परम जिन योगीश्वर भी कभी अपनी अशुभ प्रवृत्तिओ हटानेकेलिये वचनरचनासे मनोज्ञ ऐसी परम वीतराग सर्वज्ञ देवकी स्तुति करते हैं । तो भी निश्चयसे योगीश्वरको शुभअशुभ वचनोंका व्यापार नहीं करना योग्य है ॥ अतएव समस्त वचनकी रचनाको त्याग करके सर्व कर्मरूपी कलककी कीचड़से रहित हो अपने रागद्वेष भावोंको हटानेवाले ऐसे परम वीतराग भावके द्वारा तीनों कालोंमें आवरणरहित नित्य ही शुद्ध कारण परमात्माको अपने ही आत्माका है आश्रय जिसको ऐसे निश्चय धर्मध्यानके बलसे अथवा टंकोत्कीर्ण शायद एक स्वभावमें लक्ष्मीन ऐसा जो परम शुद्ध ध्यान उसके बलमें जो कोई परम वीतराग-स्वरूप तपश्चरणमें लीन, रागरहित संयमी ध्याता है उगी साधुके निश्चयसे परम समाधि होती है । कैसा है साधु, जो द्रव्यकर्म और भावकर्मकी सेनाको नष्टनेगला है ॥ टीकाकार कहते हैं—किसी अशुभ समाधि के द्वारा उत्तम आत्माओंके हृदयमें प्रगट होनेगली सम-

ताके साथ २ रहनेवाली जो स्वाभाविक आत्मीक सम्पदा उसको जबतक हम लोग नहीं जानते तबतक यह समाधि हमारा विषय नहीं है ऐसा हम मानते हैं । अर्थात् समाधिका लाभ कठिन है ।

आगे समाधिका लक्षण कहते हैं—

संजमणियमतवेण दु, धम्मज्झाणेण सुक्खज्ञाणेण ।

जो ज्ञायइ अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स ॥ १२३ ॥

सामान्यार्थः—संयम, नियम और तपकें द्वारा धर्मध्यान अथवा शुद्धध्यानसे जो आत्माको ध्याता है उसीके ही परम समाधि होती है ।

विशेषार्थः—सर्व इन्द्रियोंके व्यापारका त्यागना सो संयम है । अपने आत्माकी आराधनामें नियमसे तट्टीन रहना सो नियम है । आत्माको आत्माके द्वारा धरा जाय सो ही अभ्यात्मीकृता है । सर्व क्रियाकाटके आटवरका है त्याग जहाँ ऐसे अंतरंग क्रियाके आधाररूप आत्माको जो मर्यादारहित तथा तीनों कालोंमें कर्मोंकी उपाधि अर्थात् आपत्तिसे रहित स्वरूप जानता है उस जानकी जो परिणति विशेष है वही अपने आत्माके आभयमें तिष्ठनेवाला निश्चय धर्मध्यान है । अर्थात् आत्मस्वरूपका यथार्थ ज्ञान होकर स्वरूपके ज्ञानमें निश्चलता सो ही निश्चय धर्मध्यान है ॥ जहाँ ध्यान, ध्येय, ध्याता और ध्यानके फलको आदि ठे नाना प्रकारके विकल्प नहीं है तथा जो सम्पूर्ण विकल्प सकल्पोंको आदि ठे इन्द्रियधर्माके विषयोंसे अंगपर आत्मीक परम तत्त्वकी निश्चलस्थितिरूप है वही निश्चय शुद्ध ध्यान है । इत्यति विशेष सामग्रियोंके साथ जो कोई परम संयमी असेइ अद्वैत परम चैतन्यमई आत्माको नित्य ध्याता है उसीके निश्चयसे यह परम समाधि होती है ॥ टीकाकार कहते हैं—जो कोई चैतन्यमई निर्विकल्प समाधिमें

नित्य ठहरता है उसी आत्माको मैं नमस्कार करता हूँ । कैसा है आत्मा, जो द्वैत और अद्वैतके विकल्पोसे रहित है ॥

आगे कहते हैं कि जो कोई समताभावके बिना केवल द्रव्यरूप बाह्यलिंग अर्थात् चिन्हको धारणवाला द्रव्यलिंगी श्रमणाभास है अर्थात् यथार्थमें मुनि नहीं परन्तु मुनि सदृश भादूम होता है उसके मोक्षका कुछ भी उपाय नहीं है—

किं काहदि वणवासो, कायकलेसो विचित्तउववासो ।  
अज्झयणमौणपहुदी, समदाराहियस्स समणस्स ॥१२४॥

सामान्यार्थः—जो श्रमण ( दिगम्बर मुनि ) समतासे रहित है उसको वनवास, अथवा कायक्लेश व नानाप्रकारके उपवामोंका करना व शास्त्रपठन तथा मौनव्रत यह सर्व ही क्या कर सकते हैं ? । अर्थात् मोक्षके साधनको करनेमें असमर्थ है ।

विशेषार्थः—सर्व कर्मफलरूपी कीचमे रहित महानदका कारण यह परम समता भाव है । यदि यह भाव न हो और केवल द्रव्यलिंगधारी श्रमणाभास वनमें वास करे, व वर्षाकालमें वृक्षके नीचे ठहरे, गर्ममें अत्यन्त तीव्र किरणोंसे संतप्त पर्वतके शिखरपर बैठकर आसन लगावे, अथवा शीतऋतुमें रात्रिके मध्यमें दिशाओंके ही बरफ का निहाफ ओंठे अर्थात् चौड़े मैदानमें बैठ नग्रावस्थामें रह ध्यान लगावे, तबचा और हड्डीको दिसलानेवाला व सर्व अंगोंके द्वेष देनेवाला उपवास महोपवास करे व सदा शास्त्र पढ़नेमें ही चतुर हो अथवा वचनोंके व्यापारको त्यागकर सदा मौनव्रत ही धारण करे तभी उसे कुछ भी मोक्षके कारणभूत फलकी प्राप्ति नहीं है । भावार्थ—समताभावके साधनमें तो ये सर्व उपादय हैं परन्तु समताभावरहित जीवके इनसे कोई भी प्रवृत्त योग्य

फलका लाभ नहीं है ॥ ऐसाही श्री अमृतशीति ग्रंथमें कहा है—कि पर्वतकी भयानक गुफामें, वनमें, व दूसरे किसी शून्य प्रदेशमें बैठनेसे, इन्द्रियोंको रोकनेसे, ध्यानसे, व तीर्थोंकी यात्रासे, पढ़नेसे, अथवा जप-होम करनेसे ब्रह्मकी सिद्धि नहीं है । इसलिये हे प्राणी तू उत्कृष्ट रूप, इन सर्वसे अन्य, अपने आत्माके सारको ही दृढ़ ॥ टीकाकार कहते हैं—जो यती समता भावसे रहित हो अनशनादि द्वादश तपोंको पाटता है उसके कार्प्यकी सिद्धि नहीं है । इसलिये हे मुनि ! तू आकुलतासे रहित समतादेवीका जो कुलमंदिर ऐसा जो अपना आत्मीक तत्त्व उसीका ही भजन कर ॥

आगे कहते हैं जो मुनि सर्व पापरूप व्यापारसे रहित हो मनवचन कायकी गुप्तिमें गुप्त हो सर्व इन्द्रियोंके व्यापारोंको छोड़कर अपने आत्माके सन्मुख होता है उसीके ही सामायिकवत स्थायी ( तिष्ठनेवाला ) होता है—

**विरदी सव्यसायजे, तिगुत्तीपिहिदिदिओ ।**

**तस्स सामादगं ठाइ, इविकेवलिसासणे ॥ १२५ ॥**

**सामान्यार्थः—**जो सर्व शासन अर्थात् सावय कियाओंसे विरक्त हो तीन गुप्तियोंको धारके अपनी इन्द्रियोंको संकोचता है उसीके ही सामायिक स्थायी होता है ऐसा केवली भगवानके आगममें कहा है ।

**विशेषार्थः—**जो कोई महा मुमुक्षु मुनि एकेन्द्रिय आदि प्राणियोंके समूहोंको दुःखदेनेका कारण जो सम्पूर्ण पाप सहित व्यापार उससे अलग होकर, शुभ अशुभ सर्व काय, वचन और मनके व्यापारोंको त्यागकर तीन गुप्तरूप होता है तथा स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पांच इन्द्रियोंके सन्मुख हो उनके योग्य जो विषय करनेवाले पदार्थ उनको ग्रहण न करके जितेन्द्री रहता है उसी ही परम रीतिराग संयमीके यह सामायिक वत शाश्वता सदा ठहरनेवाला होता है । टीकाकार व्रते हैं—

नित्य ठहरता है उसी आत्माको मैं नमस्कार करता हूँ । कैसा है आत्मा, जो द्वैत और अद्वैतके विकल्पोसे रहित है ॥

आगे कहते हैं कि जो कोई समताभावके विना केवल द्रव्यरूप बाह्यलिंग अर्थात् चिन्हको धारणवाला द्रव्यलिंगी भ्रमणाभास है अर्थात् यथार्थमें मुनि नहीं परन्तु मुनि सदृश मालूम होता है उसके मोक्षका कुछ भी उपाय नहीं है:—

किं काहदि यणवासो, कायकलेसो विचित्तउववासो ।  
अज्झयणमीणपहुदी, समदाराहियस्स समणस्स ॥१२४॥

सामान्यार्थ:—जो भ्रमण ( विगम्वर मुनि ) समतासे रहित है उसको वनवास, अथवा कायकेश व नानापट्टादि उपगमोद्भा करना व शास्त्रपठन तथा मोनवत यह सर्व ही क्या कर सकते हैं ? । अर्थात् मोक्षके साधनका करनेमें असमर्थ है ।

विशेषार्थ—सब इमं कलंकरूपी दोषसे रहित महानदका कारण यह परम समता भाव है । यदि यह भाव न हो तो जो द्रव्यलिंगधारी भ्रमणाभास वनमें वास कर, व क्याकालमें बुझाई नीचे ठहरे, गर्भमें अत्यन्त तीव्र क्षिण्णम गतत परितः शिखरपर बैठकर आसन उठाये, अथवा शीतमनुर्भूत गरिष्ठ मध्यम दिशाजिह्व की यन्त्रका विष्णु ओंठे अर्थात् चौंठे मेडानमें बैठ नम्रान्ध्यामे १० गान गाय, स्वया और ह्रींका दिग्भटानशरीर व मरु जा के कुछ दिनसदा उपवास मोक्षप्राप्त कर व मोक्ष प्राप्त पदम प्राप्त वगैरे ही अथवा वचनकि ध्यानाका त्याग कर सदा मोनवत ही धारण कर लोभी उम कुछ भी मोक्ष कारणभूत कलंकी प्राप्ति नहीं है । भावार्थ समताभावके साधने ही परम उपाय है परन्तु समताभावरहित तीव्र इन्द्रिय का भी दहन प्राप्ति



फटका लाभ नहीं है ॥ ऐसाही भी अमृतशीति ग्रंथमें कहा है—कि पर्वतकी भयानक गुफामें, वनमें, व दूसरे किसी घुन्य प्रदेशमें बैठनेसे, इन्द्रियोंको रोकनेसे, ध्यानसे, व तीर्थोंकी यात्रासे, पढ़नेसे, अथवा जप-होम करनेसे ब्रह्मकी सिद्धि नहीं है । इसलिये हे प्राणी तू उत्कृष्ट रूप, इन सर्वसे अन्य, अपने आत्माके सारको ही दृढ़ ॥ टीकाकार कहते हैं—जो यती समता भावसे रहित हो अनशनादि द्वादश तर्पणोंको पाठता है उसके कार्प्यकी सिद्धि नहीं है । इसलिये हे मुनि ! तू आकुल-तासे रहित समतादेवीका जो कुलमंदिर ऐसा जो अपना आत्मीक तत्त्व उसीका ही भजन कर ॥

आगे कहते हैं जो मुनि सर्व पापकष व्यापारसे रहित हो मनवचन कायकी गुमिमें गुप्त हो सर्व इन्द्रियोंके व्यापारोंको छोड़कर अपने आत्माके सन्मुख होता है उसीके ही सामायिकवत स्थायी ( तिष्ठनेवाला ) होता है—

विरदी सव्यसायजं, तिगुर्त्तापिहिर्विदिओ ।

तस्स सामादगं ठाइ, इदिकेयलिसासणे ॥ १२५ ॥

सामान्यार्थः—जो सर्व शासन अर्थात् साव्य क्रियाओंसे विरक्त हो तीन गुणियोंको धारके अपनी इन्द्रियोंको संकोचता है उसीके ही सामायिक स्थायी होता है ऐसा केवली भगवानके आगममें कहा है ।

विशेषार्थः—जो कोई महा मुमुक्षु मुनि एकेन्द्रिय आदि प्राणियोंके समूहोंको दुःखदेनेका कारण जो सम्पूर्ण पाप सहित व्यापार उससे अटग होकर, शुभ अशुभ सर्व काय, वचन और मनके व्यापारोंको त्यागकर तीन गुणक होता है तथा स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पांच इन्द्रियोंके सन्मुख हो उनके योग्य जो विषय करनेवाले पदार्थ उनको ग्रहण न करके नितेन्द्री रहता है उसी ही परम कीतराग संयत्नीके यह सामायिक मत शाश्वत सदा ठहरनेवाला होता है । टीकाकार कहते हैं—



तथा कोई दैतको चाहते हैं परन्तु मैं दैत, अदैतसे रहित आत्माको ही नमन करता हूँ ॥ मैं आत्मा हूँ स्वमुखका चाहनेवाला हूँ इससे मैं अपने आत्माहीमें ठहरकर आत्माहीके द्वारा जन्म और नाशसे मुक्त ऐसे अपने आत्माको ही बारंबार भावता हूँ ॥ संसारके बढ़ानेवाले इन विकल्पोंके बचनेसे पूरी पड़ो अर्थात् इनसे कुछ कार्यकी मिष्टि न होगी—यह आत्मा संसाररहित आनन्दमय, सर्व नयोंके समूहोंका विषय नहीं है, न यह दैत तथा अदैतरूप है इसलिये मैं उसी एकको बिना विलम्बके सदा ही अपने संसारके भयको नाश करनेकेलिये वन्दना करता हूँ ॥ इस जन्ममें पापपुण्यके समूहसे उत्पन्न सुख और दुःख होता है । जिस आत्मामें न तो शुभभाव न अशुभ परिणति है, जो भवके परिचयमें अत्यन्तरहित तथा भवके करनेवाले औगुणोंके समूहोंसे विमुक्त है उसी आत्माको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ इस जगत्में नित्य ही यह चेतन्यका चमत्कार मात्र स्वरूप जयवन्त होहु । कैसा है स्वरूप, जो पापकी सेनाकी ध्वजाको हरनेवाला है, जिसने अपने स्पष्ट स्वाभाविक तेजसे पापोंके समूहोंको दूर कर दिया है तथा अत्यन्त प्रबल मोह अंधकार अस्त किया है और जो अत्यन्त शुद्ध है ॥ यह पापरहित आत्मीक तत्व जयको प्राप्त होहु । जिसने समस्त संसारको अस्त कर दिया है जो महामुनिगणोंके नाथ जो परम योगी-श्वर उनके हृदयमें कमलके समान स्थित है, भवके कारणोंको जिसने विध्वंस करवाया है, जो प्रगटपने शुद्ध है । एकरूपसे सदा अपनी महिमामें लीन है तो भी सम्यग्दृष्टियोंके अनुभव गोचर है ॥

आगे कहते हैं कि आत्मा ही उपादेय है—

जस्स सण्णिहिदो अप्पा, संजमे णियमे तवे ।  
तम्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥ १२७ ॥



तथा कोई द्वैतको चाहते हैं परन्तु मैं द्वैत, अद्वैतसे रहित आत्माको ही नमन करता हूँ ॥ मैं आत्मा हूँ स्वसुखका चाहनेवाला हूँ इससे मैं अपने आत्माहीमें ठहरकर आत्माहीके द्वारा जन्म और नाशसे मुक्त ऐसे अपने आत्माको ही बारंवार भावता हूँ ॥ संसारके बढ़ानेवाले इन विकल्पोंके वचनोंसे पूरी पदो अर्थात् इनसे कुछ कार्म्यकी सिद्धि न होगी—यह आत्मा संहरहित आनन्दमई, सर्व नयोंके समूहोंका विषय नहीं है, न यह द्वैत तथा अद्वैतरूप है इसलिये मैं उसी एकको बिना विलम्बके सदा ही अपने संसारके भयको नाश करनेकेलिये वन्दना करता हूँ ॥ इस जन्ममें पापपुण्यके समूहमे उत्पन्न सुख और दुःख होता है । जिस आत्मामें न तो दुःखभाव न अनुभूति परिणति है, जो भवके परिचयसे अत्यन्तरहित तथा भवके करनेवाले औगुणोंके समूहोंसे विमुक्त है उसी आत्माको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ इस जगत्में नित्य ही यह चैतन्यका चमत्कार मात्र स्वरूप जयवन्त होहु । कैसा है स्वरूप, जो पापकी सेनाकी ध्वजाको हरनेवाला है, जिसने अपने स्पष्ट स्वाभाविक तेजसे पापोंके समूहोंको नष्ट कर दिया है तथा अत्यन्त प्रबल मोह अंधकार अस्त किया है और जो अत्यन्त शुद्ध है ॥ यह पापरहित आत्मीक तत्त्व जयको प्राप्त होहु । जिसने समस्त संसारको अस्त कर दिया है जो महामुनिगणोंके नाथ जो परम योगी-श्वर उनके हृदयमें कमलके समान स्थित है, भवके कारणोंको जिसने विध्वंस कर डाला है, जो प्रगटपने शुद्ध है । एकरूपसे सदा अपनी महिमामें लीन है तो भी सम्यग्दृष्टियोंके अनुभव गोचर है ॥

आगे कहत हैं कि आत्मा ही उपांश है—

जस्त सण्णिहिदो अप्पा, संजमे णियमे तवे ।  
तन्स सामादगं ठाई, इदि केवटिसासणे ॥ १२७ ॥

**सामान्य अर्थ**—जिसके संयम पालते नियम करते व तप धरते ए आत्मा ही निकटवर्ती है उसीके सामायिक स्थायी होती है ऐसा केवली आगममें कहा है ।

**विशेषार्थ**—जो निश्चय करके बाह्य प्रपंचजालोंसे अलग है, जिस सर्व इन्द्रियोंके व्यापारोंको जीत लिया है, जो भावी जिन है ऐसा मुनि ज पापक्रियाओंके त्यागरूप बाह्य संयममें तथा मनवचन कायकी गुप्ति सहि सर्व इन्द्रियोंके व्यापारसे वर्जित हो अभ्यंतर आत्मरूप संयममें तिष्ठता है तथा किसी मर्यादा रूप बांधे हुए कालतक किसी आचरणको करना है स्वरूप जिसका ऐसे नियममें रहता है तथा परब्रह्म चैतन्यमें नियत निश्चय अतरंग लीन और स्वस्वरूपमें अविचल स्थितिरूप चारित्र्य व व्यवहारनयके आधीन दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य, तप और वीर्य्य ऐ. पांच आचाररूप पंचमगति जो मोक्ष उसके कारणभूत चारित्र्यमें प्रवर्तता है और समस्त भावोंके प्रपंचोंसे रहित तथा सकल दुराचारकी निवृत्तिका जो कारण ऐसे तपश्चरणमें तन्मय होता है; उसी ही मुनिके परमगुरुके प्रसादसे प्राप्त जो निरंजन निज कारण परमात्मा सो सदा निकट ही रहता है । अर्थात् वह मुनि हरएक संयम, नियम और तपमें परमात्माकी शुद्धताको भावता है । ऐसे ही परद्रव्योंसे पराङ्मुख अर्थात् विरुद्ध, परमवीतराग सम्यग्दर्शी तथा वीतराग चारित्रवान मुनिके सामायिक वत सदा निष्ठनेवाला होता है ऐसा कथन केवली महाराजके आगममें कहा है ॥

**टीकाकार कहते हैं**—यदि मनमें शुद्ध सम्यग्दर्शन होता है तो यह आत्मा निश्चय ही परम यमके धारी मुनियोंके तपमें, नियममें, संयममें तथा सम्यक्चारित्र्यमें अतिशयसे विराजता है । ऐसे ही गमस्त रागकी मनोज्ञताको अस्त करनेवाले तथा संसारके भयको हरनेवाले आगामी तीर्थकम्पद प्राप्त करनेवाले आत्मामें यह स्वाभाविक ममता साक्षात् शाश्वती है ।

आगे कहते हैं कि रागद्वेषके अभावसे अपरिस्फुरूपपना अर्थात् हलन चलन रहितपना प्राप्त होता है—

जस्स रागो दु दोसो दु, विगडिं ण जणेति दु ।  
तस्स सामाद्विगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥ १२८ ॥

सामान्यार्थ—जिसके राग द्वेष विकार नहीं पैदा होते हैं उसीके सामाधिक स्थायी होता है ऐसा केवलीके आगममें कहा है ।

विशेषार्थ—जो परमवर्तिराग संयमी पापरूपी वनके जलानेको अग्निके समान हैं उनके न तो राग और न द्वेषका विकार पैदा होता है ऐसे ही महा आनन्दके चाहनेवाले जीवके तथा पंचेन्द्रियोंके फैलाव रहित शरीरमान् पारिव्रह्मके धर्मा मुनिके सामाधिक वत शाश्वतता अविनाशी होता है ऐसा केवली भगवानके शासनमें प्रसिद्ध है ॥ टीकाकार कहते हैं कि रागद्वेष विकारोंको करनेकेलिये महामुनि समर्थ नहीं हैं (१) । जिसने अपनी ज्ञानन्योतिसे पापरूपी सेनाका घोर अंधकार दूर कर दिया है, जो स्वाभाविक परमानंदरूपी अमृतसे पूर्ण है तथा नित्यही समताके रससे भरपूर है ऐसे मुनिकेलिये विधि और निषेधकी कौनसी गानि है ? अर्थात् रागद्वेष हैं व नहीं यह विकल्प ही नहीं उठ सकता ।

आगे कहे हैं कि आर्त रौद्रध्यानके त्यागसे ही सनातन सामाधिक वत होता है—

जो दु अहं च रुहं च, क्षाणं वज्जेदि णिच्चसो ।  
तस्स सामायिगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥ १२९ ॥

सामान्यार्थ—जो नित्य आर्त और रौद्र ध्यानको हटाता है उसीके सामाधिक वत स्थायी होता है ऐसा केवली महाराजके आगममें कहा है ॥

**विशेषार्थः—**जो कोई जीव नित्य निरंजन निज कारण सम्यक् स्वरूपमें स्थिर रह निश्चय परम वीतराग सुस्वरूपी अमृतके पान कर लवलीन है वह जीव तिर्यच योनि तथा नरक आदि गतिको प्राप्त करने निमित्त जो आर्त्त और राद्री दोनों ध्यान उनको नित्य ही त्यागता है उसीके निश्चयकरके केवल दर्शनधारी द्वारा सिद्ध किया हुआ शास्त्र

श्रावकके यह सामायिक अणुवतरूप होता है, ऐसा जिन शास्त्रनमें सिद्ध है

आगे शुभ तथा अशुभ परिणामोंसे उत्पन्न जो पुण्य और पाप कर्म उनके त्याग करनेका विधान बतलाते हैंः—

जो बु पुण्यं च पावं च, भावं वज्जेवि णिच्चसा ।  
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥ १३० ॥

**सामान्यार्थः—**जो कोई नित्य पुण्य और पाप भावोंको त्यागता है उसके सामायिकव्रत स्थायी होता है ऐसा केवली महाराजके आश्रममें कहा है ।

**विशेषार्थः—**जो बाह्य और अभ्यंतर परिग्रहको त्याग करना है लक्षण जिसका ऐसे लक्षणसे जो लक्षित (चिह्नित) हैं ऐसे परम जितेरी जिन योगीश्वरोंके चरण कमलोंका धोना, संवारना आदि वैष्णव अर्थात् सेवा करना उससे पैदा हुई जो आत्माकी शुभ परिणति विशेष उससे उत्पन्न हुआ जो पुण्यकर्म तथा हिंसा, असत्य, चोरी, अशुभ तथा परिग्रह इन पाँचों पापोंके परिणामोंसे पैदा हुआ जो अशुभ कर्म इन दोनों पुण्य और पापोंका जो कोई सामायिक वैराग्यकारी ब्रह्मके शिखरका शिखामणि है सो त्याग देता है । केहे ई ये दोनों कर्म, जो वैराग्यकारी श्रीके चित्तसके विभक्तकी वन्यभूमि हैं अर्थात् इन्हीं कर्मोंके



निमिषमे संसारमें जीव भ्रमण करता है ॥ इन्हीं कर्मोंके सागका त्यागी जीव नित्य केवली भगवान् द्वारा सिद्ध किया हुआ सामायिक वतको प्राप्त होता है ॥ टीकाकार कहते हैं कि सम्यग्दृष्टी जीव संसारके मूलभूत सर्व पुण्य और पापोंको त्यागकरके अपने नित्य आनन्दरूप सहज शुद्ध चैतन्य स्वरूपको प्राप्त होता है तथा उसी अपने शुद्ध जीवास्तिकायमें ही विहार करता है पश्चात् वही जीव अतिशयकरके तीन लोकके जनोंसे पूजनीक जिनेन्द्र केवली हो जाता है ॥ मैं नित्य ही उस आत्मज्ञानकी पूजा करता हूँ । जो स्वयं सिद्ध है पापपुण्यरूपी बनके जलानेकेलिये अग्नि समान है, महा मांहरूपी अधकारके दूर करनेको अत्यन्त तेजस्वरूप है, मुक्तिका मूल है, उपाधिरहित महा आनन्दका देनेवाला है तथा भव भवके भ्रमणको नाश करनेमें निपुण है ॥ यह जीव कामदेवसे उत्पन्न जो मुस उसकेलिये अपनी बुद्धिको क्षांभित किये हुए संसाररूपी बंधुके वरपनेको प्राप्त होकर पापरूपी कुलके सम्बन्धसे संसारमें अपने प्राण धारण करता है । कदाचित् अपनी गतिको बदलकर जब यह क्षीय मोक्षके भुग्नको प्राप्त करता है तब उस एक सुखको तज का फिर वह सिद्ध जीव अपनी अवस्थाको नहीं चलायमान करता है ॥ अर्थात् सदा एकाकार स्वभावमें तर्हीन रहता है ॥

आगे नव नोकषायोंके जीतनेसे सामायिक चात्रि प्राप्त होता है उसका स्वरूप कहते हैं—

जो दु हस्सं रइं सोगं, अरतिं वज्जेदि णिच्चसा ।

तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥१३१॥

सामान्यार्थ—जो हास्य, रति, शोक, अरति, जुगुप्सा, भय, तीनप्रकार वेद ऐसे सर्व नोकषायोंको नित्य दूर रखता है उसीके ही यह सामायिक स्थायी होती है, ऐसा श्रीकेवलीके शासनमें कहा है ।

विशेषार्थ—मोहनीय कर्म द्वारा उत्पन्न जो स्त्री, पुरुष, नपुंसकत्व, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा अर्थात् घृणा, ऐसे नव प्रकाश नोकपाय अर्थात् ईषत् ( किंचित् ) कपाय हैं इनसे संयुक्त जो कलंककरी कीचड़ उसमें सर्व ही विकारोंके समूहको परमसमाधिके बलसे जो कर्म निश्चयरत्नत्रयका धारी परम तपोधन मुनि त्यागदेता है उसीके ही निश्चयसे यह परम सामायिक नामका व्रत शाश्वत रूपसे रहता है। यही व्रत केवली भट्टारकके आगममें सिद्ध है ॥ टीकाकार—कहते हैं कि मैं संसार-रूपी स्त्रीसे पैदा जो मुसदुःखोंके समूह उनको करनेवाले सर्व ही नोकपायोंको हर्षपूर्वक त्यागता हूँ। ऐसा है यह नोकपाय, जो महा मोहमें अन्ये पक्ष में उनका द्वायम मदा ही मुगमतासे उपजा करता है, पान्थ जो आत्माकी समाधिमें लज्जान निरन्तर आनन्द मनस्व हैं उनके विनये इनका उपजना अत्यन्त दुर्लभ है ॥

आगे परमसमाधि अधिकारको संकोच करते हुए कहते हैं:—

जो दू धम्मं च सुजं च, ज्ञाणं ज्ञाणदि णियसा ।  
तस्स सामादगं ठाई. इदि केवलिसासणे ॥ १३३ ॥

सामान्यार्थ—जो काह नियम ही धम्मध्यान और शुद्धध्यानकी ध्याता है उसीके ही यह सामायिक स्थायी होता है ऐसा केवलीके आगममें कहा है ।

विशेषार्थ—जो काह मर्यादा ब्रह्म निर्मित करके ज्ञान और केवल ज्ञानका प्रमाण । आनन्दध्यान में तथा समान विद्वान्ताओंमें भूक परम ध्यान-वृत्ति का प्रमाण है जो अपने आनन्दीय है जाग्रत निष्ठा में निश्चय धम्म ध्यानका द्वारा तथा निश्चय शुद्धध्यानसे निरन्तर, सद्विषय, चरित, व्याख्यातक चरित्यक विद्वान्ताओंमें लक्षणरूप में जानाया जाना है ध्यानमें ही हुए मनुष्य काय किया आनन्द पराङ्मुख अर्थात् अज्ञान, सादृश्य,

अंतरंगका आधारभूत ऐसे आत्माका मनन करता है अथवा आत्मामें तन्मयरूप विकल्परहित परमसमाधिके ऐश्वर्यको कारण ऐसे धर्म और शुद्ध ध्यानोसे सदा मोक्षस्वरूप आत्माका ध्यान करता है उसीके ही निश्चयसे जिनेश्वरके आगममें प्रतिपादित नित्य शुद्ध मनवचन कायकी गुप्तिरूप परमगुप्त समाधि है लक्षण जिसका ऐसा अविनाशी सामायिक मत होता है ॥ टीकाकार कहते हैं—जो कोई शुद्ध रत्न-त्रयका धारी आत्मा शुद्धध्यानमें अपनी बुद्धिको परिणमाता है अथवा अपरहित परमानंद तत्त्वका है आश्रय जिसका ऐसे धर्मध्यानमें लीन होता है वही तत्त्वशाली अतिशयसे सम्पूर्ण भेदोंके अभावमें ऐसे किसी बिशाळ तत्त्वको प्राप्त करता है जिसमें बड़े २ दुःखजालोंका अन्त हो गया है तथा जो भव्यजीवोंके वचन और मनके मार्गोंसे दूर है । अर्थात् जो अतीन्द्रियभाव गम्य है ॥ भावार्थ—आत्माकी परमसमाधिसे उत्पन्न परमाभूतका पान करनेकेलिये आत्मस्वभावमें लवलीन ऐसे धर्मध्यान और शुद्धध्यानकी ही आवश्यकता है ॥ १३३ ॥

इसप्रकार सुन्दर कविरूपी कमलोंकेलिये सूर्य्यसमान पंचेन्द्रियके फँटावसे रहित शरीरमात्र परिग्रहके धारी भीषद्यप्रभमलधारि देव द्वारा कथित श्रीनियमसारकी तात्पर्य्यवृत्ति नाम व्याख्यामें परमसमाधि नामका ९ वां श्रुतस्कंध पूर्ण हुआ ॥

## परमभक्त्यधिकार ।



आगे परम भक्ति अधिकारको कहते हैं । प्रथम ही रत्नत्रयका स्वरूप वर्णन करते हैं—

सम्मत्तणाणचरणे, जो भक्तिं कुण्ड सावगो समणो ।  
तस्स दु णिव्वुद्धमत्ती, होवित्ति जिणेहिं पण्णत्तं ॥ १३४ ॥



आगे व्यवहारनयको प्रधान करके सिद्ध भक्तिके स्वरूपको कहते हैं.—

मोक्षसंगयपुरस्तापं, गुणभेदं जाणिऊण तेसिंपि ।

जो कुणदि परमभक्तिं, व्यवहारणयेण परिकहिंयं ॥ १३५ ॥

सामान्यार्थः—उन मोक्ष प्राप्त पुरुषोंके गुणोंके भेदोंको जानकर जो आत्मा उन गुणोंमें परम भक्ति करता है उसीके व्यवहार नयसे यह सिद्ध भक्ति कही गई है ॥

विशेषार्थ —जो समीचीन महात्मा सर्व कर्मोंके क्षय होनेमें उपाय-भूत ऐसा जो कारण परमात्मा उसको अपनी भेदरहित और उपचार रहित रत्नत्रयमें परिणतिके द्वारा भले प्रकार आराधन करके सिद्ध अवस्थाको प्राप्त हो चुके हैं उन सिद्धोंके शुद्धगुणोंके भेदोंको जानकरके जो कोई निकट भव्यजीव निर्वाणकी परंपरासे कारणभूत ऐसी परम उत्कृष्ट भक्तिको करते हैं उन ही मुमुक्षु जीवोंके व्यवहारनयसे निर्वृति भक्ति अर्थात् सिद्ध भक्ति होती है ॥ टीकाकार कहते हैं—जिन्होंने कर्मोंके समूहोंको धो डालाहै, जो सिद्धरूपी बंधुके घर हैं तथा जिन्होंने सम्यक् आदि आठ मुख्यगुणरूपी ऐश्वर्यको प्राप्त कर लिया है ऐसे मोक्ष स्थानमें निवासी सिद्ध भगवानोंको मैं निरय वंदना करता हूँ ॥ जिनेन्द्र भगवानने इस प्रकारकी बंध वंदकभावरूप भक्तिको व्यवहारनयसे कहा है । तथा शुद्ध रत्नत्रयस्वरूपमें जो भक्ति है सो निश्चय निर्वृति भक्ति है ऐसा वर्णन किया है ॥ आचार्योंने सिद्ध अवस्थाके विषयमें वर्णन किया है कि वह सिद्धभाव सर्व दोषोंसे दूर है, केवल ज्ञानादि शुद्ध गुणोंका स्थान है तथा शुद्धोपयोगका फलरूप है अर्थात् शुद्धोपयोग धारनेवाले सिद्ध अवस्थाकी प्राप्ति होती है ॥ जो श्री सिद्ध महाराज तीन लोकके अद्वितीय निवास करनेवाले हैं, भव भवके दुःखरूपी समुद्रके अंत घात भए हैं तथा निर्वाणरूपी निजबंधुके स्पर्शसे पैदा होनेवाले सुखकी रत्न हैं

मिथ्या जो कोई जीव बाह्य संसारके प्रलय मार्गमें भुग्यो होता है उसके जिस प्रकारसे यह योगभक्ति होमकती है। अर्थात् नती फलकाय है। ऐसा ही कहा है कि आत्माकी शुद्धिके उपयोगकी ओरता म. २५ जो चेश मन ही गति उस गतिका प्रत्यक्ष संयोग होता तो ही प्राप्त कर गया है। टीकाकार कहते हैं—जा आत्मा अपने आत्माको जान आत्माके द्वारा अपने आत्मामें ही निरन्तर योग करता है वही मुक्तिवर निश्चय योगभक्तिमें संयुक्त होता है ॥

ପଠକ ଏବଂ ଶ୍ରୀମତୀ ନିଧିଆ ଗୁପ୍ତାଙ୍କଦ୍ୱାରା ପ୍ରସ୍ତୁତ କରାଯାଇଛି ।—

सम्यग्निष्पत्त्याभावे, अप्याणी जां दुर्जने साद्व ।  
 श्री योगभक्तितृप्तौ, इदमस्म कर्तुं हरे नमो ॥१२८॥

[illegible]

(중국어) 1. 이 책은 이 나라의 역사를 다루고 있다. 2. 이 책은 이 나라의 역사를 다루고 있다. 3. 이 책은 이 나라의 역사를 다루고 있다. 4. 이 책은 이 나라의 역사를 다루고 있다. 5. 이 책은 이 나라의 역사를 다루고 있다. 6. 이 책은 이 나라의 역사를 다루고 있다. 7. 이 책은 이 나라의 역사를 다루고 있다. 8. 이 책은 이 나라의 역사를 다루고 있다. 9. 이 책은 이 나라의 역사를 다루고 있다. 10. 이 책은 이 나라의 역사를 다루고 있다.

[illegible]

विपरीयाभिणिवेसं, परिचत्ता जोण्हकहियतचेसु ।

जो जुंजदि अप्पाणं, णियभावो सो हवे जोगो ॥१३९॥

सामान्यार्थः—जो विपरीत अभिप्रायको छोड़ करके जैन शासनमें कहे हुए तत्त्वोंमें अपने आत्माको योग करता है वही आत्माका निज भाव, योग कहलाता है ।

विशेषार्थः—जैन सिवाय अन्य धर्मोंके कर्त्ताओंद्वारा कहे हुए विपरीत पदार्थोंमें राग भावका होना वही दुराग्रह है अर्थात् एक भारी हठ है तथा इसीका नाम विपरीत अभिप्राय है । क्योंकि पदार्थ अनेकानुरूप है सो स्यादादिके द्वारा ही यथार्थ प्रतिपादित हो सकती है । इसलिये उस दुराग्रहको त्यागकर जैन आगममें कहे हुए तत्त्वोंको निश्चय और व्यवहार नयोंके द्वारा जानना योग्य है ॥ सकल जिन जो अरहंत भगवान् तीर्थनाथ उनके चरण कमलोंकी सेवा करनेवाले जैन हैं, सो निश्चयसे श्री गणधर देवादि मुनीश्वर हैं । इन आचार्योंके द्वारा वर्णन किये गए जो सम्पूर्ण जीवादितत्त्व उनके अनुभवमें जो कोई परम जितेन्द्री योगीश्वर अपने आत्माको जोड़ देता है उस योगीका जो अपना आत्मीक भाव है वही परम योग है ॥ टीकाकार कहते हैं कि जैन मुनियोंके नाथ श्री तीर्थकर अथवा गणधरदिकोंके द्वारा प्रगट किये हुए तथा भव्यजनोके संसारको घात करनेवाले तत्त्वोंके अंदर जो कोई जिन वीतरागी योगिनाथ अपने अनादि परसमयमें होनेवाले विपरीत बुद्धिरूप दुराग्रहको त्यागकर साक्षात् अपने आत्मीक अंदर भावको तन्मय करता है उसीके ही भावयोग कहलाता है ॥

आगे भाकि अधिकारको संकोचते हैंः—

उसहादिजिणवरिंदा, एवं काऊण जोगवरभचिं ।

णिब्वुदिसुहमायण्णा, तद्दा धरु जोगवरभचिं ॥१४०॥

**सामान्यार्थः—**श्री वृषभतीर्थकरसे आदि लेय श्री महाराज जिने पर्यंत २४ तीर्थकरोंने इसी प्रकारसे योगकी उत्कृष्ट भक्ति करके मोक्ष सुखको प्राप्त किया है इसलिये तुम भी इसी योगकी श्रेष्ठ भक्ति धारण करो ॥

**विशेषार्थः—**इस भरतक्षेत्रमें इस अवसरपिणी कालमें श्री नाभेश्वर ( नाभिराजाके ) पुत्र श्री कृष्णभसे लेकर श्री वर्तमान पर्यंत चौंसठ तीर्थकर परमदेव सर्वेश्वर त्रितराय तीन लोकमें अपनी कीर्तिको विस्तारनेवाले महादेवाधिदेव परमेश्वर हो गए हैं, इन सबोंने ऊपरकी गाथाओंमें कहे अनुसार अपने ही आत्मस्वरूपमें सम्बन्ध रखनेवाली शुद्ध निश्चय योगकी उत्कृष्ट भक्ति की थी, इसीमें परम निर्गुणरूपी कृष्ण गाढ़ मुसकिल शरा श्रेष्ठ नौ परम मन्दिर समरूपी अमृत उसमें अपने सर्व अमलेश्वर आत्मवेशोंको तुम करो हुए इसलिये वे स्पष्ट मध्यस्थनेके गुणोंको धारनेवाले प्रजापत्यो ' तुम भी इसी ही योग भक्तिको करो जो अपने आत्माके प्रयातनमें परम त्रितराय मुखाको देनेवाली है ॥ टीकाकार कहते हैं 'इसमें श्री परमात्मा त्रितरायको स्तुति करना हुआ है किने हैं प्रेम, गुणोंके साक्षी हैं गीत दाऊका परिवार करनेवाले व गुणवत्ते करनेवाले हैं 'तनका इशारेके इस भावन मुहूर्तको नभीमाकर मकरके 'कनका १०००० भागकपीके समुद्र उनमें पूरा करने हैं तथा 'तनका नकर ६-३० जाई प्रामाद 'विषोंके मापके भाग ६-३० नल ३३०० नमो १००-१०० त्रितराय प्रामाद ६-३० नमो १०००० 'तनका १०००० ३०००० की है तथा जो कीर्तिकी टीका के नमो १०००० त्रितराय १०००० मलिन विषोंके वृद्ध करने उनी द्वापुत्र भाग्य साधन भाग्य करी है त्रितराय त्रितराय ॥ कृष्ण अनुसृत मुनिके वर 'कनका १०००० नौ भागके मुनिके 'नौ द्वाका १०००० की उद्भूत की अथ 'कनका १०००० १०००० नमो १०००० त्रितराय १०००० नमो १०००० की है



जीवोंकी निय यह भक्ति कभी चाहिये ॥ अपने पितरों राग और द्वेषकी परंपरासे होनेवाली जो परिणति उसको छोड़कर अब मैं शुद्ध ध्यानसे अपने मनको संयुक्त करके आनन्दमय आत्मतत्त्वमें स्थित होता हुआ तथा श्रीगुरुके निकट दक्षिणमुखी करनेवाले धर्मका लाभकर अपने सम्पन्नज्ञानसे समस्त मोहकी मर्मिकाको हटाता हुआ परम ब्रह्मस्वरूप परमात्मामें लीन होता हूँ ॥ जो अतीन्द्रिय मुखके लोटुपी हैं तथा निम्नहोने अपना चित आत्मतत्त्वके लोभमें बसा दिया है उनको गुरु आनन्दमें भरपूर यह उत्तम तत्त्व प्राप्त होता है ॥ जो यती अत्यन्त अपूर्व अपने आत्माकी भावनासे उत्पन्न जो परम गुरु उसके लिये यत्न करते हैं वे ही यती निश्चयकरके जीवन्मुक्त होने हैं दूसरे नहीं ॥ मैं मात्र एक ही परमात्म तत्त्वकी पुनः पुनः भावना करता हूँ । जो इन्द्रहित है, अद्वैत है, परम हितकारी इष्ट है तथा सर्व पापोंसे दूर है ॥ केसा हूँ मैं मुक्ति नियाका अभिप्रायी हूँ संसारके सुखोंका निगमितापी हूँ मुझको परमात्म तत्त्वके सिवाय अन्य पदार्थोंके संबंध करनेसे कौनसे पदकी प्राप्ति होगी ? अर्थात् कुछ न होगी । भावार्थ—जो जिसको चाहें उसीको भजे । जो परमात्मा होना चाहता है उसके लिये उसी तत्त्वकी भावना काव्यकारी है ॥

इति श्रीकविजनरूपी कमलोटोके लिये सूर्य पंचेन्द्रियके विस्तारसे रहित शरीरमात्र परिग्रहके पापी भीषणमम-मलधारी वैव दाय रचित धीनियमसार ग्रंथकी तात्पर्यवृत्ति नामकी संशुद्धप्याख्या तिसमें परमभक्ति नामा दशवीं श्रुतस्कंध पूर्ण हुआ ॥ १५० ॥

# निश्चयावश्यकधिकार ।



आगे सामायिक प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, स्तुति, वंदना, कायोत्सर्ग ऐसे छः आवश्यक व्यवहार उनसे प्रतिपक्षी जो शुद्धनिश्चय उसका अधिकार कहते हैं ।

प्रथम ही कहते हैं कि जो निरन्तर अपने वश है उसीके निश्चय आवश्यक कर्म होता है:—

जो ण हवदि अण्णवसो, तस्स तु कम्मं मणंति आवासं ।  
कम्मविणासणजोगो, णिव्वहिमग्गोत्ति पिज्जुत्तो ॥१४॥

सामान्यार्थः—जो दूसरेके वश नहीं रहता है उसीके आवश्यक कर्म होता है ॥ यही कर्मोंके नाश करनेमें समर्थ मोक्षदा मार्ग है, ऐसा कहा गया है ॥

विशेषार्थः—जो कोई निश्चयसे श्रीतिनेन्द्रके मार्गमें यथार्थ सिद्धिक अनुसार आचरण करनेमें कुशल अर्थात् चतुर है, जो सदा ही अंतर्निर्मित होकर किसी भी अन्यके आधीन नहीं होता किन्तु शाश्वत अपने आत्माहीके आधीन रहता है वही व्यवहार क्रियाके आह्वयोंके विषय उद्दामान का जाता है तथा उसीके अपने आत्माहीके उद्देश्यमें रहनेवाला ऐसा निश्चय सम्मज्जानवस्था प्राप्त परम नाशक कर्म होता है । ऐसा निरन्तर परमावधारणमें उद्भूत परम वीर्यवाना दानवीर कहते हैं । यथान्त यही है कि मन चयन काय की मुक्तिमें गुप्त एता जो परम समर्थ वही है नक्षत्र विषय ऐसा जो परमपद वही सर्व कर्मोंके विनाश करनेका कारण है तथा वही नाशक भाव का कारण होनेमें निर्निहाय वही है, ऐसा अनुमान है । एता ही

भी अधुना धर्म-सूरीय कहा है—यह आत्मा शुद्धोपयोगको प्राप्तकर स्वये अपने धर्मरूप होता हुआ तथा नियम आनेसे व्याप्त सत् ज्ञानतत्त्व-कर्षा गरोवरमें दृढाहुआ, अतिशयकरके अपने निष्कलपनेसे सम्पन्नरहित होता हुआ जो प्रकाश उससे अपनी ज्योतिको स्फुरावमान करता हुआ स्वभावहीसे शोभायमान जो समवदमई रज्जुए उसमें निवास करनेवाली मुक्ति लक्ष्मीकी प्राप्त करता है ॥ टीकाकार करते हैं कि साक्षात् अपने आत्माके आधीन रहनेगला जो आवश्यक कर्मरूपी धर्म सो अतिशयकरके साधिदानेई मूर्तिधारी आत्माहीकेविषे नियत-रूपसे प्राप्त होता है । यही धर्म कर्मोंके क्षय करनेमें कुशल है और मोक्षका एक मात्र यही मार्ग है । इसहीके द्वारा मैं जिस तरह होसके शीघ्र ही विकल्परहित सुखको प्राप्त होता हूँ ॥

आगे कहे हैं जो स्वार्थान परम वीतरागी योगीश्वर हैं उन्हींके यह परम आवश्यक कर्म अवश्य होता है—

ण वसो अयसो अयस,—स कम्ममायासयंति बोधव्वा ।  
जुच्चिचि उपाअंति य, णिरययवां हांदि णिज्जेत्ती॥१४२॥

सामान्यार्थ—जो किसीके आधीन नहीं है वह अवश है । स्वार्थान के ही आवश्यक कर्म होना है ऐसा जानना चाहिये । यही मुक्ति है, यही उपाय है तथा यही अवयव परद्रव्य अर्थात् उससे रहित निष्किक होती है ।

विशेषार्थ—निष्कामसे योगी अपने आत्मस्वरूपके ग्रहण करनेके कारण अन्य वस्तुओंके वश नहीं होता है अतएव अवश अर्थात् स्वार्थान रहता है । जो अवश परम वीतरागी योगीश्वर होता है उसके निष्काम धर्मध्यान स्वरूप जो परम आवश्यक कर्म सो अवश्य ही होता है ऐसा जानना चाहिये । निरवयव (कायसे रहित) होनेका उपाय उक्ति है । अवयवी अर्थात् काय उसका अभाव सो निरवयव है । जो परद्रव्योंके

## निश्चयावश्यकधिकार ।



आगे सामायिक प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, स्तुति, वंदना, कायोत्सर्ग ऐसे छः आवश्यक व्यवहार उनसे प्रतिपक्षी जो शुद्धनिश्चय उसका अधिकार कहते हैं ।

प्रथम ही कहते हैं कि जो निरन्तर अपने वश है उसीके निश्चय आवश्यक कर्म होता है:—

जो ण हवदि अण्णवसो, तस्स दु कम्मं मणंति आवासं ।  
कम्मविणासणजोगो, णिव्वहिमग्गोत्ति पिज्जुत्तो ॥१४१॥

सामान्यार्थः—जो दूसरेके वश नहीं रहता है उसीके आवश्यक कर्म होता है ॥ यही कर्मोंके नाश करनेमें समर्थ मोक्षका मार्ग है, ऐसा कहा गया है ॥

विशेषार्थः—जो कोई निश्चयसे श्रीजिनेन्द्रके मार्गमें यथार्थ विधिके अनुसार आचरण करनेमें कुशल अर्थात् चतुर है, जो सदा ही अंतरंगमें लीन होकर किसी भी अन्यके आधीन नहीं होता किन्तु साक्षात् अपने आत्माहीके आधीन रहता है वही व्यवहार क्रियाके आहंवरोंके प्रपंचसे उदासीन हो जाता है तथा उसीके अपने आत्माहीके अभ्रयमें रहनेवाला ऐसा निश्चय धर्मध्यानरूपी प्रधान परम आवश्यक कर्म होता है । ऐसा निरन्तर परमतपश्चरणमें लवलीन परम वीतरागी योगीश्वर कहते हैं । प्रयोजन यह है कि मन वचन काय-की गुणियोंमें गुप्त ऐसी जो परम समाधि वही है लक्षण जिसका ऐसा जो परमयोग वही सर्व्व कर्मोंके निनाश करनेका कारण है तथा यही साक्षात् मोक्षका कारण होनेसे निर्वृत्तिका मार्ग है, ऐसी व्युत्पत्ति है । ऐसा ही

भी अमृतचंद्र-सूराने कहा है—यह आत्मा शुद्धोपयोगको प्राप्तकर स्वयं अपने धर्मरूप होता हुआ तथा नित्य आनंदसे व्याप्त सत् ज्ञानतत्त्व-रूपा सरोवरमें डूबाहुआ, अतिशयकरके अपने निश्चलपनसे कम्परहित होता हुआ जो प्रकाश उससे अपनी ज्योतिको स्फुरायमान करता हुआ स्वभावर्हासे शोभायमान जो रत्नत्रयमें रत्नद्वीप उसमें निवास करनेवाली मुक्ति लक्ष्मीको प्राप्त करता है ॥ टीकाकार कहते हैं कि साक्षात् अपने आत्माके आधीन रहनेवाला जो आवश्यक कर्मरूपा धर्म से अतिशयकरके सच्चिदानन्द मूर्तिधारी आत्माहीकेविषय नियत-रूपसे प्राप्त होता है । यही धर्म कर्मोंके क्षय करनेमें कुशल है और मोक्षका एक मात्र यही मार्ग है । इसहीके द्वारा मैं जिस तरह होसके शीघ्र ही विकल्परहित सुखको प्राप्त होता हूँ ॥

आगे कहे हैं जो स्वार्थान परम वीतरागी योगीश्वर हैं उन्हींके यह परम आवश्यक कर्म अवश्य होता है:—

ण वसो अघसो अघस,—स्त कम्ममावासयंति बोधव्या ।  
जुच्चिचिउयाअंति य, णिरघयवो होदि णिज्जेत्ती॥१४२॥

सामान्यार्थ—जो किसीके आधीन नहीं है वह अवरा है । स्वार्थान के ही आवश्यक कर्म होता है ऐसा जानना चाहिये । यही युक्ति है, यही उपाय है तथा यही अवयव परद्रव्य अर्थात् उससे रहित निश्चि होती है ।

विशेषार्थ—निश्चयसे योगी अपने आत्मस्वरूपके ग्रहण करनेके कारण अन्य पदार्थोंके वश नहीं होता है अतएव अवश अर्थात् स्वार्थान रहता है । जो अवरा परम वीतरागी योगीश्वर होता है उसके निश्चय धर्मध्यान स्वरूप जो परम आवश्यक कर्म से अवश्य ही होता है ऐसा जानना चाहिये । निरवयव (कायसे रहित) होनेका उपाय उक्ति है । अवयवी अर्थात् काय उसका अभाव से निरवयव है । जो परद्रव्योंके

वश नहीं होता वही निरवयव अर्थात् अकार्य हो जाता है ऐसी निष्क्रि  
अर्थात् व्युत्पत्ति है ॥ टीकाकार कहते हैं जो कोई योगी अपने आन-  
हित में लीन रहता है वह शुद्धजीवास्तिशायको छोड़कर अन्य पदार्थोंके  
वश नहीं होता है—इस प्रकार अवस्थाका होना सो निष्क्रि है । इसी  
कारणसे इस योगीके अमूर्तीकरण प्राप्त होता है । कैसा है अमूर्तीकरण,  
जो इस योगीके पापरूपी अंधकारके नाशसे निच्य स्फुरायमान होती हुई  
जो ज्योति उससे प्रगट जो स्वाभाविक अवस्था उससे युक्त है ।

आगे कहते हैं कि जो भेदरूप उपचार अर्थात् व्यवहार रत्नत्रयकी  
परिणतिमें रहता है उस जीवके अवग्रहपना नहीं होता है:—

वदुदि जो सो समणो, अण्णवसो होदि असुहमावेण ।  
तम्हा तस्स दु कम्मं, आवस्सयलक्खणं ण हवे ॥१४३॥

सामान्यार्थः—जो कोई श्रमण अर्थात् मुनि अपने अशुभ भावके-  
द्वारा आत्माके सिवाय अन्य पदार्थके वश हो जाता है इसी कारणसे  
उसके आवश्यक कर्म नहीं होता है ॥

विशेषार्थः—अप्रशस्त राग आदि अशुभ भावोंके द्वारा जो कोई  
श्रमणाभास अर्थात् द्रव्यलिङ्गी मुनि वर्तन करता है और अपने स्वरूपसे  
भिन्न जो अन्य परद्रव्य उनके वशमें हो जाता है उस जघन्य रत्नत्रयमें  
परिणमन करनेवाले जीवके अपना आत्मा ही है आश्रय जिसका ऐसा  
धर्मध्यान लक्षण जो परम आवश्यक कर्म सो नहीं होता है । भोजनके  
अर्थ द्रव्यलिङ्गीको धारके अपने आत्मीक कार्यसे विमुक्त रह परमतप-  
श्चरणसे उदासीन होकर जिनेन्द्र मंदिर व उसका क्षेत्र व मकान व धन  
धान्यादि मेरा है ऐसा मनमें किया करता है ॥ भावार्थ । ऐसे द्रव्यलिङ्गीके  
धर्मध्यान नहीं हो सकता । टीकाकार कहते हैं—तनि भवनरूपी मकान-  
में भरे हुए अंधकारके समूहसे व्याप्त ऐसे तृणके घरको भी जो मुनि

तीव्र क्रोधय भावसे छांद शुभ है बे ही मुनि यदि हम वांछास्थोक्त अनुपम  
वचनके स्थानकी भाव करने हैं तो ऐसे मुनियोंका यह कोई नवीन भावनी-  
कर्मका कार्य है ॥

हम कलिकाल वंशकालमें कभी कोई ही पुण्यात्मा जीव मुनि होकर  
विश्यादादि कलंककी बीजसे अलग रहता है और अपने मध्य आध्यात्मिक  
धर्मकी रक्षा करता है । वेदा है मुनि, जो अनेक प्रकारक परिग्रहोंमें  
जलमें है तथा वायव्यी धर्मके श्रवण करनेको अभिष्ट है सो मुनि इसलोक  
और परलोकमें देखेंसे पूजा जाता है ॥ इस लोकमें यह तपस्या सम्पूर्ण  
सुखमान भक्त पुरुषोंको प्राणायाम्यागी है तथा निम्नर सो इन्द्रोसं नम-  
स्कारके योग्य है ऐसी तपस्याको पाकरके जो कामक अधिकारस प्राप्त  
संसारिक मुक्तमें समता है सो महात्मा जटवुद्धि है । यह है कि उसने  
अपनी बहुत बिगाट दिया ॥ जो मुनिदेवको ध्यानेवाला भी है परन्तु  
आमाके सिवाय अन्य पर पदार्थके आर्पण है वह संसारी है और निश्चय  
सुखोंको भोगनेवाला है । तथा जो अपने आत्माके वश है वह जीवन्मुक्त ही  
है श्री जिनेश्वर देखेंसे कुछ ही कम है ॥ अतएव तीर्थकर भगवानके मार्गके  
धारी मुनिसमूहमें जो मुनि स्ववश है, अपने आत्माके ही आर्पण है  
वे ही शाभाको पाते हैं । परन्तु जो आत्माके सिवाय पर पदार्थके वश होते  
हैं वे ऐसे ही प्रतिभासते हैं जैसे चाकरोंके समूहमें वह चाकर जिसको  
राजा अपनी सुखामई व हमें हों मिटा देनेके कारणसे प्यार करता है  
अर्थात् जो सुखामई राजबडभ पाकर होगा वह सदा परार्पण होगा ।  
ऐसा ही वह आत्मस्वरूपमें बाध मुनि है ॥

आगे फिर भी अन्यके आर्पण जो अशुद्ध अंतरात्मा जीव उसीका  
लक्षण कहते हैं:-

जो परदि संजदो खलु, सुहभाये सो हवेइ अण्णवसो ।  
तस्मा तस्स दु कम्मं, आवासयलक्खणं ण हवे ॥१४४॥

सामान्यार्थः—जो संयमी मुनि शुभ भावमें प्रवर्त्तन करता है :  
भी अन्यके आधीन हो जाता है इसलिये उसके आरक्षक दक्षन  
निसका ऐसा कर्म नहीं होता है ॥

विशेषार्थः—जो कोई साधु त्रिनेन्द्रके मुक्तकमलदास प्रभट जो पर  
आचार शास्त्र उसके क्रमसे सदा संयमको पालते हुए शुभोपयोगमें चक  
हैं अर्थात् व्यवहारिक धर्मध्यानमें परिणमन करते हैं। अतएव वा  
आचरणके पालनेमें प्रधान रहते हैं। स्वाध्याय कालको वेसक  
स्वाध्याय करते हैं, प्रतिदिन एकवार भोजन करके चार प्रकारके आहार  
का त्याग करते हैं, तीनों सध्याओंमें अर्थात् प्रातः शोषहर और संध्याको  
१०० ईश्वरीय मन्त्रोंकी अर्चना भगवान् परमेश्वरकी स्तुति पढ़ते हैं,  
तीनों कालोंके नियमोंमें लीन रहते हैं इस प्रकार रात्रि रिनमें ग्याय  
क्रियाओंमें तत्पर रहते हैं। तथा प्रातःक, मासिक, चानुमासिक तथा  
वार्षिक प्रतिक्रमण पाठके मुननेमें उत्पन्न हुआ जो सतोष उममें रोमां-  
चित शरीर हो जाने में और मनमन मनमोह्ये सगतिपाय  
हृदयमिमध्यान, शासनशायनमन मन कायकर्म पमे उः वस  
तर्पणमें सदा इन्माहय लीन रहते हैं तथा स्वाध्याय ध्यान, तथा शुभ-  
चरणमें गिरकर फिर उर्सीमें स्थित होना ऐसा ही प्रायश्चित्त तथा दिन  
वेष्ट्यावृत्त और व्युत्पन्न ऐमे उः अतएव तर्पणके आचरण करनेमें अनुर कुत्त-  
मान होते हैं किन्तु वे निरपेक्ष अर्थात् इच्छाहित मुनि साक्षात् मोक्षका  
कारण जो आत्मव्यक्त उसकी आत्मव्यक्त जो आरक्षक कर्म अर्थात्  
निष्काम धर्ममनमन ईश्वरीय जो निष्काम धर्ममें ध्यान तथा हृदयध्यान  
उनका नहीं जानते हैं इसाहय आत्मव्यक्तमें निष्काम जो पर धर्म उनका  
मोक्षन ही है, इसाहय उनका मर्यादक ही है वही शास्त्रीय मुनि ज्ञान  
धर्ममें लब्धक अर्थात् ईश्वरीय धर्म हृदयकर्म जो ईश्वरीय धर्मधर्म  
मोक्षन ही है ईश्वरीय धर्मधर्म जो ईश्वरीय धर्मधर्म धर्मधर्म ही है।





सहज ज्ञान आदि शुद्ध गुण और शुद्ध पर्यायोंको सेवनेवाला अपना अहंकार  
उसके तत्त्वमें कभी भी अपने उपयोगको नहीं संयोज करता है, इसी  
कारणसे ऐसा तपोधन अर्थात् मुनि भी अन्यवश है-पराधीन है ऐसा  
कहा गया है। दर्शन मोहनी और चारित्र्य मोहनी कर्मोंके ध्वंस करनेवाले  
क्षय करनेवाले तथा परमात्मतत्त्वकी भावनासे उत्पन्न जो संतुष्ट  
सुखरूपी अमृत उसके पीनेमें इतना ही है जो महामुनि परमपुरुषको  
आदिक वे निश्चयसे अन्यवश अर्थात् पराधीन मुनिका ऐसा ही स्वरूप  
कहते हैं ॥ ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है। जो परमज्ञ स्वरूपमें ठहरने  
वाली है उनको आत्मकार्यके सिवाय अन्य प्रत्यक्ष और परोक्षसे किसी  
चित्ताभासे क्या लाभ है? ॥ टीकाकार कहते हैं-जबतक जिसके  
चिन्ता है जबतक ही सत्ता है, जैसे जबतक ईश्वर है तभीतक सम्बन्ध  
(अग्नि) का बढ़ना है ॥

आगे साक्षात् प्यार्थन परम जिनयोगीश्वरका स्वरूप कहते हैं-

पश्चिक्ता परमायं, अप्पाणं ज्ञात्वा जिम्मल्लसहायं ।  
अप्पज्जमो सो होवि नु, तस्स नु रुम्मं भणंति आयासं १४९

सामान्यार्थ—जो साधु परमेश्वरको त्यागकर निर्विकारभावमें  
जानाको जाना है उसी निश्चयसे आसक्त अर्थात् साधने लागे है।  
तथा उसीके आश्रयक कम हुआ ऐसा कहते हैं।

विशेषार्थ—जो कोई मुनि उपनिषद् के सिद्धांत निरवरोध रूपमें  
धरने के कारण आदितिक आदि परमात्माके विद्वत्पुरुष स्थान में है  
जो बल बलन कायस मालूम होता ही आसक्तपुरुष होनेसे निर्विकार  
स्वभावमें है तथा सम्यक् ज्ञानसे ही परमात्माको सेवाकी वाक्यको  
दृढ़तासे निश्चयसे परमात्माको आश्रय है ही माना है। तथा  
कहा गया है कि जब भी परमात्माके निश्चय करनेसे साधक को

ऐसे साधुके ही सर्व बाह्य क्रियाकी वह आभरण लगन्धी नानाप्रकार विद्वान्कोके महा कोटाहठ उनसे विराधी ऐसा जो महा आनन्दका देने-  
वाला निष्काम धर्मदान और ध्यानाधार परमआवश्यक कर्म से होता है ॥ टीकाकार कहते हैं—यह उदात्त बुद्धिका धारी स्वार्थीन योगियोंके समूहमें मुख्य मुनि जयन्त होहु । कैसा है मुनि, जिसने संसारके कारण आधरको नष्ट कर दिया है तथा पूर्वमें बाधित कर्मोंके समूहोंको विध्वस्त किया है । यही साधु अपने यथार्थ प्रगट और हठ विवेक अर्थात् भेदज्ञानसे हर्षसहित सर्वथा संसारसे निर्गुनरूप मोक्षको प्राप्त करता है । कैसी है यह निर्गुति, जहाँ यथार्थ शुद्ध ज्ञान प्रकाशमान है तथा जो सदा ही आनन्दमय है । जिनोंने कामदेवके पांच बाणोंको तोड़ डाला है, जो दर्शन ज्ञान चरित्र तप वीर्य ऐसे पांच आधारोंसे शोभनीय है आहूतिवान् है तथा मायाचारसे रहित है ऐसे गुरुके वचन ही मुक्तिरूपी संपदाके कारण हैं ॥ जो कोई निर्वाणके कारण जिनन्दके मार्गको इस प्रकार जानकर निर्वाणकी संपदाको प्राप्त करता है उसको मैं पुनः पुनः नमस्कार करता हूँ ॥ हे योगेश्वर अपने आत्म-  
स्वभावके वशवर्ती योगके होनेसे सुन्दरकी और सुवर्णकी इच्छाको दूर करनेवाले तुम हो । जो कामदेवरूपी व्याधके बाणोंसे पीडित चित्त है उनको इस संसारवनमें कोई वचनशाला नहीं है ॥ अनशन आदि तप-  
धरणोंसे तो मात्र शरीरका सूखना ही फल है और कुछ नहीं है परन्तु मैं आपके चरणकमलोंकी चित्तमें लवटीन हूँ तथा स्वार्थीन हूँ इससे मेरा जन्म सदा सफल है ॥ स्वाभाविक तेजके समूहमें मद्य पुष्पकी जय होहु । कैसा है यह तत्त्वज्ञानी नर, जो अपने आत्मिक रसके प्रवाहमें पापोंको सर्व तरफसे धोबुका है । स्वाभाविक समताके रससे पूर्ण है, पुण्यात्मा है, समीचीन है, अपने आर्षीन अपने मनको किये हुए निष्काम विराज-  
मान है तथा अत्यन्त शुद्ध विद्ध समान है ॥ श्री सर्वज्ञ वीतराग भगवान्-

के और स्वाधीन आत्मवश योगीके कहीं भी कोई भेद नहीं है। पान् हम लोग मूर्ख जड़बुद्धि हैं, चैतन्य स्वभावको न जानकर मोही हैं। इस संसार में एक वही महामुनी सदा धन्य है जो अपने आत्माके रक्ष है तथा अन्य पदार्थ में बुद्धिको नहीं रखनेवाला है और जो सब कर्म कोटोंसे बाहर रहनेवाला है ॥

आगे शुद्ध निश्चय आश्रयककर्मकी प्राप्तिके उपायके स्वरूपको कहते हैं:—

आवासं जइ इच्छसि, अप्ससहायेसु कुणहि धिरमार्गं ।  
तेण दुसामण्णगुणं, संपुण्णं होवि जीवस्स ॥ १४७ ॥

सामान्यार्थ—यदि तू आश्रयक कर्मको चाहता है तो तू आश्रय-सहायोंमें स्थिरावस्था कर । इसीकरके जीवके सामायिक गुण संपूर्ण होता है ॥

विशेषार्थ—इस संसारमें सामायिक, प्रतिक्रमण आदि कार्य का आश्रयक कर्मके प्राप्ति जातेके कष्टकष्ट साधको करने तथा मुननमें उदाग क शिष्य । यदि तू संसारवृत्त समूहके भूतों काउनेके कुल्हाड़के समान शुद्ध निश्चय भूमिजान तथा शुद्ध ध्यानध्यान अपने ही आत्माके आश्रयमें रहनेवाला आश्रयक कर्मको चाहता है तो तू समस्त विह्वलताओंमें मुक्त निरंतर अपने ही परमात्माके साक्षात्कार में साक्षात्कार करने करिष तथा साक्षात्कार मूल आदि भावोंमें निरंतर अपने निश्चय स्थिर भावों कर । इसी उपायमें निश्चय सामायिक गुण उत्पन्न होवे । जो नीच भोगका इच्छुक है उसके भाव काउने उ-पश्रयक विद्याओं तथा विधिही होती । अर्थात् कहें तो उपश्रय-उपश्रय काउने काउने कष्टका जान न होकर । इस कारण भावों में एक ध्यान तथा सामान्य काउने तथा नहि (कामादि) निश्चय में उपश्रयकम्पन इसीके द्वारा तावको आत्मनिक प्राप्ति को पूर्ण करे

लभ होवेग्य ॥ ऐसा ही भी योगेन्द्रदेवने करा है—यदि किसी निमित्तसे तेरा मन अपने स्वरूपसे बाहर जाता है तो तुझे सर्व शेषोंका प्रभु बन आता है और यदि हे भव्य ! तू निरन्तर अंतरंगमें मग्न हो अपने बिम्बको आपसे लवलीन करता हुआ स्थिर स्वभावरूप हो जाता है तो तेरे समारका अंत हो आता है ॥ टीकाकार कहते हैं—इस प्रकारका जो अपने आत्मामें नियत रूपसे रहनेवाला आचरण है सो सर्व संसारके दुःखोंका निवारणवाला है तथा मुक्तिरूपी शुन्दर लटनासे उत्पन्न होनेवाला जो मुख उसका अतिशयसे कारण है । ऐसा भठे प्रभाव समझकर जो कोई अपरहित समय अर्थात् आत्मा उसके सारको अर्थात् शुद्धात्मस्वरूपको सर्वदा जानता है वही मुनियोंका पति सर्व बाध क्रियासे दटा हुआ पाप बन्के दग्ध करनेको अग्नि समान होता है ॥

आगे शुद्धापयोगके सम्मुख जो शिष्य उसको शिक्षा करते हैं—

आवागएण हीणो, पम्मटो होदि चरणदो समणो ।  
पुप्पुत्तकमेण पुणो, तद्वा आवासयं कुज्जा ॥ १४८ ॥

सामान्यार्थः—जो भ्रमण अर्थात् साधु आवश्यक कर्म नहीं करता है वह अपने चारित्र्यसे भ्रष्ट है । इसलिये पहले कहे हुए क्रमसे ही आवश्यक कर्म करने चाहिये ।

विशेषार्थः—व्यवहार नयसे भी जो मुनि समता, स्तुति, बंधना, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग आदि छः आवश्यक क्रियाओंको नहीं करता है वह साधु चारित्र्य भ्रष्ट होता है । तो फिर जो शुद्ध निधय नयके परम अध्यात्मीक भाषासे कही हुई जो निर्विकल्प समाधि स्वरूप परम आवश्यक क्रिया उससे रहित है सो मुनि तो निधय चारित्र्यसे भ्रष्ट ही है । इसलिये पहली माथाओंमें स्वार्थान परम वीतराग योगीश्वरकेलिये जो निधय आवश्यक क्रियाका क्रम बताया है उसके अनुसार अपने

आत्माहीमें है आश्रय जिनका ऐसे निश्चय धर्मध्यान तथा शुद्धध्यानके द्वारा परम मुनिको सदा आवश्यक कर्म करना योग्य है । भावार्थ—प्रथमावस्थामें मुनिको व्यवहार छः आवश्यक करने ही चाहिये परन्तु इति परमसमाधिरूप निश्चय आवश्यक कर्ममें रसनी चाहिये तथा निश्चय हीको उपादेय समझना चाहिये । इस अभ्याससे जब सातवें गुणस्थानके अंतमें पूर्ण निश्चय धर्मध्यानका लाभ करता है तथा आठवें गुणस्थानमें जब शुद्धध्यानको पाता है तब बाह्य आवश्यक अपने आप छूट जाते हैं । क्योंकि वह अवस्था विकल्परहित निश्चल समाधिहीकी है ॥ टीकाकार कहते हैं कि आत्माको अवश्य स्वाभाविक एक परम आवश्यक कर्म करना चाहिये । कैसा है यह कर्म, पाप समूहोंको हरनेवाला तथा मोक्षका मुख्य कारण—मूल भूत है । जो इस कर्मको करता है वह नित्य अपने आत्मीक रसके विस्तारसे पूर्ण, पवित्र और समीचीन कहलाता है तथा अविनाशी अपने किसी अपूर्व सुखको प्राप्त करता है ॥ जो मुनीन्द्र स्ववश अर्थात् स्वाधीन हैं अपने आत्मस्वरूपमें लवलीन हैं उन्हींको अपने आत्माका अनुभवरूप यह आवश्यक कर्म प्राप्त होता है । कैसा है यह कर्म, मुनिके शान्त सुखका एक अद्वितीय कारण ( मूल ) रूप है ॥

आगे कहते हैं जो तपोपन आवश्यक कर्मसे रहित है वह बहिरात्मा है:—

आवासयण जुत्तो, समणो सो होदि अंतरंगप्पा ।

आवासयपरिहीणो, समणो सो होदि बहिरप्पा ॥१४९॥

सामान्यार्थ—जो मुनि आवश्यक कर्मकरके सहित है वह अंतरंग आत्मा अर्थात् अंतर्गत्मा है और जो आवश्यक क्रियाओंसे रहित है वह मुनि बहिरात्मा निष्पादही है ॥

विहीनार्थ—यह और उपधाएँ रहित समस्त एकवचन जो अपना आत्म इष्टार्थ अनुष्ठान (आत्मार्थ) करता है। निष्कामप्राप्त्यर्थक कर्म है इससे निरंतर संयुक्त ऐसा जो अपने आत्मार्थ हीन स्वार्थीक प्रयत्ननि या कर्त्तृक अंगत्वात् है । हेतु है यह धर्म कर्मण, जो शीतल वदय और भी माकपाय इनक अधोवस ए नदही जो क्षीणमाह नाम वारहने गुणस्थानकी पदवी प्राप्त हो चुका है । वाही धर्मात् है । अन्तर्भावार्थ केव है । तथा असंख्य अधीन समय रहित अद्वैत प्रयत्न रहता जो अधोव अंगत्वात् है । इन क्षीणक अधोव गते ही अधोव अङ्गत्वात् है अधोव प्रयत्नगुणस्थानक अधोव अंगत्वात् है । ये तीनों ही अन्तर्भाव अपने ५ गुणस्थानक प्रयत्न प्रवर्तन निष्काम आदर्शक कर्मकी कर्मवले है । तथा निष्काम व्यवहारक द्वारा वही दुर्ग आ प्राप्त आदर्शक विद्या उपलब्ध रहितवर्तित है । ऐसा ही भी मार्गवका-रामे कहा है । हीनकारण कहने हेतु—धर्मी निय ही स्वाभाविक प्रयत्न आदर्शक कर्मों युक्त है तथा शीतल उपध जो प्रवृत्त भुक्त वृत्तकी बनी उससे दूर रहता है । इत्यदि ये योगी निरंतर अपने आत्मार्थ हीन अंगत्वात् है तथा जो अपने आत्मविवरणमे प्रवृत्त है वे बाह्य तत्त्वोंमें हीन वर्तितत्वात् है ।

अंतर्बाह्य अन्तर्गत जो अल्प अर्थोत् वचन उसके आगका उपदेश करते हैं—

अंतरबाहिरजल्प, जो पट्टह सो ह्वेह पहिरप्पा ।

जल्पेण जो ण पट्टह, सो उच्येह अंतरंगप्पा ॥ १५० ॥

सामान्यार्थ—जो अंतरंग और बाह्य अल्प अर्थोत् वचन रचनार्थे वर्तन करता है परन्तु स्वरूप विचारन नहीं करता यह बहिरात्मा है किन्तु जो इन जल्पोंमें नहीं रहता उसीको अंतरात्मा कहते हैं ।

**विशेषार्थ—**जो कोई जिनलिंगधारी तपोधनाभास अर्थात् मुनि नहीं किन्तु मुनिसा दीखनेवाला पुण्यकर्मकी इच्छा करके स्वाध्याय, प्रत्याख्यान, स्तवन आदि बाह्य कार्योंमें जल्प करता है अर्थात् शब्दोंको कहता है तथा भोजनपान शयनादिके स्थानोंमें अपने आदर सत्कारके पानेका छालची होकर अंतरंग भाववचनरूपी जल्प मनमें कहता है सो बहिरात्मा जीव है। परन्तु जो अपने आत्माके ध्यानमें लीन होकर तथा सम्पूर्णतया अंतरंगमें सन्मुख रहकर शुभ तथा अशुभ समस्त विकल्प जालोंमें कभी नहीं वर्तन करता है सो ही परम तपोधन साधु साक्षात् अंतरात्मा है। ऐसा ही श्रीअमृतचंद्रसूरीने कहा है कि अपनी इच्छापूर्वक उछलते हुए समस्त विकल्प जालोंको तथा महा भारी नयोंकी पक्षरूपी श्रेणीको इस प्रकार उलूँघन करके जो वर्तता है वही अंतरंग और बहिरंग दोनों अवस्थाओंमें एक समस्ता रसमई स्वभाव जो अपना ही अनुभवमात्र भाव है उसको प्राप्त करता है। टीकाकार कहते हैं—संसारके भयको पैदा करनेवाले सर्व अंतरंग और बहिरंग जालोंको त्यागकर तथा नित्य समता रसमई एक चैतन्यके चमत्कार-भाव स्वरूपको स्मरण करके ज्ञान ज्योतिके द्वारा प्रकाशमान है अपना अभ्यंतर जिसका ऐसा अंतरात्मा मोहके क्षय होनेपर किसी परम तत्त्वको अंतरंगमें साक्षात् देखने लगा।

आगे कहते हैं कि अपने आत्माके आश्रय जो शुद्ध ध्यान सो ही उपादेय है—

**जो धम्ममुक्कझाण,—मिह परिणदो सोऽपि अंतरंगप्पा ।  
झाणविहीणो समणो, बहिरप्पा इदि विजाणीहि ॥१५१॥**

**सामान्यार्थः—**जो साधु पुरुष धम्म ध्यान और शुद्ध ध्यानमें परिणमन करता है वही अंतरात्मा है। तथा जो मुनि ध्यानमें रहित है सो बहिरात्मा है ऐसा जानो।



विशेषार्थः—जो साक्षात् अकृष्ट अंतरात्मा भगवान् क्षीणकपाय है उस क्षीण मोह भगवान्‌के निश्चयसे १६ कपाय और ९ नोकपायके अभावसे दर्शन मोहनी और चारित्रमोहनीरूपी अंधकार विलयण हैं इसलिये वह महात्मा स्वाभाविक चैतन्यका विलास है लक्षण जिसका ऐसे अत्यन्त अपूर्व आत्माको शुद्ध निश्चय धर्म शुक्लध्यानोसे नित्य ध्याता है । परन्तु जो इन दोनों ध्यानोसे रहित द्रव्यलिप्ती द्रव्यभ्रमण है वह बहिरात्मा है ऐसा है, शिष्य ! तुम जानो । टीकाकार कहते हैं—वही असंख्य मुनि है जो कि सदा निर्मल धर्म और शुक्ल ध्यानामृतमई समता रसमें वर्तन करता है, जो इन ध्यानोसे रहित है वह बहिरात्मा है । मैं पूर्वमें कहे हुए अंतरात्मा योगीकी शरणमें प्राप्त होता हूँ ॥ तथा केवल शुद्ध निश्चय नयका स्वरूप यह है कि वह बहिरात्मा है अथवा वह अंतरात्मा है ऐसा जो विकल्प से संसाररूपी रमणी ( स्त्री ) उसीको प्यार करनेवाला है । सो यह विकल्प कुधी जो मंद विज्ञानरहित मिथ्यादृष्टी उन्हींको होता है परन्तु सुधी जो सम्यग्दृष्टी हैं उनके बिलकुल नहीं होता ।

आगे परम वीतराग चारित्रमें लीन जो परम तपोधन मुनि उनका स्वरूप कहते हैंः—

पट्टिकमणपट्टविकिरियं, कुर्वन्तो निच्छयस्य चारित्रं ।  
तेन दु विरागचरिण, समणो अम्भुद्विदो होवु ॥ १५२ ॥

सामान्यार्थः—प्रतिकमण आदिकी निश्चय चारित्ररूप क्रियाको करता हुआ जो रहता है । वही भ्रमण इसी निश्चय चारित्रके द्वारा वीतराग चारित्रमें स्थित होता है ।

विशेषार्थः—जो इस लोकसम्बन्धी समस्त व्यापारको त्याग करके साक्षात् मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाला महा मुमुक्षु साधु सर्व पंच इन्द्रि-

योंके व्यापारोंको त्यागनेसे निश्चय प्रतिक्रमण आदि मन क्रियाओंको करता रहता है वही परम तपोधन इमी उपायकरके अपने आत्मिक स्वरूपमें विभ्रान्ति लेना है वृक्षण जिसका ऐसे परम रीतगम चारित्र्यमें तिष्ठता है ॥ टीकाकार कहते हैं—नन्द होमया है दर्शन और चारित्र्य मोह जिसका ऐसा अतुल महिमाका धारी आत्मा सामान्यिक सुखों करने याते कर्मोंसे मुक्त होता हुआ मलरहित मोक्षके मूल चाग्रिमें तिष्ठता है वही मुनि आचारकी राशि अर्थात् निधिरूप है । मैं समता स्वरूप अमृतमई समुद्रके चढ़ानेवाले चंद्रमाके समान ऐसे तपोनिधियों बन्दना करता हूँ ॥

आगे सर्व वचन सम्बन्धी व्यापारके त्यागका उपदेश है:—

वयणमयं पट्टिकमणं, वयणमयं पञ्चकराण नियमं च ।  
आलोचय वयणमयं, तं सर्वं जाण सज्ज्ञाओ ॥ १५३ ॥

सामान्यार्थः—वचनमई प्रतिक्रमण, वचनमई प्रत्याख्यान तथा नियम, और वचनमई आलोचना ये सर्व स्वाध्यायमें गर्भित है ऐसा जानो ॥

विशेषार्थः—पाक्षिक मासिक आदि प्रतिक्रमणकी किया पढ़ना तथा निर्यापक आचार्यके मुक्तसे प्रगट समस्त पापोंके क्षयका कारण जो द्रव्यश्रुत उसका पाठ इत्यादि सर्व वचन वर्णनाके योग्य किया सो पुत्रल द्रव्यके आश्रय जड़मई है । इसलिये ग्रहण योग्य नहीं है । प्रत्याख्यान, नियम, आलोचना ये सर्व पुत्रल वचनमई हैं इसलिये स्वाध्याय ही है, ऐसा है शिष्य तुम जानो ॥ टीकाकार कहते हैं—इसलिये वह भव्यजीव जो निर्वाणरूपी श्रीके स्तनयुगलके स्पर्शके मुखकी इच्छा करता है सो सर्वदा समस्त वचनकी रचनाको छोड़कर नित्य आनंदआदि अतुल महिमाके धारक अपने आत्मस्वरूपमें स्थित

ता है। वही एक इस जगतके जालको तुणके समान देखता हुआ रहता । ऐसा ही कहा है—कि वाचना, पूछना, अनुप्रेक्षा, धर्मोपदेश और गमाय ये सर्व स्तुति मंगल सहित किये जानेसे पांच प्रकारके स्वाध्याय ते हैं ।

आगे कहते हैं कि शुद्ध निश्चय धर्माध्यान स्वरूप ही प्रतिक्रमण आदि करने योग्य हैं—

नदि सक्तदि कादुं जे, पठिकमणादिं करेज्ज ज्ञाणमयं ।  
रत्तिविहीणो जो जइ, सहहणं चेव कायव्वं ॥ १५४ ॥

सामान्यार्थ—हे भाई ! यदि तू करनेकी शक्ति रखता है तो ध्यानमें प्रतिक्रमणादिकोंको कर और जो तेरी शक्ति न हो तो तब-तक ऐसा श्रद्धान तो करना ही चाहिये ॥

विशेषार्थ—मुक्तिरूपी सुन्दरीके प्रथम दर्शन स्वरूप ऐसी जो निश्चय प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त प्रत्याख्यान आदि शुद्ध निश्चय किया उनहीको यदि हे मुनिशार्दूल अर्थात् मुनिसिंह तैरमें संहननकी शक्ति प्रकाशमान है अर्थात् यदि तू उत्तम संहननका धारी है तो तुझे करना योग्य है । कैसा है मुनिसिंह, परमागमकी मुराधमें लीन है मुस जिसका तथा कमलके समान प्रभावान है । पद्मप्रभ है नाम जिसका तथा जो स्वाभाविक वैराग्यके महलके शिखरका शिखामणि है । और जो परद्रव्योत्ति उदास हो अपने आत्मद्रव्यमें बुद्धिओ धरनेवाला है तथा पंचेन्द्रियोंके फैलावसे रहित शरीरमात्र परिग्रहका धारी है । और यदि तू शक्तिकरके हीन है तो इस दग्धकाल अकाल पंचमकालमें तुझे इस केवल उस स्वरूपका श्रद्धान ही करना योग्य है । टीकाकार कहते हैं—इम असार संसारमें पापोंसे भरे हुए इस क्षेत्रमें इस कलिकाल पंचमकालमें इस अध रहित तीर्थकर जिनेन्द्रके धर्मके अनुसार मुक्ति नहीं हो सकती है इस-

लिये किसप्रकारसे उस आध्यात्मिक ध्यानका होना संभव है । निबुद्धिमानोंकेलिये इसकारण भवभयको हरनेवाला अपने आत्माश्रद्धान ही करना स्वीकार योग्य है ॥

आगे साक्षात् अंतरंगमुखी जो परमवीतरागी योगी है उसको शि कहते हैं:-

जिणंकहियपरमसुत्ते, पडिकमणादिय परीकरऊण फुडं  
मोणव्वएण जोई, णियकज्जं साहये णिच्चं ॥ १५५ ॥

सामान्यार्थः--जिनेन्द्र कथित परमसूत्रोंसे प्रतिक्रमण आदिक स्वरूप भले प्रकार परीक्षाकरके जो योगी प्रगटपने मौन व्रतके साथ धारण करता है वही साधु निश्चय अपने कार्यको साधता है ॥

विशेषार्थः--श्रीमत् अर्हत्के मुसकमलसे प्रगट सर्ग पदार्थोंको अपने गर्भमें रखनेको चतुर ऐसे द्रव्यभूतसे शुद्धनिश्चय स्वरूप परमात्म-ध्यानमें प्रतिक्रमण आदि सतक्रियाओंको समझकर केवल अपने आत्मीक कार्यमें तत्पर ऐसा परम जिन वीतरागी योगीश्वर शुभ तथा अशुभ सर्ग वचनकी रचनाको त्यागकरके तथा समस्त परिग्रह और अन्यके संगको छोड़ करके अकेला रह मौन व्रतके साथ तिष्ठ सर्ग अज्ञानी जनोसिं निर्दत्ता जाता हुआ भी अशोभित रह मुक्तिधीके संभोगके सुखके मूल अपने आत्मीक कार्यको निरन्तर साधता है ॥ टीकाकार कहते हैं--अज्ञानी मनुष्योंसे करी हुई लौकिक निन्दाके भयको छोड़कर जो कोई आत्मज्ञानी मोक्षका इच्छुक आत्मा है सो भयानक संसारको करने-वादी शुभ तथा अशुभ समस्त वचनकी रचनाको हटाकर तथा सुखों और धीके मोक्षको दूरकर अपने आत्माके द्वारा अपने आत्मामें केवल मुक्तिकेलिये निमग्न स्थिति करता है ॥ अज्ञानी मनुष्योंसिं करी हुई

१. इन वाक्यों का अर्थ है कि साधने के लिये है ।

निन्दाके भयको त्यागकर तथा सम्पूर्ण लोकीक पचनके जालोंको दूरकर आत्मप्रवाह आगममें चतुर ऐसा परमात्मवेदी मुनि निश्चय मुक्तको देने-वाले अपने एक आत्मीक तत्त्वको ही प्राप्त होता है ॥

आगे वचन सम्बन्धी सब व्यापारोंसे निवृत्ति होनेके कारणका संक्षेप कथन करते हैं:-

णाणा जीवा णाणा, कम्मं णाणाविहं हवे लब्धी ।  
तद्वा पयणाविवादं, सगपरसमएहिं यज्जिज्जो ॥ १५६ ॥

सामान्यार्थः—नाना प्रकारके जीव हैं, नाना प्रकारके कर्म हैं, नाना प्रकारकी जीवोंके लब्धियाँ होती हैं इसलिये अपने और परके समयों अर्थात् धर्मोंसे वचनोंका विवाद मिटाना योग्य है ॥

विशेषार्थः—जीव अनेक प्रकारके हैं जैसे मुक्त और संसारी भव्य और अभव्य । तथा संसारीके दो भेद हैं—ब्रह्म और स्थावर । द्वीन्द्रिय, तेन्द्री, चांद्री, पंचेद्री असेनी और सेनी ऐसे पाँच प्रकार ब्रह्म हैं । पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति ये पाँच स्थावर हैं । आगामी कालमें स्वभावसे अनंत चतुष्टयमें स्वभाविक ज्ञान आदि गुणोंकरके होनेयोग्य अर्थात् जिनके ये गुण आगामी प्रगट हो सकें सो भव्य हैं । इनसे विपरीत जो हैं अर्थात् जिनके अनंत ज्ञान आदि प्रगट न हो सकें वे अभव्य हैं ॥ कर्म नाना प्रकारके हैं—द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्म भेदसे तीन प्रकारके कर्म हैं, अथवा मूल प्रकृतिके भेदसे द्रव्यकर्म ८ प्रकार हैं तथा उत्तर प्रकृति १४८ हैं । तीव्र, तीव्रतर, मंद, मंदतर कर्मोंके उदयसे जीवोंके मुक्त आदिकी प्राप्ति सो लब्धि है । तथा फल, उपशम, उपदेस, प्रायोग्य और करण लब्धिके भेदसे पाँच प्रकार लब्धि है ॥ इसलिये जो परमार्थ निधयके ज्ञाता हैं उनको अपने तथा परके मतोंसे वाद विवाद नहीं करना योग्य है । भावार्थ यह है कि—जबतक जीवोंके शुभ कर्मके

महान पुरुष कोई स्वयंबुद्ध कोई दूसरोंके द्वारा उपदेश लाभकर अप्रमत्तसे ले सयोगिमद्वारक गुणस्थानतक पंक्तिरूप आरुढ़ होतेहुए सम्पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञानके धारी केवली हो गए । यह सर्व महिमा परम आवश्यक कर्मकी सेवासे प्राप्त होती है ॥ टीकाकार कहते हैं कि प्राचीन कालमें सर्व महानपुरुषोंने अपने आत्माकी आराधना ही करके योगी होकर समस्त कर्मरूपी राक्षसोंके समूहोंको नष्ट कर दिया है-ऐसे जो ज्ञानापेक्षा व्यापक और जिष्णु अर्थात् जयप्राप्त उनको जो कोई संसारका वैरागी मोक्षका इच्छुक एकाग्र मन होकर नित्य प्रणाम करता है वह जीव पापरूपी बनीके दग्ध करनेकेलिये आग्निके समान है तथा उसके चरणकमलोंको सर्व मनुष्य पूजन करते हैं ॥ सुवर्ण और स्त्रीके गोचर सर्व मोहको जो त्यागने योग्य है उसको छोड़कर हे मन ! तू परम गुरुके प्रसादसे धर्मका लाभ कर तथा निर्मल आनन्दकेलिये परमात्मामें प्रवेश कर । कैसा है परमात्मा, जो नित्य आनन्दरूप है, अनुपम गुणोंसे शोभायमान है, अलौकिक मोहवाला अर्थात् मुक्तिसेही है । तथा जो निराकुल रूप है ॥

इस प्रकार मुक्तिरूपी कमलोंकेलिये सूर्यके समान, पंचेन्द्रियोंके विस्तारसे रहित, शरीर मात्र परिग्रहके धारी श्रीपद्मप्रभमलधारी देव विराचित श्रीनियमसार प्राकृत ग्रंथकी तात्पर्य वृत्ति नाम संस्कृत टीकामें निश्चय परमावश्यक नामका ग्यारहवां श्रुतस्केध पूर्ण हुआ ॥

## शुद्धोपयोगाधिकार ।



आगे सर्व कर्मोंको नष्ट करनेवाले शुद्धोपयोग नामके अधिकारको कहते हैं ॥

प्रथम कहते हैं कि ज्ञानी जीवके ही किसी अपेक्षासे स्वपर स्वरूपका प्रकाशकपना है:—

जाणदि पस्सदि सव्वं, ववहारणएण केवली मयवं ।  
केवलणाणी जाणदि, पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥१५९॥

सामान्यार्थः—केवली भगवान् सर्व पदार्थोंको जानते देखते हैं यह कथन व्यवहार नयकरके है परन्तु नियम करके अर्थात् निश्चयकरके केवल ज्ञानी अपने आत्मस्वरूपको ही जानते और देखते हैं ॥

विशेषार्थः—आत्माके गुणोंको पात करनेवाले कर्मोंको नाश कर देनेसे सर्व प्रकारसे निर्मल केवल ज्ञान और केवल दर्शन प्रगट होते हैं । इनके द्वारा व्यवहार नयसे श्रीअरहंत भगवान् परमेश्वर परममहार्क तीन काल सम्बन्धी और तीन जगत्के सर्व चर और अचर अर्थात् ब्रह्म और स्यावर जीव तथा पुद्गलादि द्रव्योंके गुण और पदार्थोंको एक ही समयमें जानते और देखते हैं । व्यवहार नय पराश्रित है ऐसा सिद्धान्तका वचन है, अर्थात् अपनेसे अन्य जो पदार्थ उनके आश्रयसे जो कथन अपनेमें किया जाय सो व्यवहार नय है । परन्तु शुद्ध निश्चयसे परमेश्वर महादेवाधिदेव सर्वज्ञ बीतराग देवके परद्रव्योंको ग्रहण करनेवाला ऐसा जो दर्शकपना तथा ज्ञायकपना आदि नानाप्रकारके विकल्प उनको रखनेवाली नदीसे उत्पन्न जो अवस्था सो मूलध्यानसे अन्य कथन है अर्थात् अपवाद है । भावार्थ—यह उपचार नयसे कथन है कि





रहा है, नित्य उद्योतरूप है, अपनी स्वाभाविक अवस्थाको स्पष्ट करनेवाला है, अत्यन्त शुद्ध है, एक निज आकाररूप है, अपने रससे भरपूर है, अत्यन्त गभीर है तथा धीर है ॥ ऐसा ही दीकाकार कहते हैं—यह केवलज्ञान भूर्तिका धारी आत्मा इस सम्पूर्ण जगतको निरंतर देखता है तथा मोक्षरूपी सुन्दर स्त्रीके कोमल मुखरूपी कमलमें अपनी किसी अपूर्व तुल्यताको तथा सौभाग्यमई शोभाको विस्तारता है । वह कथन व्यवहारनयसे है । परन्तु निश्चयनयसे वह देवोंका देव जिनेन्द्र, मल समूहसे हटा हुआ अनेक ही शुद्ध स्वरूपका अनुभवसे कर्ता है ।

आगे कहते हैं कि केवलज्ञान और केवल दर्शन एक साथ ही आत्मा में वर्तते हैं इसी बातको ह्येनान्त द्वारा प्रगट करते हैं:—

जुगवं चट्टइ णाणं, केवलणाणिस्स वंसणं च तद्वा ।  
दिणयरपयासतापं, जह चट्टइ तद्द मुणेयव्वं ॥ १६० ॥

सामान्यार्थः—जैसे सूर्यका प्रकार और आताप एक ही साथ वर्तन करता है वैसे ही केवली भगवानके एक साथ ही केवलज्ञान और केवल दर्शन होते हैं, ऐसा जानना योग्य है ॥

विशेषार्थः—जैसे किसी समय मेघोंके आडंबरके दूर होते ही आकाशके मध्यमें विराजित सूर्यका आताप और प्रकाश एक साथ ही होता है वैसे ही तार्पिकर परमेश्वर भगवानके तीन लोक सम्बन्धी समस्त स्थावर और त्रस जीवोंके तथा अन्य द्रव्योंके गुण और पर्यायोंके ज्ञान-नेमें अर्थात् ज्ञेय पदार्थोंमें एक साथ ही सम्पूर्ण प्रकारसे निर्मल केवल ज्ञान और केवल दर्शन प्रगट होते हैं । परन्तु संसारी जीवोंके दर्शन पूर्वक ही ज्ञान होता है अर्थात् प्रथम पदार्थका निराकार अवलोकन होता है पश्चात् उसका ज्ञान होता है ॥ ऐसा ही श्री प्रवचनसारमें कहा है ॥ भावार्थ—उपस्थाओंके दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है दोनों उपयोग

पर के ज्ञाता द्रष्टा है। निश्चय अपेक्षा यह एक अपराध है। ये भगवान् कार्य परमात्मा होनेपर भी तीनों कालोंमें उपाधिरहित तथा मर्यादा रहित नित्य शुद्ध स्वाभाविक ज्ञान स्वाभाविक दर्शनसे अपने ज्ञान परमात्माको स्वयं जानते और देखते हैं। कैसे जानते देखते हैं, कि यह ज्ञानका धर्म है। यह मेरा धर्म प्रतीपके समान स्वर प्रकाशक है। जैसे घटपट आदि पदार्थोंका प्रकाश करनेगला दीपक है सो प्रकाश होने योग्य पदार्थोंसे भिन्न होनेपर भी अपने स्वाभाविक स्वर प्रकाश करनेके स्वाभावसे आपको भी प्रकाशता है तथा दूसरोंको भी प्रकाशित करे। यह आत्मा ही व्यवहार नयसे तीन जगत और तीनों कालोंको प्रकाशक है, वेमे ही यह आत्मा परम ज्योतिस्वरूप होनेके कारण अपने आत्माको भी प्रकाश करता है। ऐसा ही ९६ प्रकारके पारसोंको विनय करनेसे मरान कीर्ति का प्राप्त करनेगले श्री महाश्वर पंडित देवने कहा है कि यथाचै। यन्मुक्ता निर्णय सो ही सम्यग्ज्ञान है। यह ज्ञान प्रतीपके समान आप और पण्डितोंको निश्चय करने स्वरूप है तथा प्रमिति जो प्रमाणका फल उमने किमी अपराध गृह्यक गृह्यक है। अथ कहते हैं कि यह ज्ञान निश्चयनयकरक भी स्वर प्रकाशक है। अर्थात् यह ज्ञान निरन्तर सम रहित। अपने निरन्तर स्वाभावमें लीन रहता है अपने स्वरूपका भाषित है, एव निश्चयनयका स्वरूप है। आत्माका जो सदन ज्ञान है सो अपने आत्माने सदा मेकदा लक्षण प्रयोजनकी अपेक्षा भिन्न होनेपर भी पण्डित होने अर्थात् मान्यद्वारे ही विद्वानकी अपेक्षा भिन्न नही है। इस कारण यह ज्ञान आत्मासे प्राप्त दर्शन सुख तथा चारों ओरि मुक्तों को ज्ञानक है, जो ही ज्ञान कारण परमात्मा स्वरूपको भी ज्ञान है। ऐसा ही जो समुत्पन्नमुक्ति कहते हैं कि अपने ज्ञानकी अथवा पाद करने लीन हल्ले मुक्त। एक पूर्णज्ञान प्रकाश ज्ञान ही रहा है। ऐसा ही दुर्लभ, जो कनेकक नाशने अनिष्टादि जन्मान नाशक समुत्पन्न को

रहा है, नित्य उद्योतरूप है, अपनी स्वाभाविक अवस्थाको स्पष्ट करनेवाला है, अत्यन्त शुद्ध है, एक निज आकाररूप है, अपने रससे भरपूर है, अत्यन्त गंभीर है तथा धीर है ॥ ऐसा ही टिकाकार कहते हैं—यह केवलज्ञान मूर्तिका धारी आत्मा इस सम्पूर्ण जगत्को निरंतर देखता है तथा मोक्षरूपी मुन्दर स्त्रीके कोमल मुखरूपी कमलमें अपनी किसी अपूर्व तृष्णाको तथा सोभाग्यमई शोभाको विस्तारता है । वह कथन व्यवहारनयसे है । परन्तु निश्चयनयसे वह देवोंका देव जिनेन्द्र, मल समूहसे हटा हुआ अपने ही शुद्ध स्वरूपका अनुभवसे कर्ता है ।

आगे कहते हैं कि केवलज्ञान और केवल दर्शन एक साथ ही आत्मामें वर्तते हैं इसी बातको दृष्टान्त द्वारा प्रगट करते हैं,—

जुगवं घट्टइ णाणं, केवलणाणिस्स वंसणं च तहा ।

दिणयरपयासतापं, जह घट्टइ तह मुणेयच्चं ॥ १६० ॥

सामान्यार्थः—जैसे सूर्यका प्रकाश और आताप एक ही साथ वर्तन करता है वैसे ही केवली भगवानके एक साथ ही केवलज्ञान और केवल दर्शन होते हैं, ऐसा जानना योग्य है ॥

विशेषार्थः—जैसे किसी समय मेघोंके आडंबरके दूर होते ही आकाशके मध्यमें विराजित सूर्यका आताप और प्रकाश एक साथ ही होता है वैसे ही तीर्थंकर परमेश्वर भगवानके तीन लोक सम्बन्धी समस्त स्थावर और त्रस जीवोंके तथा अन्य द्रव्योंके गुण और पर्यायोंके ज्ञानमें अर्थात् ज्ञेय पदार्थोंमें एक साथ ही सम्पूर्ण प्रकारसे निर्मल केवल ज्ञान और केवल दर्शन प्रगट होते हैं । परन्तु संसारी जीवोंके दर्शन पूर्वक ही ज्ञान होता है अर्थात् प्रथम पदार्थका निराकार अवलोकन होता है पश्चात् उसका ज्ञान होता है ॥ ऐसा ही श्री प्रयत्नसारमें कहा है ॥ भावार्थ—उपस्थोंके दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है दोनों उपयोग

साथ नहीं होते हैं जब कि केवली भगवानके दोनों उपयोग एक साथ होते हैं। ऐसा ही टीकाकार कहते हैं—जैसे समस्त अंधकारके सनूहको दूर करनेवाले तेजकी राशिरूप सूर्यके उदय होते आताप और प्रकाश दोनों प्रकट होते हैं तथा जगतके जीवोंके नेत्र खुलते हैं अर्थात् जगत विनादीपकादिके सर्व कार्योंको देसता है और करता है, तैसे हा श्रीभगवान सर्वज्ञ तीर्थकर देवके सदा ही ज्ञान और दर्शन एक साथ ही होते हैं। कैसे हैं प्रभु, जो असदृश है अर्थात् जिनके समान तीनों लोकोंमें और कोई कपिलादि देव नहीं है तथा जो सर्व लोकके एक अपूर्व ईश्वर हैं ॥ हे जिननाथ ! आप सम्यग्ज्ञानरूपी जहाजपर चढ़कर शीघ्र ही संसार समुद्रको उलुंघकर मोक्षकी अविनाशी नगरमें पधारते भए। उसी ही मार्गकरके मैं भी उसी मोक्षपुरीमें जाऊंगा। क्योंकि उत्तम पुरुषोंको इस मार्गके सिवाय अन्य कोई शरण अर्थात् रक्षक नहीं है ॥ एकमात्र श्रीजिनेन्द्र केवलज्ञानमूर्त्य ही जयवन्त होहु। कैसे हैं ज्ञान सूर्य्य प्रभु, जो भव्यजीवोंके मुस्तकमलमें किसी अपूर्व चमकको विस्तारते हैं। जो मुक्तिरूपी स्त्री समरसमई अतीन्द्रिय सुखको देनेवाली है तथा प्रेमकी भूमि और परमाप्रिय है उसके सुखको रात्रिदिन देनेकेलिये कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं है। एक श्री जिनेन्द्र ही समर्थ हैं। श्रीजिनेन्द्र भगवान ही मुक्तिरूपी स्त्रीके मुस्तकमलमें भ्रमरके समान क्रीड़ा करते हुए रमते भए और फिर अद्वितीय किसी अतीन्द्रिय सुखका लाभ करते भए।

आगे आत्मा स्वपरप्रकाशक है इसके विरोधका निराकरण करते हैं:-  
 णाणं परप्पयासं, दिढ्ठी अप्पपयासया चेव ।  
 अप्पा सपरपयासो, होदित्ति हि मण्णसे जदि हि॥१६१॥

सामान्यार्थ—यदि कोई आत्माको निश्चयसे स्वपरप्रकाशी है ऐसा मानता है तथा कहता है कि ज्ञान परप्रकाशक ही है तथा दर्शन आत्मप्रकाशक ही है ॥

विशेषार्थ—अब यहाँ कहते हैं कि आत्मा स्वपरप्रकाशक किस प्रकारसे है—ज्ञानदर्शनादि विशेष गुणोंकरके सहित ही आत्मा है । यदि आत्माका ज्ञान शुद्धात्माको प्रकाश करनेमें असमर्थ होनेसे परको ही प्रकाश करनेवाला है तथा इसी प्रकारसे आत्माका दर्शन अकुशलरहित केवल अभ्यंतरमें ही आत्माको प्रकाश करता है इस प्रकारसे स्वपर प्रकाशक आत्मा है । आचार्य्य कहते हैं हे जड़मती याद्वि तू ऐसा मानता है तो तू मिथ्यादृष्टी है । प्राथमिक शिष्य अर्थात् प्रथम अवस्थामें होनेवाला जो सम्यग्दृष्टी उसको जो सम्यग्दर्शनकी शुद्धता होती है सो भी तुझको प्राप्त नहीं है । तेरे समान अन्य कोई जड़मति नहीं है तथा विरोध रहित स्यादाद्य विचारूपी देवीके पूजनेवाले सम्मन सम्यग्दृष्टी निरंतर ऐसा ही मानते हैं कि न तो ज्ञान एकान्तकरके परप्रकाशक ही है और न केवल एकान्तसे दर्शन शुद्धात्माहीकी देखता है । यह आत्मा निश्चयकरके दर्शन ज्ञान आदि अनेक धर्मोंका आधार है । तथापि व्यवहार नयकरके भी केवल मात्र यह ज्ञान परप्रकाशक ही है ऐसा नहीं है । यदि ऐसा माना जायगा तो आत्मासे सम्बन्ध न रहेगा, क्योंकि वह ज्ञान सदा ही आत्मासे बाहर रहेगा । उस ज्ञानको आत्माकी प्रतीति नहीं होगी । वह ज्ञान सर्वगत हो जायगा । इसलिये वह वास्तवमें ज्ञान ही न रहेगा किन्तु मृगशृङ्गाके जलके समान ज्ञानका प्रतिभास मात्र ही होगा । जैसे बालूरेतमें सूर्यकी चमकसे जल समस्त मृग आकुलित होता है ऐसे ही बाहर पदार्थोंमें ज्ञान कल्पकर ज्ञान नहीं मिलता किन्तु ज्ञानसा दीप्तता है । इसीतरह दर्शन भी केवल अभ्यंतर आत्माके ही प्रतीतिका कारण नहीं है, किन्तु सदा ही सर्वको देखता है ॥ जैसे यह चक्षु अपने अभ्यंतरमें बैठी हुई कर्नीनिका अर्थात् पुतली उसको तो नहीं देखती है बाहर सर्वको देखती है । इससे दर्शन परप्रकाशक भी हुआ । इस कारण यह ज्ञान दर्शन दोनों ही सब और

परको प्रकाश करनेवाले हैं इसमें कोई भी विरोध नहीं है। इस कारण यह आत्मा भी स्व पर प्रकाशक ही है, क्योंकि ज्ञान दर्शन लक्षणका धरनेवाला है। लक्षणसे लक्ष्य प्रवेशअपेक्षा भिन्न नहीं है। ऐसा ही श्री अमृतचंद्र सूरीने कहा है कि यह आत्मा एक ही समयमें समस्त भूत, भविष्य और वर्तमान जगतको जानता हुआ भी मोहके अभावसे परस्वरूप कभी नहीं परिणिमन करता है। परन्तु वह आत्मा सर्वकर्मोंको नाश करके मुक्तमें प्रतिभासमान होता है। कैसा होता हुआ प्रतिभासमान होता है, तीन लोक सम्बन्धी सर्व ज्ञेय पदार्थोंको प्रगटपने स्पष्ट ३ अलग २ जानता हुआ अर्थात् ज्ञानकी मूर्तिमई उदयरूप रहता है। टीकाकार कहते हैं—आत्माका ज्ञान एक अपने स्वाभाविक परमात्मस्वरूपको जानता हुआ भी लोक और अलोक दोनोंको ज्ञेयके जालके समान प्रकट करता है। इसी तरह दर्शन समस्त आवणोंसे रहित होकर निश्चय शुद्धताको रसता हुआ साक्षात् स्व ओर परको देखनेवाला है इन दोनों ज्ञानदर्शनोंसे सहित आत्मा अपनेको तथा परको ऐसे समस्त ज्ञेय राशिको जानता है ॥

फिर भी पूर्वपक्षीको कहते हैं.—

णाणं परप्पयासं, तइया णाणेण वंसणं भिण्णं ।

ण हवदि परद्वग्गपं, दसणमिवि यण्णिण्वं तस्मा ॥१६२॥

सामान्यार्थः—जो ज्ञान दूसरे पदार्थोंको ही प्रकाश करता है तब ज्ञानसे दर्शन भिन्न हुआ। इस कारण यही वर्णन हुआ कि दर्शन पर-द्वयको देखनेवाला नहीं है।

विशेषार्थः—यदि ज्ञान केवल परको प्रकाश करनेवाला है तब पंच पर प्रकाशक ज्ञानने दर्शन भिन्न ही रहता, क्योंकि ज्ञान परप्रकाशक

हे और दर्शन आत्मप्रकाशक है । ऐसा माननेसे ज्ञान और दर्शन दोनों भिन्न २ हो जायेंगे । जैसे सहाचल और विन्ध्याचल भिन्न २ हैं, अथवा गंगाजी और श्रीपर्वत भिन्न २ हैं । इसी तरह ज्ञान और दर्शन भिन्न २ हैं, ऐसा हो जायगा । यदि दर्शन ही आत्मामें रहनेवाला माना जायगा तो ज्ञान आधाररहित होनेसे शून्य हो जायगा अथवा यदि ज्ञान शून्य न होगा तो जहाँ २ ज्ञान जायगा वहाँ २ की सर्व वस्तुएँ चेतनरूप हो जायँगी । तब तीन लोकमें कोई भी अचेतन पदार्थ न रहेगा यह बड़ा भारी दूषण आ जायगा । क्योंकि ज्ञान जब सर्व पदार्थोंमें रहेगा आत्मामें न रहेगा तब सर्व पदार्थ चेतन हो जायेंगे, अचेतन कोई न रहेगा । इस लिये हे शिष्य ! ऐसा मत कहो कि ज्ञान केवल परको ही प्रकाश करनेवाला है । तथा दर्शन केवल आत्माको ही जानता है । इसलिये निश्चय यही समाधान सिद्धान्तका है कि ज्ञान और दर्शन दोनों ही कथंचित् स्वरूप प्रकाशक ही हैं । ऐसा नहीं कि ज्ञान केवल पर-प्रकाशक है और दर्शन स्वप्रकाशक है । ऐसा ही भी महासेन पण्डित देवने कहा है—कि ज्ञान आत्मासे न तो सर्वथा भिन्न है, न अभिन्न है किन्तु कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है । पूर्व और अगामी सर्व पदार्थोंको जाननेवाला जो ज्ञान है सो ही आत्मा है ऐसा कहा गया है ॥ टीकाकार कहते हैं कि न तो आत्मा ज्ञान ही है न दर्शन ही है परन्तु ज्ञान और दर्शन सहित आत्मा है । इन दोनोंकरके सहित आत्मा आप और पर दोनोंको अवश्य ही जानता है । संज्ञा संख्या लक्षण प्रयोजनकी अपेक्षा ज्ञान और दर्शनसे तथा आत्मासे कथंचित् भेद है परन्तु निश्चय-नयसे पापसमूहको नाश करनेवाले आत्मामें और ज्ञानदर्शनमें कोई भेद नहीं है, जैसा अग्नि और उसकी उष्णतामें भेद नहीं है ॥

आगे एकान्त नयसे आत्मा परप्रकाशक नहीं है ऐसा करते हैंः—

अप्पा परप्पयासो, तद्वया अप्पेण दंसणं मिण्णं ।  
ण हवदि परदव्वगयं, दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ॥ १६३ ॥

सामान्यार्थः—यदि आत्मा केवल परको ही प्रकाश करनेवाला है तो आत्मासे स्वप्रकाशक दर्शन भिन्न ही रहेगा । कारण कि दर्शन पर-द्रव्यगत नहीं है ऐसा कहा गया है ।

विशेषार्थः—जैसे एकान्तसे ज्ञानका परप्रकाशकपना पहले निषेध है तैसे ही यहाँ आत्माके केवल परप्रकाशकपने होनेका निराकरण करते हैं । क्योंकि अपने स्वभावके अभावसे स्वभाव और स्वभाववान वस्तुका एक अस्तित्व न रहेगा । आत्मा स्वपरप्रकाशक है । पहले कह चुके हैं कि जो ज्ञानको परप्रकाशक माना जायगा तो दर्शनसे उसकी भिन्नता हो जायगी । अब जो आत्माको भी परप्रकाशक मानोगे तो आत्माकी भी दर्शनसे भिन्नता हो जायगी । क्योंकि ज्ञान परप्रकाशक है इसी-कारण दर्शनसे भिन्न हुआ है, यह बात प्रतिपादन की जाचुकी है । इसलिये आत्मा भी दर्शनसे जुदा हुआ । और जो कहोगे कि आत्मा पर द्रव्योंको जानता है परन्तु दर्शन गुणसे भिन्न नहीं है तो फिर यही सिद्ध हो जायगा कि आत्मा स्वपरका प्रकाश करनेवाला है । जैसे पहले किसी अपेक्षासे ज्ञानमें स्वपरप्रकाशकपना सिद्ध कर चुके हैं तैसे ही आत्मामें भी स्वपर प्रकाशकपना निश्चय करना चाहिये क्योंकि धर्म और धर्मी एक स्वरूपमई होते हैं ॥ जैसे अग्नि और उष्णताका एक स्वरूप है अर्थात् प्रदेश भेद नहीं है ॥ टीकाकार कहते हैं कि आत्मा तो धर्मी है और ज्ञान दर्शन उसके धर्म अर्थात् स्वभाव हैं । सम्यग्दृष्टी जीव इस आत्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान करके उस आत्मामें ही निश्चलपने अपनी स्थिति करता है तथा नित्य अभ्यासके बलसे उसका लाभ कर संपूर्ण इंद्रियोंके ग्रामरूपी हिम अर्थात् पाला उसके ढेरसे बाहर निकले हुए सूर्यके समान प्रकाश



करता हुआ मुक्तिको प्राप्त करता है । किसी है मुक्ति, जहां स्पष्ट अपनी स्वाभाविक अवस्थासे प्रकाशमान श्री सिद्ध भगवान विद्यमान हो रहे हैं ॥

आगे व्यवहार नयकी सफलताको दिखलाते हैं:—

णाणं परप्पयासं, व्यवहारणयेण दंसणं तम्हा ।

अप्पा परप्पयासो, व्यवहारणयेण दंसणं तम्हा ॥१६४॥

सामान्यार्थ.—व्यवहार नयसे ज्ञान परको प्रकाशनेवाला है इसलिये दर्शन भी परप्रकाशक है तथा व्यवहारनयसे जैसे आत्मा परप्रकाशक है तैसे दर्शन भी पर प्रकाशक है ॥

विशेषार्थ—सर्व ज्ञानावरणी कर्मके क्षय होजानेसे प्रगट हुआ जो बिल्कुल निर्मल केवल ज्ञान सो किस प्रकारसे तथा किम अपेक्षासे पुत्रल आदि मूर्तीक तथा धर्मादि अमूर्तीक तथा अन्य चेतन अचेतन परद्रव्य तथा उनके गुण और पर्यायोंके समूहको प्रकाश करनेमें समर्थ होसकता है ? इसका समाधान यह है कि व्यवहारनयकरके प्रकाशता है क्योंकि परके आश्रितभावपनेहीमें व्यवहारका प्रयोजन है । जैसा कहा है “ पराश्रितो व्यवहारः ” इसलिये इसीप्रकार दर्शन गुण भी परका प्रकाशक है । तथा तीन लोकको आनंदके कारण सो इन्द्रिंसे प्रत्यक्ष वन्दना योग्य श्रीतीर्थकर परमदेव कार्य परमात्माके भी इसी ही प्रकार परपदार्थोंका प्रकाशकपना सिद्ध होता है जैसे ज्ञानके सिद्ध होता है । सो व्यवहार नयके बलकरके जानना । तैसे ही उस केवली भगवानके केवल दर्शनको भी परप्रकाशक समझना । ऐसा ही भुतबंधुमें कहा है कि सर्व दोषोंको विजय करनेवाले श्रीजिनेन्द्र भगवान जयवन्त होहु । कैसे है प्रभु, जिनके शरणाविदको मनुष्य और मनुष्योंके ईद चक्रवर्ती अपने मुकुटोंसे शोभायमान तथा

हृदयमें पड़ी हुई मालाओंकरके सहित पूजन करते हैं तथा जिनको तीन लोक और अलोक इसप्रकार एक ही समयमें प्रतिभास हो रहा है कि विपरीत पदार्थोंमें एक दूसरेके रहनेका अभाव है, अर्थात् छः द्रव्योंको पृथक् २ देखनेवाले हैं । टीकाकार कहते हैं—जब यह आत्मा केवल ज्ञानका पुंज होता है और अत्यन्त प्रगटरूप केवल दर्शनका धनी होता है तब व्यवहारनयकरके सर्व लोकको देखनेवाला ऐसा हो जाता है कि एक ही काल सर्व मूर्तीक और अमूर्तीक पदार्थ अपने यथार्थ स्वरूपको लिये उसमें प्रगट होते हैं । तब ही यह आत्मा परममोक्षरूपी जो छी उसके रूपका मोहनेवाला होता है ।

आगे निश्चयनयसे स्वरूप कहते हैं:—

णाणं अप्पपयासं, णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा ।

अप्पा अप्पपयासो, णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा । १६५।

सामान्यार्थ—निश्चयनयसे ज्ञान आत्माका प्रकाशक है इसलिये दर्शन भी आत्मप्रकाशक है । निश्चयसे आत्मा अपने आत्माका प्रकाशकर्ता है इसलिये दर्शन भी आत्माका प्रकाश करनेवाला है ॥

विशेषार्थ—निश्चयनयसे स्व अर्थात् आपको प्रकाश करना है लक्षण जिसका ऐसा ज्ञानका कहा गया है, तैसे ही सर्व दर्शनावरणीसे रहित होकर शुद्ध दर्शन भी आत्मस्वरूपका ही दिसलानेवाला है । तथा सर्व इंद्रियोंके व्यापारोंसे रहित होनेके कारण निश्चयसे आत्मा अपने आपको प्रकाश करनेवाले लक्षणसे लक्षित होता है । तथा दर्शन भी वास्तव्य पदार्थोंसे रहित होकर अपने आपको ही प्रकाश करता है, यह निश्चयनयकी प्रधानता है । इस प्रकार अपने स्वरूपके प्रत्यक्ष लक्षणसे लक्षित यह आत्मा असंदिग्ध अपने स्वाभाविक ज्ञान तथा शुद्ध दर्शनसे परिपूर्ण रहता है । निश्चयनयसे यह आत्मा प्रकाश्य और प्रकाशक इत्यादि

विकल्पोसे दूर है । अर्थात् मैं प्रकाशक हूँ और तीन जगत तीन कालके स्थावर और जंगमरूप सर्व द्रव्य तथा उनके गुण और पर्याय प्रकाश्य हैं, ऐसा विकल्प नहीं करता है । तथा यह आत्मा अपने आत्मस्वरूपहीमें अपने आत्माके ही लक्षणरूप प्रकाश्यको प्रकाशता है । सम्पूर्णपने अंतरंग लीन होकर निरन्तर खंडरहित तथा द्वैततारहित चैतन्यके चमत्कारकी मूर्तिके समान यह आत्मा निश्चयसे विराजता है ॥ टीकाकार कहते हैं—निश्चयसे आत्मा ही अपने आत्म-स्वरूपको प्रकाश करनेवाला ज्ञानरूप है तथा बाह्य अलम्बनसे रहित साक्षात् जो दर्शन उसरूप ही आत्मा है । अपने एक आकारको लिये हुए अपने आत्मीक रससे पूर्ण पवित्र समीचीन ऐसा जो आत्मा सो अपनी विकल्परहित महिमामें निश्चय वास करता है ॥

आग शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षासे आत्मा परका देखनेवाला है इस बातका निराकरण करते हैं:—

अप्पसरूवं पेच्छदि, लोयालोयं ण केवली भयवं ।  
जइ कोइ भणइ एवं, तस्स य किं दूसणं होई ॥१६६॥

सामान्यार्थ—केवली भगवान् आत्मस्वरूपको देखते हैं लोक और अलोकको नहीं देखते हैं, जो कोई इस प्रकार कहे उसको क्या दूषण दिया जा सकता है ? ।

विशेषार्थ—व्यवहारनयकरके पुत्रल आदि द्रव्योंके तीनकाल सम्बन्धी गुण पर्यायोंको एक समयमें जाननेको समर्थ ऐसा जो सम्पूर्णपने निर्मल केवल ज्ञान उसको आदि के नाना प्रकारकी महिमाको धारण करनेवाला होनेपर भी वह भगवान् केवल दर्शनरूप तीसरे नेत्रको धारण-वाला है तथापि वह भगवान् अभ्यन्त निरपेक्ष होकर पूर्णपने अंतरंगमें लीन होता है तथा अपने केवल स्वरूप ग्रन्थस मान व्यापारमें लवलीन

निरंजन ऐसे अपने आत्मस्वभावको स्वाभाविक रीतिसे देखनेके कारण वह प्रभु निश्चयनयसे सच्चिदानंदमई आत्माको ही देखता है । भावार्थ-व्यवहारनयसे ऐसा कहनेमें आता है कि केवली भगवान लोकालोक-को देखते हैं परन्तु निश्चयसे वे अपने शुद्ध स्वरूपको ही देखते हैं । शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे जो कोई शुद्ध अंतरंगतत्त्वके ज्ञाता परम जितेन्द्री योगीश्वर हैं वे ऐसा ही कहते हैं । उनको निश्चयसे कोई दूषण नहीं होता है । टीकाकार कहते हैं कि—यह आत्मा अपने अंतरंगकी शुद्धि करके एक विशुद्ध स्वाभाविक परमात्माको देखता है । कैसा है परमात्मा, जो अपूर्व महिमाको धारनेवाला है तथा अच्यन्त धीर है तथा अतिशय निश्चलरूप रहकर अपने आत्मामें सदा निमग्न है । तथा उसी परमात्माके स्वभावमें यह जगतका बड़ा प्रपंच प्रगट है अर्थात् वह लोकालोकको देखता है यह कहना सर्व व्यवहारका कथन है ॥ भावार्थ—यही है कि शुद्ध निश्चयनयकरके यह आत्मा अपने आपको ही देखता है परको नहीं । परको देखता है ऐसा कहना सो व्यवहार नयका विषय है ॥

आगे केवलज्ञानका स्वरूप कहते हैं:—

मुक्तममुक्तं द्रव्यं, चेयणमियरं सगं च सद्रव्यं च ।

पेच्छंतस्स दु णाणं पच्चकसमणिंदियं होई ॥ १६७॥

सामान्यार्थः—जो ज्ञान मूर्तीक अमूर्तीक द्रव्य ऐसे चेतन तथा अचेतन पदार्थोंको तथा अपनेको और सर्वको देखता है वही ज्ञान प्रत्यक्ष और इन्द्रिय रहित होता है ॥

विशेषार्थः—छः द्रव्योंमें पुत्रल द्रव्य मूर्तीक है तथा अन्य पांच द्रव्य अमूर्तीक हैं । जीव चेतन ही है पांच द्रव्य सर्व अचेतन हैं । इस प्रकार मूर्त अमूर्त चेतन अचेतन सर्व अपनेको और पर द्रव्योंको तीव

कालसम्बन्धी सर्वको एक ही समयमें निरन्तर देखनेवाले श्री अरहंत भगवान परमेश्वरके ही केवलज्ञान होता है । कैसा है केवल ज्ञान, जो कमपूर्वक ज्ञानसे रहित है, अतीन्द्रिय है, तथा सर्व प्रकारसे निर्मल और प्रत्यक्ष है ॥ श्री प्रयत्न सारमें ऐसा ही कहा है । उसका अभिप्राय ऊपर आय गया ॥ टीकाकार कहते हैं—वे तीर्थकर श्री जिनेन्द्र भगवान अपने स्वरूपमें भले प्रकार वर्तन कर रहे हैं । कैसे हैं प्रभु, जो तीन लोकके गुरु हैं, शाश्वत और अनंत ज्योतिके धारी हैं, तथा अपने केवल ज्ञानरूपी तृतीयनेत्रकरि जिनकी महिमा प्रगट है । कैसा है केवल ज्ञान, जो लोक और अलोकको तथा आप और पर समस्त चेतन अचेतन द्रव्योंको देखनेवाला है ॥

आगे कहते हैं कि केवल दर्शनके अभावसे केवलीके सर्वज्ञपना नहीं हो सकता:—

पुट्वत्तसयलदध्वं, णाणा गुणपज्जएण संजुत्तं ।

जो ण य पेच्छइ सम्मं, परोक्खदिही हवे तस्स ॥१६८॥

सामान्यार्थः—पूर्वमें कहे गए सम्पूर्ण द्रव्योंको नाना गुण और पर्यायोंकरके सहित जो कोई भले प्रकार नहीं देखता है उसके परोक्ष दृष्टि होती है ॥

विशेषार्थः—पूर्व सूत्रमें कहे हुए जो मूर्तादि द्रव्य तथा उनके गुण और पर्याय हैं उनमें मूर्तीक द्रव्यके मूर्तीक गुण हैं, अचेतन पदार्थके अचेतन गुण हैं, अमूर्तीकके अमूर्तीक गुण हैं तथा चेतनके चेतनमई गुण हैं । पर्याय दो प्रकारकी हैं एक अर्थपर्याय दूसरी व्यंजन पर्याय । पट्टगुणी बुद्धि हानिरूप अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुके द्वारा जानने योग्य जो द्रव्योंके गुणमें स्वाभाविक परिणामन सो अर्थपर्याय है । यह अर्थपर्याय सर्व उः द्रव्योंमें साधारण है । पाँच प्रकार द्रव्य क्षेत्र काल भव भावरूप संसारमें

परिभ्रमण करनेवाले जीवोंके नर नारक देव पशु वदनके भेदरूप जो पर्याय सो जीवकी व्यंजन पर्याय हैं। पुद्गलकी अति-स्थूल, स्थूल, सूक्ष्म आदि छः प्रकार व्यंजन पर्याय हैं। धर्म अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्योंकी शुद्ध स्वभावमई पर्याय ही होती हैं क्योंकि इनमें विकार भाव नहीं होते। इत्यादिक गुण पर्यायोंकरके सहित सर्व द्रव्योंके समूहको जो कोई एक कालमें नहीं देख सकता है उस संसारी जीवके परोक्ष दर्शन है प्रत्यक्ष दर्शन नहीं है। जब प्रत्यक्ष दर्शन नहीं है तब सर्वज्ञपना कैसे संभव है। ऐसा ही टीकाकार कहते हैं—जो कोई सकलको जाननेवाला ज्ञानी जीव होकर शीघ्र ही एक ही कालमें सर्व तीन लोक और तीन कालकी वस्तुओंको नहीं देख सकता है उसके उपमा-रहित ऐसी प्रत्यक्ष दृष्टि अर्थात् केवल दर्शन कैसे हो सकता है? और जब केवल दर्शन नहीं है तब उस जड़ बुद्धी आत्माके नित्य सर्वज्ञ-पना कैसे हो सकता है। अर्थात् नहीं हो सकता ॥

आगे व्यवहारनयको प्रगटपने कहते हैं:—

**लोयालोयं जाणइ, अप्पाणं णेव केवली भययं ।**

**जइ कोइ भणइ एवं, तस्स य किं वूसणं होइ ॥१६९॥**

**सामान्यार्थः—**केवली भगवान् लोकालोकको जानते हैं परन्तु अपनेको नहीं जानते हैं यदि कोई व्यवहारसे ऐसा भी कहे तो भी उसको दोष नहीं हो सकता है।

**विशेषार्थः—**सर्व प्रकार निर्मल जो केवलज्ञान उसरूप तीसरे नेत्रको धारनेवाले तथा मोक्षरूपी मनोज्ञ धीके जीवनके स्वामी श्री जिनेन्द्र भगवान् छः द्रव्योंसे भरे हुए लोकाकाशको तथा शुद्ध आकाश है जहाँ ऐसे अलोकाकाशको इस प्रकार सर्व लोक और अलो-कको जानते हैं तथा पराश्रित जो व्यवहार उस व्यवहारकी प्रधानतासे

रागादिरहित शुद्धात्म-स्वरूपको नहीं जानते हैं । इसप्रकार भी कदाचित् कोई जिनेन्द्रके तत्त्वविचारको जाननेवाला मुनि व्यवहारनयकी अपेक्षासे कहे तो उस मुनिको भी कोई दोष नहीं हो सकता है । भावार्थ—यह व्यवहारनय दूसरेके निमित्त व सहारेसे माने हुए स्वरूपको कहनेवाली है—लोकालोक सर्व ही शुद्धात्मस्वरूपसे भिन्न है । उनका ज्ञाता कहना सो व्यवहारनयका विषय है । तथा यह आत्मा अपने शुद्ध स्वरूपको जानता है यह विषय निश्चय नयका है क्योंकि निश्चय नय स्वाभित है । श्रीसमन्तभद्राचार्य्य स्वामीने कहा है । यह चर और अचर जगत प्रत्येक क्षणमें उत्पाद व्यय भ्रौव्यरूप है—यह लक्षण सर्वज्ञ द्वारा सिद्ध है, हे व्याख्यान करनेवालोंमें श्रेष्ठ तुम्हारा ऐसा ही वचन है । टीकाकार कहते हैं—तीर्थनाथ श्रीजिनेन्द्र इस सर्व लोकको जानते हैं तथा एक कर्मरहित अपने ही सुखमें लीन ऐसे अपने आत्माको नहीं जानते हैं ऐसा भी यदि कोई मुनि व्यवहारमार्गकी अपेक्षासे कहता है तो भी उस मुनिको दोष नहीं है ॥

अब वितर्ककरके कहते हैं कि यह जीव ज्ञानस्वरूप है:—

णाणं जीवस्वरूपं, तद्वा जाणेइ अप्पमं अप्पा ।

अप्पाणं णधि जाणदि, अप्पादो होदि विदिरित्तं ॥१७०॥

सामान्यार्थः—ज्ञान जीवका स्वरूप है इसलिये आत्मा निश्चयसे अपने आत्मस्वरूपको जानता है यदि ज्ञान अपने आत्माको नहीं जानता है तो ज्ञान आत्मासे अलग हो जायगा ।

विशेषार्थः—ज्ञान जीवका स्वरूप ही है । इसलिये ऐसे ज्ञानका धारि कोई भव्य आत्मा संहरहित, द्वैतरहित, अपने स्वभावमें लीन अत्यन्त अतिशय भावका स्वामी, मुक्तिरूपी श्रीका नाथ, तथा बाह्यचेष्टासे रहित ऐसे परमात्माको जानता है । यह निश्चयसे स्वभावका कथन

है। जो वितर्क है सो इससे विपरीत है। वही वितर्क विभावको कथन करनेवाला है। यह विभाववाद प्राथमिक शिष्यका अभिप्राय है। सो अभिप्राय किस प्रकारसे है सो कहते हैं—आत्मा पूर्वमें कहे हुए अपने आत्मस्वरूपको नहीं जानता है, केवल यह आत्मा अपने स्वरूपमें लीन हुआ रहता है। जैसे उष्ण स्वरूप अग्नि सो अपने उष्ण स्वरूपको क्या जानती है अर्थात् नहीं जानती है, उसीप्रकार ज्ञान और ज्ञेयके विकल्पोंसे रहित हो वह आत्मा अपने आत्मस्वरूपमें ही तिष्ठता है अपने ज्ञान स्वरूपको जानता नहीं है। ऐसा अभिप्राय प्राथमिक शिष्यका है उसको श्रीगुरु कहते हैं कि हे शिष्य ! क्या यह आत्मा अग्निके समान अचेतन है। ? जिस कारणसे यह आत्मा अपने ही ज्ञानस्वरूपको नहीं जानता है। यदि ऐसा मानेंगे तो यह आत्मा ज्ञानविना फरसीतर्हत्त देवदत्तके समान हो जायगा। जैसे फरसीविना देवदत्त फरसीद्वारा होनेवाली क्रियाको न करेगा क्योंकि वह फरसी देवदत्तके स्वरूपसे भिन्न है। इसप्रकार आत्मा भी ज्ञानविना जाननेकी क्रियाको न करेगा। इस कारण आत्मा ज्ञानसे भिन्न नहीं है। आत्मा और ज्ञानका सम्भाव संबंध है, संयोग संबंध नहीं है। स्वभावके कथन करनेवालोंको यह बात नहीं मान्य है कि यह आत्मा ज्ञानसे अलग है। ऐसा ही श्रीगुणभद्रस्वामीने कहा है—ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावाऽनातिरच्युतिः। तस्मादच्युतिमाकाशश्च भावयेत् ज्ञानभावनो॥ अर्थ—यह आत्मा ज्ञानस्वभाव है। आत्मा अपने स्वभावसे कभी गिरता नहीं है। इसलिये इस आत्माको स्वभावसे अपतित इच्छा करता हुआ ही जो प्राणी है उसे वह आत्माकी ज्ञान भावनाका भावना योग्य है॥ टीकाकार कहते हैं कि यह ज्ञान शुद्ध जीवका स्वरूप है। इसी ही ज्ञानसे यह आत्मा अपने एक आत्माको जानता है। वह ज्ञान प्रकटपने अपनी स्वाभाविक जग





**सामान्यार्थ—**केवली भगवानके जानना देखना इच्छापूर्वक नहीं होता है। इसी कारणसे केवल ज्ञानी हैं और इसीसे उनको बन्धाहित कहा गया है ॥

**विशेषार्थ—**भगवान अर्हत परमेष्ठी आदि सहित और अंतरहित अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाववान हैं। शुद्ध सद्भूत व्यवहारनयकरके केवल ज्ञान आदि अपने शुद्ध गुणोंके आधाररूप हैं, इस हेतुसे विना परिश्रमके सर्व जगतको जानते देखते हैं तो भी मनकी प्रवृत्तिके विना ईहापूर्वक ज्ञानका वर्तन उन केवली परम भट्टारकके नहीं होता है। इसीकारण वे भगवान केवल ज्ञानी इस नामसे प्रसिद्ध हैं तथा इसीलिये वे भगवान कर्मके बंधसे रहित हैं। भावार्थ—इच्छा होनेहीसे राग सिद्ध होता है और राग ही बंधका कारण है। प्रभुके राग न होनेसे बंध नहीं होता, केवल ईर्यापथ आस्रव योग-परिस्पन्दसे होता है परन्तु कपाय विना ठहरता नहीं है ॥ श्रीप्रवचनसारमें ऐसा ही कहा है—उन पदार्थोंके स्वरूप आप न तो परिणमन करता है न उन्हें ग्रहण करता है न अन-रूप आप उत्पन्न होता है केवलमात्र जानता है, इसीसे ही आत्मा अवंधक है ॥ टीकाकार कहते हैं कि श्री जिनेन्द्रदेव सर्व देवोंमें श्रेष्ठ देव है। यह उनके स्वभावकी महिमा है जिससे वे तीन लोकरूपी भवनके भीतरके सर्व पदार्थोंको जानते और देखते हैं। मोहका प्रभुके सर्वथा अभाव है इसलिए अपने आत्मा सिवाय अन्य किसी भी पर पदार्थको ग्रहण नहीं करते हैं। वे भगवान नित्य अपनी ज्ञानन्यातिसे कर्मरूपी मलके समूहको नष्ट करनेवाले हैं तथा सर्व तीन लोकके एक साक्षीभूत हैं अर्थात् मात्र दर्शक हैं उनसे कोई सम्बन्ध नहीं है ॥

आगे कहते हैं कि ज्ञानीके बंधका अभाव है:-

**परिणामपुण्यवयणं, जीवस्स य बंधकारणं होई ।**

**परिणामरहियवयणं, तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो॥१७३॥**

इहापुर्व्वं वयणं, जीवस्स य बंधकारणं होई ।

ईहारहियं वयणं, तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ॥१७४॥

सामान्यार्थ—मनके परिणमनपूर्वक जो वचन जीवके निकलते हैं वे बंधके कारण होते हैं परन्तु जो वचन मनकी परिणतिके बिना निकलते हैं वे बंधके कारण नहीं हैं । इसीसे सम्यग्ज्ञानीके बंध नहीं होता । जो वचन इच्छापूर्वक जीवके होवेंगे वे वचन बंधके कारण होवेंगे परन्तु जो बांछारहित वचन हैं सो बंधके कारण नहीं हैं । इसीलिये सम्यग्ज्ञानी केवल ज्ञानीके बंध नहीं होगा ।

विशेषार्थ—सम्यग्ज्ञानी केवलज्ञानी जीव कहीं कभी भी अपनी बुद्धिपूर्वक वचन नहीं कहता है अर्थात् उसके मनके परिणाम नहीं चलते क्योंकि सिद्धान्तका वचन है कि 'अमनस्काः केवलिनः' अर्थात् केवली भगवान् मन रहित हैं । भावार्थ केवलीके संकल्प विकल्पमई मनका अभाव है । इस कारणसे जीवके वे ही वचन बंधके कारण हैं जो मनकी परिणतिपूर्वक कहे गए हैं । केवली भगवान्के मनपरिणति पूर्वक वचनोंका प्रगटपना नहीं होता । इच्छापूर्वक वचन ही जीवको बंधके कारण होते हैं । केवली महाराजके मुसकमलसे प्रगट जो दिव्य ध्वनि सो भगवान्की इच्छाबिना ही प्रगट होती है । भावार्थ—उसकी प्रगटतामें भव्य जीवोंके पुण्यका उदय ही कारण है । वह वाणी समस्त सभामें विराजित मनुष्योंके हृदय कमलोंको आनन्द देनेवाली है । इसलिये जो सम्यग्ज्ञानी केवलज्ञानी है उनके बंधका अभाव है ॥ टीकाकार कहते हैं—श्रीकेवली भगवान्के इच्छा पूर्वक वचनोंकी रचना नहीं होती है यह इनकी साक्षात् महिमा प्रगट है । प्रभु समस्त जगतके एक मात्र रक्षक हैं । जब बांछाका कारण मोह प्रभुके नहीं है तब किसप्रकारसे भगवान्के द्रव्य और भाव बंध होवेंगे क्योंकि रागद्वेषादिका जाल मोहके बिना निश्चयसे होता ही

नहीं है ॥ चार पातिया कमोड़ नाशमें केवली भगवान तीन ठोंड़ों मुक्त महादेव हैं अपने सम्पत्तानमें शिखरमान हैं । सम्पूर्ण ठोड़ सम्बन्धी वस्तुओंके समूहोंके शाता हैं । ऐसे श्री केवली भगवान जिनंदमें न तो कोई बंध है और न कोई मोक्ष है और न यहाँ मूर्ख है न कर्म और कर्मफलमें धनना है ॥ इन केवली जिनंदमें धर्म और कर्मका प्रयोजन नहीं है । रागके अभावसे अपनी अतुल्य मोहमाको लिये हुए वीतराग स्वरूप हैं तथा अपने आत्मीय गुणमें लीन हैं सिद्धिरूपी श्रीके स्वामी हैं तथा अपनी ज्ञानज्योतिसे समस्त भुवनके पदार्थोंको चारों ओरसे प्रगट करनेवाले हैं ।

आगे केवली भगवानक अमनस्क हैं इस बातको प्रकाश करते हैं:-

ठाणणिसेजविहारा, इहापुब्बं ण होइं केवल्लिणो ।  
तम्हा ण होइ बंधो, साकटं मोहणायस्स ॥ १७५ ॥

सामान्यार्थ—तिष्ठना, बैठना तथा विहार केवली भगवानके इच्छापूर्वक नहीं होते हैं इसीलिये उनके बंध नहीं होता है । मोहनीय कर्मसहित जीवके इन्द्रियोंके प्रयोजन सहित होनेहिसे बंध होता है ।

विशेषार्थ—परम अरहंतपनेकी लक्ष्मीसे शोभायमान परमवीतराग सर्वज्ञ केवली भगवानके कोई भी वर्तन इच्छापूर्वक नहीं होता है । इसीलिये वे भगवान मनकी प्रवृत्तिके अभाव होनेपर 'अमनस्काः केवल्लिनः' इस सिद्धान्तके अनुसार न तो वांछापूर्वक तिष्ठते हैं, न बैठते हैं और न विहार आदिक करते हैं । इसकारणसे उस तीर्थंकर परमदेवके द्रव्य और भावमें कोई बंध नहीं होता है अर्थात् चारों बंध नहीं होते हैं । आगममें जो योगकी प्रवृत्तिके निमित्तसे प्रकृति और प्रदेशबंध कहा है सो उपचारमात्र है । जो मोहनीय कर्मके विलासमें लवलीन हैं उन्हींके यह बंध होता है । किसलिये होता है, उसका कारण यही है कि उनके

इन्द्रियोंके विषयोंका प्रयोजन है । अर्थात् मोहनीय कर्मके वशमें पड़ेहुए इन्द्रियोंके विषयोंके अभिप्रायको धारनेवाले संसारी जीवोंके ही यह बंध होता है । ऐसा ही प्रवचनसारमें कहा है—उड़ा होना, बैठना, विहार करना व धर्मोपदेश होना यह अरहत अवस्थाके कालमें नियमसे ही होता है, जैसे स्त्रियोंके मायाचार नियमसे होता है । शीकाकार कहते हैं—जिसके प्रगट होते ही इन्द्रोंके आसन कंपायमान होते हैं ऐसे केवल ज्ञानके उदय होनेपर केवली भगवानका सर्व वर्तन मनकी प्रवृत्तिते रहित होता है । कैसे हैं प्रभू, मुनिरूपी सुन्दर ललनाके मुरकमलके प्रफुल्लितकरनेको सूर्यके समान हैं तथा सत्य धर्मकी रक्षाकेलिये मणिसमान हैं । पुराणपुरुषके मनका अभाव है । यह सर्व भगवानके उत्कृष्ट अगम्य केवल ज्ञानकी महिमा है । कैसे हैं भगवान, जो पापरूपी बर्नोके भस्म करनेकेलिये आगिके समान हैं ॥

आगे शुद्धजीवको अपनी स्वभावमई गतिकी प्राप्ति करनेके उपायका संक्षेप कथन करें हैं—

आउस्स रायेण पुणो, णिण्णासो होद सेसपयडीणं।  
पच्छा पावइ सिग्घं, लोयगं समयमेत्तेण ॥ १७६ ॥

सामान्यार्थः—आयु कर्मके नाश होते ही शेष कर्मोंकी सर्व प्रवृत्तियोंका नाश हो जाता है फिर यह जड़ शीघ्र ही एक समयमात्रमें जाकर लोकेके अग्रभागमें विराजता है ॥

विशेषार्थः—जब केवली भगवान अपने स्वभावके भीतर जो ज्ञिया उसमें परिणमनरूप होते हैं तब उनके परम शुद्ध ध्यान अर्थात् चौथे शुद्धध्यानसे आयुकर्मके क्षय होते २ ही वेदनीय, नाम और मोक्ष ऐसे तीन कर्मोंकी शेष प्रवृत्तियोंका नाश हो जाता है । कैसे हैं केवली भगवान, जो उस समय पृथ्वी आदि छः कायके जीवोंके जगत्से अलग हो  
नि. छ. १४

जाते हैं तथा सिद्ध क्षेत्रों में सम्मुख होते हैं। तथा केमा में वह शुद्ध ध्यान, जो ध्यान, ध्येय, ध्याता और ध्यान का कल इत्यादि प्रयोजनों के विह्वलताओं से शून्य है तथा अपने आत्मीय स्वरूप में निश्चल स्थितिस्थ है। सारे क्रमों के नाश होने पर केवल ज्ञानी भगवान् शुद्ध निश्चयनयन के अपने निजस्वरूप की स्वाभाविक महिमा में डीन हैं तभी व्यवहार नयन के वे भगवान् अंश में अर्थात् एक समय में लोके के अप्रमाण तनु-वात उत्थन में गा विराजते हैं। यह गति स्वभाव में ही होती है। जहाँ तक धर्म द्रव्य है यहाँ तक गमन होता है ॥ टीकाकार कहते हैं—यद् वायके कर्मों में कैसे हुए प्राणियों का लक्षणसे सिद्धों का लक्षण अलग है, इसलिये वे सिद्ध परमेश्वर ऊर्ध्व गमन करते हैं और सदाशिव (कल्याण) का मोक्षस्वरूप में निश्चल तिष्ठते हैं ॥ वंश के छेद हो जाने से श्री सिद्ध भगवान् अपनी अनुल महिमा में विराजमान रहते हैं उस समय देव और विशाख प्रत्यक्षरूप से उनकी स्तुति नहीं कर सकते। वे देवों के देव प्रसिद्ध सिद्ध भगवान् व्यवहारनयन लोके के अप्रमाण में विराजते हैं परन्तु निश्चयनयन से अपने आत्मस्वरूप में ही अविचल रूप से तिष्ठते हैं ॥ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पांच प्रकार संसार से मुक्त पंचमगति धारी तथा पांच प्रकार संसार से छुड़ाने के कारण ऐसे सिद्धों को मैं पांच प्रकार संसार से मुक्ति पाने के लिये वंदना करता हूँ ॥

आगे कारणतत्त्व का स्वरूप कहते हैं:—

जाइजरमरणरहियं, परमं कम्मद्वज्जियं सुद्धं ।  
णाणाइचउसहावं, अक्खयमविणासमच्छेयं ॥ १७७ ॥

सामान्यार्थः—जन्म, जरा, मरण से रहित, उत्कृष्ट, अष्ट कर्मों से दूरवर्ती, शुद्ध, ज्ञान दर्शन सुख वीर्य चार स्वभावधारी, क्षयरहित, विनाशविना तथा छेदरहित, जो तत्त्व है वही कारण परमात्मा है ॥

**विशेषार्थः—**स्वभावसे ही जिसके संसारमें भ्रमणका अभाव है इस-  
लिये वह तत्त्व जन्म जरा मरणसे रहित है । अपने उत्कृष्ट पारिणामिक  
भावको रसनेके कारण परमस्वभावमें होनेसे परम (महान) है, तीनों का-  
लोंमें उपाधिरहित है स्वभाव जिसका ऐसा होनेसे आठों कर्मोंसे रहित है तथा  
द्रव्यकर्म और भावकर्मोंसे रहित है इस कारण शुद्ध है । स्वाभाविक ज्ञान,  
स्वाभाविक दर्शन, स्वाभाविक चारित्र तथा स्वाभाविक चैतन्य शक्तिको धारण  
करनेके कारण वह तत्त्व ज्ञानादि चार स्वभावरूप है ॥ आदि सहित और  
और अंत सहित मूर्तीक इन्द्रियमें विजातीय विभाव व्यंजन पर्याय  
अर्थात् नर नारकादि पर्यायोंके अभावसे वह तत्त्व क्षयरहित है, शुभ  
अशुभ गतिर्योंमें प्राप्त होनेकेलिये कारणभूत जो पुण्य और पापकर्म  
इन दोनोंके अभावसे वह तत्त्व विनाशरहित है, तथा बंध,  
बंध और छेदने योग्य मूर्तिके अभावसे वह तत्त्व अच्छेय है । ऐसा वह  
कारण तत्त्व अर्थात् परमात्मा है ॥ टीकाकार कहते हैं:—हे भव्य जीव !  
तू जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रगट जो दिव्य सुखरूपी अमृत उसको ही बार-  
बार भज । भावार्थ—परम तत्त्वका मनन कर । ऐसा है यह अमृतमें तत्त्व  
जो अच्छे है, असंख्य ज्ञानमें है, द्वैततासे रहित है, प्रिय है, तथा  
समस्त पापरूपी क्लेशोंके समूहोंको जलानेकेलिये अधिक समान है ।  
इसीसे तुझे परम निर्मल केवल ज्ञान का लाभ होवेगा ॥

फिर भी निरुपाधि अर्थात् उपाधिरहित है स्वरूप जिसका ऐसे लक्ष-  
णोंके धारी परमात्म तत्त्वका स्वरूप कहते हैं:—

**अद्याद्याहमजिन्दिय,—मणोवमं पुण्णपावणिम्मुक्कं ।**

**पुणरागमणविरद्वियं, जिच्चं अचलं अणाटम्बं॥१७८॥**

**सामान्यार्थः—**वह परमात्म तत्त्व अव्याबाध अर्थात् बाधरहित  
है, अतीन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियोंकी जहाँ गम्य नहीं है, अनुपम अर्थात्

जाते हैं तथा मित्र श्रेष्ठके सम्मुख होते हैं । तथा ऐसा है वह शुद्धपान, जो ध्यान, ध्येय, ध्याता और ध्यानका फल इत्यादि प्रयोजनोंके दिक्-  
 म्योंसे शून्य है तथा अपने आत्मीक स्वरूपमें निश्चल स्थितिरूप है ।  
 सर्व क्रमोंके नाश होनेपर केवल ज्ञानी भगवान् शुद्ध निश्चयनयकरके  
 अपने निजस्वरूपकी स्वाभाविक महिमामें लीन हैं तोनी व्यवहार नयक-  
 रके वे भगवान् अर्थ ज्ञानमें अर्थात् एक समयमें लोकके अग्रभाग तनु-  
 वात प्रलयमें जा विराजते हैं । यह गति स्वभावसे ही होती है । जहांतक  
 धर्म द्रव्य है वहांतक गमन होता है ॥ टीकाकार कहते हैं—यद् कार्यके  
 क्रममें फलें हुए प्राणियोंके लक्षणसे सिद्धोंका लक्षण जलम है, इसलिये  
 वे सिद्ध परमेश्वर ऊर्ध्व गमन करते हैं और सदाशिव (कम्याण) स्व  
 मोक्षस्वरूपमें निश्चल तिष्ठते हैं ॥ बंधके छेद होजानेसे श्री मित्र भगवान्  
 अपनी अतुल महिमामें विराजमान रहते हैं उससमय देव और विद्यावर  
 प्रत्यक्षरूपसे उनकी स्तुति नहीं करसकते । वे देवोंके देव प्रसिद्ध सिद्ध  
 भगवान् व्यवहारनयसे लोकके अग्रभागमें विराजते हैं परन्तु निश्चय  
 नयसे अपने आत्मस्वरूपमें ही अचिह्न रूपसे तिष्ठते हैं ॥ द्रव्य, क्षेत्र,  
 फल, भव, भावरूप पांच प्रकार संसारमें मुक्त वचनगति धारी तथा पांच  
 प्रकार संसारसे छुड़ानेके कारण ऐसे सिद्धोको में पांच प्रकार संसारसे  
 मुक्ति पानेकेलिये वंदना करता हूं ॥

आगे कारणतत्त्वका स्वरूप कहते हैं:—

जाइजरमरणरहियं, परमं कम्मदृवजियं सुद्धं ।  
 णाणाइचउसहावं, अक्खयमविणासमच्छेयं ॥ १७७ ॥

सामान्यार्थः—जन्म, जरा, मरणसे रहित, उत्कृष्ट, अष्ट क्रमोंसे  
 दूरवर्ती, शुद्ध, ज्ञान दर्शन सुख वीर्य चार स्वभावधारी, क्षयरहित,  
 विनाशविना तथा छेदरहित, जो तत्त्व है वही कारण परमात्मा है ॥







कहा है, कि जहाँ ज्वर जन्म तथा जराकी वेदना नहीं होती, न जहाँ मरण है, न वहाँसे आना है, न कहीं जाना है, ऐसा तत्त्व सो गुणोंमें श्रेष्ठ ऐसे श्रीगुरुके चरणकमलोंकी सेवाके प्रसादसे हम लोगोंको भी अपने अत्यन्त निर्मल चित्तके भीतर प्राप्त होता है । टीकाकार कहते हैं:—जिस विकल्परहित, तथा अनुपम गुणोंसे अलंकृत ब्रह्मस्वरूपमें इन्द्रियोंका नानाप्रकारका भयानकरूपसे वर्तना कुछ भी नहीं है, न जहाँ संसारके मूल कारण ऐसे अन्य सासारिक गुणोंके समूह हैं ऐसे ही परमात्म स्वरूपमें आत्मीक सुरास्वरूप अविनाशी एकरूप ऐसा जो निर्वाण सो प्रकाश मान होता है ॥

आगे सर्व कर्मोंसे रहित, शुभ, अशुभ तथा शुद्ध ध्यान और ध्येय त्यागि विकल्पोसे मुक्त जो परम तत्त्व उसके स्वरूपको कहते हैं—

गवि कम्मं णोकम्मं, णवि चिंता णेव अहरुद्धाणि ।

गवि धम्ममुक्कशाणे, तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥१८१॥

सामान्यार्थः—न तो जहाँ द्रव्य कर्म हैं, न जहाँ नो कर्म हैं, न चिंता है, न आर्च और रात्रिध्यान हैं तथा वहाँ धर्म और शुद्धध्यान भी नहीं है । ऐसी अवस्थामें ही निर्वाण होता है ॥

विशेषार्थः—वह परम तत्त्व सदा निरंजन अर्थात् कर्मरूपी अंजनसे रहित है इस कारण उसके आठों ही जातिके द्रव्य कर्म नहीं हैं, तानिकालोंमें उपाधिरहित स्वरूपका धारो है इससे उसके पार्श्वों नो कर्म नहीं है, मनारहित है इस कारण उसके कोई चिंता नहीं है, औद्ययिक आदि विभाव भावोंका जहाँ अभाव है इससे वहाँ आर्त और रात्रिध्यान नहीं है । धर्म और शुद्धध्यान करनेके योग्य अन्तिम औद्ययिक शरीरक न होनेसे—  
—अध्यान है, न शुद्धध्यान है । ऐसे ही परम तत्त्वमें

निर्वाणका महा आनंद वास करता है। टीकाकार कहते हैं—सर्व कर्मोंके अन्तर्गत समूहका जहां नाश हो गया है ऐसे निर्वाणके स्वरूपमें कोई भी कर्म नहीं है, न वहां चारों ध्यानमेंसे कोई ध्यान है। जब परब्रह्मस्वरूप ज्ञानका पुंज सिद्धरूप हो जाता है तब कोई ऐसी मुक्तिकी अवस्था हो जाती है जो वचन और मनसे दूर है अर्थात् न तो जिसे कह सकते और न मनसे विचार सकते हैं ॥

अगे कहते हैं कि श्री सिद्ध भगवानके स्वभाव गुण होते हैं—

विज्जदि केवलणाणं, केवलसाकरं च केवलं पिरियं ।  
केवलदिट्ठि अमुत्तं, अत्थित्तं सप्पदेसत्तं ॥ १८२ ॥

सामान्यार्थः—उस सिद्ध भगवानके केवल ज्ञान, केवल गुण, केवल वीर्य, केवल दर्शन, अमूर्तीकरण, आस्तित्वभाव तथा सर्वदर्शित्व अर्थात् अमरत्वात् सर्वदर्शित्व होता है ॥

विशेषार्थः - सम्पूर्णपने अंतर्गत सम्मुख होकर अपने ही आभास में आश्रय निगम ऐसे निश्चय परम शुद्धिमानके कदमें निगम ज्ञानात्मकतादि जात कर्म नाश हो जाने हैं उस भगवान सिद्ध परमेश्वरके केवल ज्ञान केवलदर्शन केवलवीर्य केवलगुण अमूर्तता अस्तित्व और सर्वदर्शन आदि सर्व स्वाभाविक गुण होते हैं। टीकाकार कहते हैं—कर्मकाट छेड़ जानने श्री भगवान अर्थात् परम शुद्ध होकर सर्वज्ञ सिद्ध हो जाते हैं। ऐसे सिद्ध भगवानमें निगम य केवल ज्ञान केवलदर्शन काव है जो साक्षात् सर्व परमेश्वर ज्ञानने ज्ञानने के लिये उन्हीं सिद्ध परमेश्वरों के अस्तित्व तथा अन्तर्गत गुण होता है ज्ञानने वीर्य आदि जलक गुणकारी भाग्यशक्ति समुद्र जल मुक्त कर्तव्य नि य वता है ॥

आगे सिद्ध असिद्ध जीवमें एकता दिखाने है —

णिष्वाणमेव सिद्धा, सिद्धा णिष्वाणमिदि समुद्धिहा ।  
कम्मविमुक्को अप्पा, गच्छइ लोपगगपज्जंतं ॥ १८३ ॥

सामान्यार्थः—निर्वाण ही सिद्ध है तथा सिद्ध जीव ही निर्वाण है ऐसा कहा गया है । जो आत्मा कर्मोंमें गति होता है वह लोकके जन्मभोग्यक जाता है ॥

विशेषार्थः—निर्वाणशब्दके यहाँ दो अर्थ हैं । सिद्ध भगवान् व्यव-  
हारमयसे सिद्ध क्षेत्रमें तिष्ठते हैं परन्तु निश्चयसे भगवान् अपने स्वरूपमें  
ही रहते हैं । इस कारण जो निर्वाणरूप है वही सिद्ध है और जो सिद्ध है  
वह निर्वाणरूप है । इस कर्मसे निर्वाण शब्द और सिद्ध शब्दकी एकता  
सार्थक हुई । तथा जो कोई अन्यन्त निकट मध्य जीव है सो परम  
शुद्धी कृपासे प्राप्त जो परमभाव उसकी चार २ भावना करनेसे सर्व कर्म  
कलककी कीचटसे मुक्त होकर परमात्मा होता हुआ लोकके अमरपर्यता  
बला जाता है ॥ और इसप्रकार निर्वाण प्राप्त कर सिद्ध हो जाता है  
टीकाकार कहते हैं कि जिनमतमें मुक्ति और मुक्तजीव में कोई भी  
भेद नहीं प्रगट है, न कोई भेद युक्तिसे मात्तम होता है और न आगमसे ।  
तथा यही सत्ताही मध्यजीव जब सर्व कर्मोंका नाश कर देगा तब परम  
मुक्तिरूपी सुन्दर कामनीका मोहनेवाला हो जावेगा ॥

आगे करते हैं कि सिद्ध क्षेत्रके ऊपर जीव और पुद्गलोंका गमन  
नहीं होताः—

जीवाण पुग्गलाणं, गमणं जाणंहि जाव धम्मत्थं ।  
धम्मत्थिकायभावे, तत्तो परदो ण गच्छंति ॥ १८४ ॥

सामान्यार्थः—जहातक धर्मास्तिकाय द्रव्य है वहातक जीव और

पुद्गलोंका गमन होता है ऐसा मैं जानता हूँ । धर्मास्तिकायके अभावसे उसके ऊपर कोई नहीं जा सकता है ॥

**विशेषार्थः—**जीवोंकी स्वाभाविक क्रिया सिद्ध लोकमें गमन है तथा विभावक्रिया छः कायके प्राणियोंके क्रमकरके सहित है अर्थात् छः कायोंमें भ्रमण करना है । पुद्गलोंमें स्वभावसे गति करनेवाला एक परमाणु होता है तथा दो परमाणुओंके स्कंध इनको आदि ले जो पुद्गलके स्कंध हैं वे विभाव क्रियावान हैं, इसकारण इन सर्वकी गमनक्रिया त्रिलोक शिखरके ऊपर नहीं है । क्योंकि आगे गमनका कारण जो धर्मास्तिकाय सो नहीं है, जैसे जलके अभाव में मछली की चलनरूप क्रिया नहीं हो सकती ॥ जहांतक धर्मास्तिकाय है उसी क्षेत्रतक ही चेतन व अचेतन जड़ पुद्गल गमन करेंगे इसके आगे नहीं । टीकाकार कहते हैं कि जीव और पुद्गल दोनोंकी गतिक्रिया तीन लोकके ऊपर नहीं हो सकती है क्योंकि आगे गमनमें सहायक जो धर्मद्वय उसका अभाव हो गया है ॥

आगे इस शास्त्रकी आदिमें जो नियम शब्द कहा गया है उसके फलको संक्षेपमें कहंत हैः—

**णियमं णियमस्स फलं, णिद्धिद्वं पवयणस्स भत्तीए ।**

**पुब्बावरयविरोहो, अवणीय पूरयंतु समयणहा ॥ १८५ ॥**

**सामान्यार्थः—**नियम और नियमका फल प्रवचनकी भाक्तिकरके कहे गए हैं । यदि कहीं पूर्वापर विरोध भासे तो आगमके ज्ञाता उसको दूरकर उसकी पूर्ति करें ॥

**विशेषार्थः—**शुद्ध रत्नत्रयका ध्याख्यान जो किया गया उसके द्वारा नियम शब्दको समझाया है । तथा इस नियमका फल परम निर्वाण को भी कहा गया । यह सर्व कथन कविपनेके अभिमानसे नहीं किया ।



वचनोंको सुनकर जिनेश्वर भगवान् कथित शुद्ध रत्नत्रयके मार्गमें हैं मध्य ! अपनी अरुचि मतकर, किन्तु अपनी भक्ति ही करनी योग्य है ॥ टीकाकार कहते हैं:-जहां देहरूपी युद्धस्थल जलरूपी युद्धसे अति भयानक है, दुःसोंके समूहरूपी हिंसक पशु जहां विचर रहे हैं, समस्त जगतको नाश करनेवाली भयानक कालरूपी अग्नि जहां जल रही है, युद्धरूपी जल जहां मूरा गया है, नानाप्रकारकी सौटी नय तिनकरके भयानक अंधकार जहां फैल रहा है, ऐसे संसाररूप संकटमय जंगलमें मिथ्या-दृष्टी जीवोंकेलिये एक जैन दर्शन ही शरणरूप है अर्थात् रक्ष करनेवाला है । जिस प्रभुका ज्ञानरूपी शरीर लोक अलोकको अपनेमें रखनेवाला है, व जिसने गृहस्थास्थामें नाकसे संस्र वजाकर समस्त भुवनको कम्पायमान किया है अथवा दिव्यध्वनिसे तीनों लोकको क्षोभित किया है ऐं श्री नेमिनाथ तीर्थंकरकी स्तुति करनेकेलिये तीन भुवनमें ऐसे को देव या मनुष्य हैं जो समर्थ हो सकते हैं अर्थात् कोई नहीं है, तभी इस जगतमें उनकी स्तुति किये जानेका कारण मात्र एक उनकेविषी परम उन्माहरूपमई भक्ति ही है । मैं ऐसा मानता हूं ।

आगे शास्त्रका नाम कहते हैं, शास्त्रके कथनको संकोचते हैं:-

नियमावणाणिमित्तं, मत्तु कदं नियमसारणाममुदं ।

बुद्धा निणोवदंसं, पुब्बावरदोसणिम्मज्जं ॥ १८७ ॥

सामान्यार्थः:-नेने यत्त नियमसार धन्य करने आत्मनायनके निमित्त ही श्री जिनन्द्रके पुंसांय दोष गतिग उपदेशको समझाएके किया है ॥

विशेषार्थः:-दशमर अनाथ्य श्री बुद्धशुनाथ्य ज्ञाने नलि किये हव धनको पुंसांयके जल्यन्त हुनाई अपनेको मानने हुए कहे





ADARSH CHAND BEASPOO. JAINIA  
JAIN LIBRARY  
BIKANER, RAJPUTANA.

